समसामयिक हिन्दी साहित्य

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण

सम्पादन समिति

डॉ० हरिवंशराय 'बच्चन'

डॉ० नगेन्द्र

भारतभूषण अग्रवाल

साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली



Samasamayik Hindi Sahitya (Contemporary Hindi Literature)
Edited by Harivansharai Bachchan Nagendra and Bharat Bhushan Agarwal Sahitya Akademi New Delhi Price Rs 10/ (1967)

Sahitya Akademi, New Delhi

प्राप्ति स्थान
साहित्य अकादेमी,
रवीन्द्र भवन, नई दिल्ली–१

मूल्य रु० १० ००

प्रादेशिक कार्यालय
(१) रवीन्द्र सरोवर स्टेडियम,
ब्लाक V–बी०, कलकत्ता–२६
(२) १५, कथेड्रल गार्डन्स रोड,
मद्रास–३४

मुद्रक
हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड दिल्ली–६

वक्तव्य

हिन्दी पाठकों के सम्मुख यह समीक्षात्मक आकलन प्रस्तुत करते हुए हमें संतोष का अनुभव हो रहा है।

सन १९४७ में स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत के अभ्युदय से अर्वाचीन भारतीय इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। शिक्षा, उद्योग, समाज कल्याण आदि आदि क्षेत्रों के साथ साथ सांस्कृतिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में भी भारत ने इस अवधि में नवीन दृष्टि और सृजन क्षमता का परिचय दिया है। स्वभावतः साहित्य अकादेमी के हिन्दी परामर्श मण्डल ने अनुभव किया कि इस अवधि की साहित्यिक प्रगति का आकलन और मूल्यांकन किया जाय। इसी उद्देश्य से मण्डल ने सन १९६० में एक सम्पादन समिति का गठन किया और उसे १९४७ से १९६० के मध्यवर्ती हिन्दी साहित्य का समीक्षात्मक सर्वेक्षण प्रस्तुत करने का भार सौंपा।

सम्पादन समिति इस विषय में प्रारम्भ से ही एकमत थी कि ग्रन्थ को विभिन्न विधाओं के अनुसार पृथक्-पृथक् अध्यायों में विभक्त किया जाय और प्रत्येक अध्याय का आलेख सम्बन्धित विधा के किसी जागरूक और अधिकारी विद्वान से लिखाया जाय। समिति की यह भी मान्यता थी कि बाह्य रूपरेखा की समरूपता निर्धारित कर देने के बाद विद्वानों की मान्यताओं अथवा उनकी अभिव्यक्ति पर किसी प्रकार का कोई बन्धन न रहे। इस प्रकार यह समीक्षात्मक परिसंवाद तैयार हो सका है जिसमें प्रत्येक विद्वान् ने अपने स्वतन्त्र मत की अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। जिन विद्वानों ने इस महत् कार्य में योगदान करके हमें कृतार्थ किया है उनके प्रति हम हृदय से आभारी हैं। कहना न होगा कि ग्रन्थ में समाविष्ट विचार सम्बन्धित विद्वानों के ही हैं, सम्पादन समिति ने तो संयोजक का ही कार्य किया है ताकि प्रत्येक विधा के साथ न्याय हो सके और समस्त अध्यायों के बीच एकसूत्रता बनी रहे। हम यह अंकित करते हुए हैं कि समिति के तत्सम्बन्धी सुझावों पर विद्वान् लेखकों ने सम्यक् ध्यान देकर हमारे आयोजन को फलीभूत किया है।

हमारा विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की नवीनतम गतिविधि का परिचय देने में सहायक होगा।

विनीत,

हरिवंशराय 'बच्चन'

नगेन्द्र

भारतभूषण अग्रवाल

सदस्य, सम्पादन समिति

क्रम

"बीसवी शताब्दी सभवत मानव इतिहास की सर्वाधिक अशान्तिमय शताब्दी है। आज जो व्यक्ति सुख शाति चाहता है उसने अपना जन्म धारण करने के लिए बहुत बुरा समय चुना है।" टाटस्की के इस विनाश और भय म मिश्रित वातावरण मे ही गत पन्द्रह सोलह वर्ष से हिन्दी साहित्य का सर्जन हुआ है। स्वय हिन्दी साहित्य के सुदीर्घ जीवन मे यह एक असाधारण घटना है कि उसने यह वातावरण भली भाति आत्मसात किया है और सर्वप्रथम अपने को विश्वव्यापी ऐतिहासिक शक्तियो के निकट पाया है। तेजी से बदलती हुई परिस्थितियो ने हिन्दी के कवियो और लेखको को इस बात के लिए बाध्य किया कि वे इस नवोत्पन्न ऐतिहासिक प्रक्रिया की चुनौती स्वीकार करें। यदि वे ऐसा न करते तो आज का मानव इतिहास उन्हे मुर्दा समझकर आगे बढ जाता। मुर्दो की हिन्दी समाज म कमी नही है। तो भी ऐसे कुछ साहित्यकारो का अस्तित्व अवश्य है जिन्होने आज के विपल वातावरण मे भी मानवात्मा की रक्षा करने और युग के प्रश्नो को वाणी प्रदान करने की पुनीत चेष्टा की है। यह कार्य सरल नही है। क्योकि आज का मानव-समाज इतने अधिक दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारादर्शगत समुदायो म बँटा हुआ है कि 'मानवात्मा' की बात करना उपहासास्पद सा प्रतीत होता है। लेकिन इन विभिन्नताओ एव विविधताओ के रहते हुए भी, पश्चिम यूरोपीय, अमरीकी, रूसी भारतीय अथवा अन्य किन्ही पूर्णविकसित, अर्द्धविकसित या अविकसित सामाजिक व्यवस्थाओ के रहते हुए भी, एक बात जो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है वह यह है कि आज की दुनिया एक इकाई की स्थिति की ओर तेजी से बढ गई है और बढती जा रही है एक विश्व मानव का जन्म होता जा रहा है। राष्ट्रीय गर्व मे पूर्ण पुरानी सडी गली भावनाएँ अब दब रही हैं। दुनिया मे विभिन्नता और विविधता तो रहेगी ही, क्योकि मानव समाज की यही विशेषता है जो उसे पशु समाज से अलग करती है। दुनिया एक होने का यह आशय नही है कि ससार भर की कोई एक केन्द्रीय राज्य व्यवस्था स्थापित होगी। उसका मतलब मात्र इतना ही है कि विविधता के बीच एकता उत्पन्न होगी। हम [illegible]

विविधता के बीच एकता का आशय समझना कठिन नहीं है। इसके अतिरिक्त आज का इतिहास कुछ थोड़े से आदर्श व्यक्तियों या वीरों का इतिहास भी नहीं है। आज का युग नामहीन विहीन जन चेतना जनमन, 'ऐनानीमस मासेज' का युग है। इतना ही नहीं आज के 'टक्नीकल युग, पुश बटनों', 'लीवरो', 'जट' हवाई जहाजों, योजनाओं आदि के युग में, मानव मन के पुनर्गठन, 'ह्यूमन इंजीनियरिंग' न संसार के विचारकों और चिन्तकों के सामने ऐसी अनेक समस्याएं उत्पन्न कर दी हैं जिनका समाधान होना मानव कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तो समसामयिक हिन्दी साहित्य (१९४० ६०) का निर्माण जिस तेजी से बदलती हुई दुनिया में होना शुरू हुआ और हो रहा है वह उसकी पिछली दुनिया से बहुत भिन्न है। वह अब 'ग्राम प्रान्त वाली दुनिया नहीं है। समसामयिक हिन्दी साहित्य और संसार के अन्य साहित्यों के बीच की दीवारें टूट चुकी हैं। हिन्दी के साहित्यकारों ने ऐसी अनेक समस्याएं उठाई और प्रश्न पूछे हैं जिनका सम्बन्ध अपने में और देश में होते हुए भी सारे संसार से है। ऊपर जिस 'सिकुड़ी' हुई दुनिया की ओर संकेत किया गया है उस दुनिया में ऐसा होना अनिवार्य ही है।

किन्तु हिन्दी के साहित्यकार के व्यक्तित्व के इस व्यापकत्व का अनुभव जितना दिव्य और सुखद है, उतना ही तीखा और कटु भी। उसका उद्भव जिस युग में हुआ उसमें जीवन और मृत्यु का एक अद्भुत द्वन्द्व छिड़ गया था। इस द्वन्द्व ने आध्यात्मिक और भौतिक, पूर्व और पश्चिम, काले और गोरे-जैसे प्रश्नों को निर्जीव और निष्प्राण सिद्ध करने के साथ साथ साहित्यकार के नवोदित व्यक्तित्व को प्रभावित किया। उसने मनुष्य को 'देवत्व और 'असुरत्व' का—सम्भवत 'असुरत्व का बहुत अधिक—विचित्र सम्मिश्रण सिद्ध किया। मनुष्य के भीतर का पशु अब भी विद्यमान है। उसमें भस्मासुर की शक्ति है इन सब भीषण तथ्यों के प्रति उसने साहित्यकार को सज्ञान बनाया। मनुष्य की वर्तमान स्थिति, उसके भीतर का छिपा हुआ पशुत्व समसामयिक हिन्दी साहित्यकार के सामने अमरीका के प्रसिद्ध कवि कार्ल सैंडबर्ग (Carl Sandburg)-कृत 'विल्डर्नेस (Wilderness) शीर्षक कविता में निहित भाव की तीव्रता प्रदान करता है। उसे विकासवाद और ईसाई मतान्तर्गत 'ओरिजिनल सिन की कल्पना में काफी साम्य दिखाई देने लगता है।

वास्तव में द्वितीय महायुद्ध (१९ ९ १९४५) की भीषणता ने मनुष्य के

मानसिक युग की प्रबल वासना [illegible] आशा और पूर्ति [illegible] क्यों न इतिहास की [illegible] होमो सेपियन (homo sapien) ने [illegible] विद्रूप बना दिया। [illegible] इतिहास [illegible] है' I marvel that man does not fall into despair at his miserable state

हिन्दी-साहित्यकार मानता है कि क्या आज के मनुष्य की यह स्थिति 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग के मनु की सी नहीं है? द्वितीय महायुद्ध में और उसके बाद हिन्दी के कवि और समग्र भारत जाति के [illegible] की दशा [illegible] सिहर उठे। युद्ध के पूर्व आज के मनु ने कहा था

"स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वही चाहता नहीं इस जीवन की
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग जग प्रति पग में कंपन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।"

उसकी इस उद्दाम आकांक्षा के फलस्वरूप ही

"वह विज्ञानमयी अभिलाषा, पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ कभी न नीचे मुड़ने की,
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया,
वर्गों की खाईं बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।"

यह अपार जीवन की मधुमय भूमिका प्रस्तुत करके 'इति' का [illegible] निज आतुर होकर निकल पड़ा था। किन्तु

"आज पड़ा है वह मुमूर्षु-सा
वह अतीत सब सपना था,
उसके ही सब हुए पराये
सबका ही जो अपना था।"

द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन पाश्चात्य या भारतीय साहित्य में आधुनिक 'मनु' की

"निकल रही थी मर्म वेदना
करुणा विकल कहानी सी।"

अस्तु, आज का साहित्यकार 'विश्व वन की व्याली' से संतप्त होकर व्याधि

ग्रस्त है। वह अपनी आँखो के सामने यह देख रहा है कि मनुष्य आशा निराशा के बीच डूबता उतराता एक ऐसे संधि स्थल पर जा पहुँचा है जहाँ यदि सावधानी न बरती गई तो उसके मार्ग भ्रष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना है, जहाँ प्रसिद्ध फ्रेंच विचारक रेन ग्रूसे (Rene Grousset) की मानव सभ्यता सम्बन्धी मान्यताओं की पुष्टि होती दिखाई देती है।

हिन्दी के वर्तमान लेखकों और कवियों की रचनाओं का अध्ययन करने के उपरांत कुछ स्पष्ट निष्कर्ष हमारे सामने आते हैं। इन निष्कर्षों को सरलतापूर्वक दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग के अन्तर्गत उनकी विचार धारा का सम्बन्ध समस्त मानव जाति की वर्तमान भौतिक एवं आध्यात्मिक अवस्था और उसकी भावी नियति से है। वैज्ञानिक और टैकनिकल प्रगति का अनुसरण करके अंतर्राष्ट्रीय उड़ानों ने जो उड़ान भरी है, उससे उनकी मानवता सम्बन्धी विचारधारा और भी मुखरित हो उठी है। किन्तु साथ ही वे मानवता के जीवन में भय और विस्मय मिश्रित मोड़ देख रहे हैं। भौतिक और यान्त्रिक सुख सुविधाओं के बीच वे मनुष्य को उसके अपने मन में ही पीड़ित होते हुए पाते हैं। विभिन्न राष्ट्रों के परस्पर भय, अविश्वास, ईर्ष्या आदि और हिंसात्मक प्रयासों ने मनुष्य का जीवन जर्जरित कर रखा है। आणविक अस्त्र शस्त्रों की भीषण भयंकरता ने उसके जीवन में एक विचित्र अनिश्चितता उत्पन्न कर दी है। फलतः मनुष्य का अपने में से ही विश्वास उठता जा रहा है। स्वस्थ क्रियाशीलता और निर्णय शक्ति के अभाव में उसके पैर डगमगा रहे हैं। वह लाचारी के अजीब गरीब आलम में है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य उस गिद्ध की भांति हो गया है जो आकाश में ऊंची उड़ान भरने के साथ साथ मुर्दों को अपना भक्ष्य बनाता है। हिन्दी की अनेक आधुनिकतम कविताओं और उपन्यासों में मनुष्यों का जीवन ऐसे ही यन्त्र चालित रूप में चित्रित किया गया मिलता है। बात ठीक है भी। मनुष्य आज व्यक्तित्व विहीन होकर अपने से ही पराजित है। किन्तु हिन्दी की रचनाओं से इस बात की ध्वनि भी निकलती है कि वर्तमान अराजकतापूर्ण परिस्थितियों के बीच मानवात्मा की ही अन्त में विजय होगी। विज्ञान मानव जाति को भौतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में गूंथने के साथ साथ मानसिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर समीप ला देगा। राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन के शब्दों का प्रयोग करते हुए मानव जाति की वर्तमान 'spiritual illiteracy' के बावजूद भी हिन्दी का साहित्यकार आशा का सम्बल खो नहीं बैठा। एक ओर गगारिन तीतोव, शेपर्ड, ग्लेन और

कार्पेण्टर है। दूसरी ओर आइशमन है। मानव सभ्यता और संस्कृति के य दोनो पक्ष दो छोरो का प्रतिनिधित्व करते ह। हिदी का साहि यकार नीलकण्ठ की ओर दृष्टि लगाए हुए है।

उनकी विचार-धारा के द्वितीय भाग का सम्बध देशी जीवन से है—विशेषत स्वतत्रता के बाद क जीवन से। स्वतत्रता का अनुभव उसके तथा उसके दश-वासियो के लिए एकदम नवीन था। उपनिवेशवादियो और साम्राज्यवादियो के शिकज मे मुक्त होन पर देश अपने को सम्हाल नही पा रहा। बडी बडी योजनाएँ दश के सामने आई है और आ रही ह, प्रजातात्रिक समाजवाद की रूपरेखा तैयार हो रही ह राष्ट्रीय आय भी बढी ह। किन्तु तब भी सामान्य जन सुखी नजर नहीं आता, जीवन की विषमताएँ दूर नही हो पा रही। जीवन म कही घुन लगा हुआ है। जीवन का यह समग्र रूप हिदी कवियो और लेखको के अनुभूति [illegible] साक्ष्य बना हुआ है। उनकी रचनाओ म सामाय जन के प्रति सहानुभूति होन और लाख स्वर प्रतिध्वनित होन क साथ साथ भ्रष्ट सत्ताधारियो, नताओ, शासन तत्र, धर्म, समाज और राजनीति पर व्यग्य मिलत हैं। निस्सन्देह ऐसे कवियो और लेखको का अभाव नही है जो प्रेम के गीत गात हैं किन्तु [illegible] कवि और लेखक जितने आज अपने चारो ओर के जीवन क प्रति [illegible], उतने पहले कभी नही थे। जीवन की इन्ही परिस्थितियों [illegible] उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और आत्म मथन भी किया ह।

सच तो यह है कि समस्या चाहे अखण्ड मानव[illegible] [illegible] हो या राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षो से, हिदी के [illegible] प्रश्न है वह मानव मूल्यो का है, एक ऐसी नतिकता [illegible] की नतिकता से भिन्न और नवीन हो, और [illegible] हुए भी उसे रागात्मक एकता म [illegible]। [illegible] नैतिकता की स्थापना होन हुए दखना चाहता ह [illegible], [illegible] अधिनायकों की नहीं, पार्टी क [illegible], [illegible] जन के भौतिक और मानसिक [illegible] प्रतिष्ठा हो सके, सामा[illegible] सुख के जलजान [illegible]।

किन्तु उसन [illegible] पदार्पण किया तो [illegible]

सम्पर्क पाश्चात्य विचार धारा से स्थापित हुआ। इस सम्पर्क ने ही उसको विचार-धारा के उपर्युक्त प्रथम भाग की स्पष्टता प्रस्तुत की और दूसरे भाग के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और आत्ममंथन करना सिखाया। वैसे भी मानव जाति की वर्तमान दशा में पाश्चात्य संस्कृति का विशेष दायित्व है, क्योंकि पिछली अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा इस संस्कृति ने ही इतिहास की पगडंडी पर आगे बढ़ने में सबसे अधिक तेजी दिखाई है।

हिन्दी का साहित्यकार जब पाश्चात्य जगत् के विचारों के सम्पर्क में आया तो सबसे बड़ी बात जो उसने जानी वह यह थी कि इन विचारों में अनेक सुन्दर और महत्वपूर्ण पक्ष होते हुए भी आधुनिक मनुष्य की 'श्रद्धा विहीनता' और उसकी अन्तरात्मा के विघटन के मूल स्रोत भी उन्हीं में निहित हैं। उसने देखा कि यद्यपि आधुनिकता का बीजारोपण मध्ययुगीन ईसाई धर्म प्रधान वातावरण के बाद पुनर्जागरणकालीन मानववादी विचारधारा द्वारा हुआ, यद्यपि यूरोप के इस नवीन सांस्कृतिक आलोक में मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय से अमरता की प्रार्थना कर रहा था तो भी भावी मानव-पीढ़ियों को संतप्त करने वाली कटुता का भी उसमें वपन हुआ। उसी से 'डिवाइन राइट ऑव किंग्स' की विचारधारा का प्रश्रय मिला। आगे चलकर इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रोटेस्टेंट मतावलम्बियों के पुनीत प्रयासों के फलस्वरूप मानवता के लक्ष्य उपलक्ष्य बन गए, जीवन में हिंसा, रक्तपात और प्रतिशोध की ज्वाला धधक उठी और मनुष्य का मन शंकालु होकर आन्तरिक असंगतियों से पूर्ण हो गया।

वस्तुतः यूरोप के सांस्कृतिक इतिहास की पन्द्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के काल पर दृष्टिपात करके हिन्दी के साहित्यकार ने पाया कि डार्विन (आरिजिन आव स्पीशीज, १८५९ ई०), नीत्शे ('ऐरिस्टोक्रेटिक ऐनार्किज्म' के अन्तर्गत 'इन्फीरियर मन' की स्थापना और 'सुपरमैन' की कल्पना) आदि की विचारधाराओं के फलस्वरूप वहाँ के विचारकों को मनुष्य में छिपे हुए शैतान का सामना करना पड़ा। वैज्ञानिक औद्योगिक परिवर्तनों के कारण इन शताब्दियों में यूरोप में दो प्रकार की विचारधाराओं का जन्म हुआ जिनका सीधा सम्बन्ध बीसवीं शताब्दी से है—१ स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) और २ विवेकवादी (रैशनल)। पहली विचारधारा बायरन, शापनहॉयर और नीत्शे से मुसोलिनी (इटली) और हिटलर (जर्मनी) तक चली आती है, और दूसरी फ्रांसीसी क्रांति के प्रेरक दार्शनिकों से लेकर मार्क्स और रूसी व्यवस्था तक। इन विचारधाराओं

ने 'क्रिश्चियन गौड' को अपदस्थ करके ऐसी लौकिक सत्ताएँ स्थापित की जिनसे मानवात्मा कुठित और पगु हुए बिना नही रह सकी। साथ ही उनसे यह निष्कर्ष निकला कि मानव जीवन मे अनेक आतरिक विरोध और असगतिया है और उनसे 'the beast is lurking in him (man)' का भय दूर नही हो पाता। यहा तक कि मार्क्स का 'मटीरियलिस्टिक डायलेक्टिक' आकर्षण पूर्ण होते हुए भी मनुष्य की अन्तरात्मा मे घुटन पैदा करने वाला सिद्ध हुआ (कौस्तर कृत 'डार्कनेस ऐट नून' और 'गॉड दैट फेल्ड' और जार्ज ऑर्वेल-कृत १६८४)। उसने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अपहरण करके उसके दिमाग पर लगाए गए नियत्रणा—'रेजीमेंटशन'—को प्रश्रय दिया (यद्यपि अब 'डि-स्टालिनाइजेशन' के बाद 'रेजीमेंटशन' की पीडा कुछ कम हो गई है)। इसी प्रकार जब बीसवीं शताब्दी का मानव मन अपने को अपने ही बुने हुए जाल मे जकडा पा रहा था, उस समय फ्रायड, ऐडलर, युग, पवलोव और परेतो की मनोवैज्ञानिक विचारधाराओ ने मनुष्य को एक ठोस समाज विज्ञान देने की चेष्टा की। किन्तु दुर्भाग्यवश उनसे मनुष्य के भीतर छिपी हुई अज्ञात, आदिम, बर्बर और विकृत पाशव वृत्तियो पर आधारित उसकी मानसिक कुरूपता का ही दिग्दर्शन हो सका। मनुष्य वही करता है जो उसका अचेतन उसे करने के लिए प्रेरित करता है। इस विचारधारा ने भी मनुष्य की अतरात्मा की ऊर्जस्विता पर बल न दिया। इधर जिरल्ड हर्ड ने सुपर कॉशसनेस, टॉयनबी ने 'ईथीरियलाइजेशन' और सोरोकिन ने 'आइडिएशनल' का प्रतिपादन करते हुए भी मानव जीवन और मूल्यो के सम्बन्ध मे अनेक निराशाजनक बातें कही हैं। सच तो यह है कि नीत्शे और बर्गसा से लेकर विलियम जेम्स और जॉन ड्यूई तक के विचारो मे आज इतना वैषम्य दृष्टिगोचर होता है कि आधुनिक बुद्धिजीवी अपने को सन्तुलित धरातल पर स्थिर रख सकने मे असमर्थ पा रहा है।

उपर्युक्त पाश्चात्य विचारधाराओ से अवगत हिन्दी का साहित्यकार जब मननशीलता मे सलग्न था, आत्म मथन और विश्लेषण कर रहा था (सामान्य रचनाओ के अतिरिक्त भारतीय पौराणिक शैली के आवरण मे उसने काव्य रचनाओ और उपन्यासो मे इसी पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव ही प्रदर्शित किया और गोष्ठियो मे उन पर विचार विनिमय किया), अपने नवार्जित वैचारिक क्षेत्र मे आलोडन विलोडन के साथ-साथ पाश्चात्य विचारधाराओ को सशकित दृष्टि से देख रहा था, उसी समय द्वितीय महायुद्ध (१६३६ १६४५) मे जापान के

(इलेक्ट्रोनिक्स, रोबोट्स आदि) आणविक भौतिक विज्ञान, अन्तर्ग्रहीय उड़ानों और प्रक्षेपास्त्रों के फलस्वरूप, अन्य ग्रहों में उन्नत जीवधारियों की सम्भावनाओं और ब्रह्माण्डीय खोजों ने अनन्त ब्रह्माण्ड रजकण के समान इस पृथ्वी की उत्पत्ति और विलय और उसके बीच भू मानव स्थिति से सम्बन्धित मान्यताओं की जड़ें हिला दी हैं। इस नवीन वैज्ञानिक प्रगति ने भू लोकवासी 'होमो सपिअन' के अहं और गौरव पर, श्रेष्ठता पर एक प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया है। किन्तु इस क्षुद्रता की भावना के साथ साथ उसे एक अखिल ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण ग्रहण करके नवीन ईथरीय (ethereal) आदर्शों और मूल्यों की खोज करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। उसे संसार के अन्य साहित्यकारों के साथ एक नवीन अध्यात्म का निर्माण करना है। पन्त, दिनकर, अज्ञेय आदि की हाल की रचनाएँ प्रमाण हैं। उन्हें अब मानव जीवन की समस्याओं पर नये ढंग से सोचना पड़ रहा है। मानवात्मा को विघटनकारी प्रभावों से बचाना और जीवनगत नवीन मूल्यों की स्थापना करना उनका उद्देश्य है।

द्वितीय महायुद्ध के बाद का हिन्दी साहित्य जब इस विश्वव्यापी मानसिक एवं बौद्धिक हलचलों से प्रेरणाएँ ग्रहण करके पनप रहा था उसी समय उसे राष्ट्रीय जीवन की अनेक समस्याओं में उलझना पड़ा। अंग्रेजों के भारत छोड़कर जाने, देश के विभाजन, और शासन की बागडोर भारतवासियों द्वारा अपने हाथ में लिये जाने से अनेक ऐसे प्रश्न और समस्याएँ सामने आ गईं जो अभी तक विदेशियों के विरुद्ध छिड़े हुए स्वतन्त्रता संग्राम के आवरण में छिपी पड़ी थीं,और जिनके सम्बन्ध में हिन्दी के साहित्यकार को अब नये ढंग से सोचना और समझना पड़ा। पीछे संकेतित उसकी विचारधारा के दूसरे भाग का, राष्ट्रीय जीवन से सम्बन्धित भाग का, यहीं से सूत्रपात होता है।

द्वितीय महायुद्ध का परिणाम सर्वप्रथम देश के राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में दृष्टिगोचर होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के इतिहास में एक महान् घटना घटित हुई थी जिसे औद्योगिक क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है, जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध वहाँ के विकसित विज्ञान, और आगे चलकर वहाँ की राष्ट्रीयता, वहाँ के आर्थिक जीवन और राजनीतिक आदर्शों, और अन्ततोगत्वा, उपनिवेशवाद से है। इस नवार्जित स्फूर्ति और चेतना के फलस्वरूप यूरोप की शक्तिशाली जातियाँ संसार के भिन्न भिन्न भागों में उपनिवेश स्थापित करने निकल पड़ीं। एशिया और अफ्रीका उनके प्रधान लक्ष्य बने, क्योंकि इन महाद्वीपों में विज्ञान की प्रगति पिछड़ गई थी।

एशिया और अफ्रीका के देशों में साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के आगमन से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि जीवन क्षेत्रों में अनेक अभूतपूर्व परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों से अच्छे बुरे दोनों ही परिणाम दृष्टिगोचर हुए। फलतः शोषित होने के साथ साथ साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़े हुए देशों ने दासत्व के बन्धन से मुक्त होने के प्रयास करके जागरण की भावना प्रकट की। मुक्ति आन्दोलन भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न समयों पर हुए। इन आन्दोलनों के जन्म की तीव्र गति या मन्द गति एक ओर विभिन्न साम्राज्यवादों के अपने अपने स्वरूप और प्रकृति पर, और दूसरी ओर विजित देशों की अपनी अपनी विकास परम्पराओं पर निर्भर रही है। साम्राज्यवाद ने विजित देशों के जीवन क्रमों को ही कुण्ठित नहीं किया वरन संसार को भी युद्धों के विषैले वातावरण से पूर्ण करके मानव जाति का सुख चैन छीन लिया। उपनिवेशवाद संसार की शान्ति भंग का एक प्रधान कारण रहा है। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप साम्राज्यवादी शक्तियों ने सामरिक और आर्थिक दृष्टिकोणों से नये सबक सीखे। उन्हें अब उपनिवेशों को अधिक दिनों तक दबाए रखना असंभव प्रतीत होने लगा। फलतः सर्वप्रथम १९४७ में भारतवर्ष की स्वतन्त्रता संसार के परतन्त्र देशों के सामने प्रेरक शक्ति के रूप में आई और एशिया तथा अफ्रीका के लगभग प्रत्येक देश में स्वतन्त्रता संग्राम छिड़ गए। अब उपनिवेशवाद अन्तिम सांसें ले रहा है। आणविक शक्ति के विकास और अखिल ब्रह्माण्डीय खोजों की भांति पिछले पन्द्रह सोलह वर्षों की यह भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। एशिया और अफ्रीका का अपार जन समूह जाग उठा है। दलित और पिछड़े हुए देशों में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद स्वर्णिम विहान दिखाई पड़ने लगा है। आणविक शक्ति के शान्तिकालीन प्रयोगों और आधुनिक विज्ञान एवं टकनोलोजी की सहायता तथा चारित्रिक एवं नैतिक बल और अनुशासन के आधार पर इन देशों के लिए अपने अपने उद्देश्यों की पूर्ति करना कठिन नहीं है। रूस और अमेरिका का वैचारिक संघर्ष उग्र से उग्रतर होता जा रहा है, कोल्ड वार जो निश्चित रूप से सामरिक संघर्ष से अधिक भयंकर है किन्तु एशिया और अफ्रीका के नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र अपनी पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्थाओं और जीवन का स्तर ऊपर उठाने के लिए इन दोनों में से एक या दोनों देशों से आर्थिक और टेक्नालोजीकल सहायता प्राप्त कर रहे हैं। भारतवर्ष द्वारा प्रतिपादित पंचशील और सह अस्तित्व उनके आदर्श हैं। बदलते हुए इतिहास के साथ ये देश भी बदलते जा रहे हैं।

साम्राज्यवाद के कदम से निकला नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र, भारत, अब मानव जाति के भावी इतिहास में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की दृष्टि से अपना एक मिशन समझने लगा है। बहुत दिनों बाद उसे यह अवसर प्राप्त हुआ है। ब्रिटिश शासन-काल में अपने सांस्कृतिक गौरव के प्रति भावुकतापूर्ण जागरूकता रखते हुए भी देश को अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास का अवसर प्राप्त न हो सका था। वास्तव में स्वाधीनता संग्राम में वह इतना संलग्न था कि उसे मानव-जाति के प्रति अपना सांस्कृतिक दायित्व पूर्ण करने का अवसर ही प्राप्त न हो सका। इतिहास इस बात का साक्षी है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश सत्ता के सुदृढ़ रूप से स्थापित होते ही देश में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष छिड़ गया था। भारतवर्ष ने पाश्चात्य भौतिकवादी दृष्टिकोण से अपनी आत्मा कुंठित होती देखी। यद्यपि देश का प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास अनेक असंगतियों और अन्तर्विरोधों से पूर्ण था और तत्कालीन वैज्ञानिक एवं आर्थिक विकास के प्रकाश में ये असंगतियाँ और अन्तर्विरोध और भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगे थे, तो भी उसे अपने आध्यात्मिक संदेश में अगाध विश्वास था। हक्सले, मौम तथा अन्य अनेक यूरोपीय साहित्यकारों ने भारत का यह मिशन मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया। उन्होंने भारतीय संस्कृति में मनुष्य के भीतर एक ऐसी चीज पाई जो यूरोप में दृष्टिगोचर नहीं होती और जिसके बिना उन्होंने मनुष्य का जीवन खोखला पाया। देश के सामने अपनी आत्मा की सुरक्षा का प्रश्न मुख्य प्रश्न था। किन्तु पराधीनता की दशा में यह कार्य संभव नहीं था। अतः स्वाधीनता संग्राम अपने में महत्वपूर्ण होते हुए भी, इस महान् एवं पुनीत कार्य की सिद्धि के लिए साधन मात्र था।

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद अब देश संसार में अपने संबंध में फैली भ्रान्त धारणाएँ दूर करके ठीक ठीक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अपने को रखना चाहता है। वह अपने पिछले मानसिक एवं बौद्धिक विक्षोभ को भुलाकर वर्तमान युग की जटिल समस्याएं सोचने समझने का प्रयास कर रहा है और अपने भूले हुए ऐतिहासिक दायित्व को वास्तविकता की पार्श्वभूमि में स्थापित करने की चेष्टा में संलग्न है। अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं का फिर से परीक्षण और विश्लेषण करके वह अपने खोये हुए को पाने के लिए कटिबद्ध है। उसे भय है कि यदि उसने ऐसा न किया तो वह इतिहास की इस चुनौती को स्वीकार करने में अक्षम होगा।

पूव और पश्चिम का भेद भाव भूलकर समस्त मानव जाति की सचित ज्ञान राशि की पीठिका मे अनमान विघटनकारी और मानवात्मा का विनाश करने वाली शक्तियो से जूझकर मानव मूल्यो म और सामाजिकता पर आधारित व्यक्तिगत स्वातत्र्य और एक नवीन आशा, विश्वास एव आस्था का वह सचार करना चाहता है। उसे मानव सस्कृति की जड़ें हिलती दिखाई दे रही है, वह क्षिप्त है किन्तु पाश्चात्य यान्त्रिक साधनो का आश्रय ग्रहण करने और साथ ही उनके विनाशकारी प्रभावो मे बचने को कठिन व्रत करते हुए भी अन्य भारतीय साहित्यकारो की भाति हिन्दी का साहित्यकार नवीन ऐतिहासिक दायित्व सम्हालने के लिए उत्साह भी प्रदर्शित कर रहा है। उसकी दृष्टि 'दीप का पश्चिम मे स्पन 'To restore man to mankind while deepening and enhancing his communion with the universe (आर० एन० ऐन्शेन) की ओर है।

मानवीय हित चिन्तन की व्यापक परिधि मे हिन्दी का साहित्यकार अपने राष्ट्रीय परिवेश का निरपेक्ष दृष्टि से नही देख सका, और न देख सकता था। उसका व्यक्तित्व राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय एव मानवीय दोनो भूमिकाओ को अपने म समेट लेना चाहता है। किन्तु यही से उसकी बौद्धिक एव मानसिक उलझनें पैदा हो जाती हैं।

वह मानवीय अन्तरात्मा के गौरव की प्रतिष्ठा तो करना चाहता है, किन्तु जब वह अपनी ओर देखता है तो सामने पाव दिखाई नहीं देता। फलत नवीन युग बोध का निर्वाह करने म वह अपने से ही सशक हो उठता है, चौक उठता है। उसे नही मालूम कि देश की जिस प्राचीन सस्कृति का वह उत्तराधिकारी है उसके उज्ज्वल और कलुषित दोनो पक्ष है। उसम 'आत्मवत सर्वभूतपु' स लेकर मनुष्य को कीट पतग से गया बीता समझने वाले परस्पर विरोधी तत्त्व है। अनेक सामाजिक एव धार्मिक असगतियो का शिकार वह स्वय है और अपने चारो ओर भी उन्हीं को घूम पाता है। दासत्व कालीन स्थिति म उत्पन्न अनेक मानसिक ग्रन्थियो के कुप्रभाव से भी वह अभी उबर नहीं पाया। राजनीतिक क्रान्ति तो हुई। अभी सामाजिक क्रान्ति होनी है। इस क्रान्ति के चिह्न उभरने अवश्य लग है। एक उदाहरण स्त्री पुरुष के परस्पर सामाजिक, आर्थिक और यौन सबधो का नवीनतम विचार धाराओ के प्रकाश मे विश्लेषण है जो समकालीन हिन्दी साहित्य की एक विशेषता है। जब तक यह दूसरी क्रान्ति भी सम्पन्न

नही होती (दश के औद्योगीकरण से ही यह क्रान्ति सभव हो सकेगी) तब तक साहित्यकार की अनेक उलझनें बनी ही रहगी। देश के स्वतन्त्रता-सग्राम म उसे अनेक सघर्ष करने पडे और राजनीति स सम्बद्ध एक ऐसा नैतिक आदर्श उसके सामने रखा गया जो वास्तविकता से दूर था और जो स्वतन्त्रता प्राप्त होने ही ढह गया—यद्यपि उस आदर्श की दुहाई देने वालो की अब भी कमी नही है। गाधीजी ने स्वराज्य की 'राम राज्य' के रूप म कल्पना की थी। स्वराज्य से भी उनका तात्पर्य 'स्व राज्य' से था जिसम त्याग आत्म सयम सेवा और साधना का भाव निहित था। स्वतन्त्रता सग्राम म रत देश की जनता म बसे तो अनेक गुण स्वय उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु यह भी भूल जाने की बात नही ह कि देश की स्वतन्त्रता जब आई तो यकायक और अप्रत्याशित रूप म आई। ऐसी क्रान्ति कारी ऐतिहासिक घटना के समय देश मे चारित्रिक दृढता, अपूर्व त्याग, सयम, साधना आदि जिन गुणो की आवश्यकता थी उन सबका नितात अभाव था। देश के विभाजन के फलस्वरूप मानवता के नगे नाच और गाधी जी की हत्या के दृश्य तो उसके सामने थे ही जिससे देश की आत्मा काप उठी थी, साथ ही द्वितीय महायुद्धोत्तरकालीन असहायावस्था, जीवन के चौमुखी ह्रास, रिक्तता, कुण्ठाओ और रूढियो आदि ने जीवन म एक अजीब सी जडता उत्पन्न कर दी थी। देश के भावी नवनिर्माण की दृष्टि म यह कोई अच्छी बात नही हुई। फलत गाधीजी द्वारा परिकल्पित 'राम राज्य' और 'स्व राज्य' का आदर्श भू लुण्ठित होता दिखाई देने लगा। भारतवासियो की मोह निद्रा टूट गई।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था कि भाग्य चक्र एक दिन अग्रेजो को भारत छोडने लिए बाध्य करेगा, किन्तु जब वे जायेंगे तो देश को वीरान बनाकर जायेंगे। विश्व कवि की वाणी तो सत्य सिद्ध हुई ही, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अन्य अनेक विषमताएँ भी सामने आई और आ रही ह। स्वतन्त्र भारत का उद्देश्य 'कल्याण राज्य' (वेलफेअर स्टट) का निर्माण करना है। गणतन्त्रात्मक सविधान म प्रत्येक नागरिक की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व्यक्ति गत स्वतन्त्रताओ और सबके समानाधिकारो आदि की स्पष्ट घोषणा की है। देशी राज्यो और जमीदारी प्रथा के उन्मूलन मे सामन्तवाद का अस्तित्व नष्ट हो ही चुका है। देश मे शातिपूर्ण साधना द्वारा और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए प्रजातात्रिक समाजवाद (डिमोक्रेटिक सोशलिज्म) की स्थापना के लक्ष्यान्तर्गत दो पचवर्षीय योजनाओ (१९५०—१९६०) के बाद तीसरी पच-

वर्षीय याजना (१९६१—१९६५) की भी तयारी हो चुकी ह और इनसे पिछले पन्द्रह वर्षों म दश की काफी उन्नति हुई है, इसमे कोई सन्देह नही। किन्तु इस चौमुखी उन्नति और समद्धि के साथ साथ चौमुखी असन्तोष है, यही एक भारी विडम्बना है। वास्तव मे जीवन से सम्बद्ध किसी उच्च और महान् आदश के अभाव म जीवन म ओछापन, खोखलापन और निराशाजन्य परिस्थिति का उत्पन्न हो जाना अनिवाय है। हम प्रजातन्त्रवाद की दुहाई देते है। किन्तु उसमे और देश म प्रचलित सामाजिक धार्मिक और आर्थिक भेद भावो और विषमताओ के बीच कोई साम्य और सन्तुलन स्थापित नही हो सकता। भारत—जसे आर्थिक दृष्टि स पिछडे हुए तथा अपनी विशिष्ट परपराओ मे पालित पोषित देश क लिए प्रजा तान्त्रिक शासन पद्धति अनुकूल है भी इस सम्बन्ध मे अनेक विचारको को सन्देह होने लगा ह। राष्ट्रीय स्तर पर सगठित एक सशक्त और प्रभावशाली विरोधी दल के अभाव न वस भी देश के प्रजातन्त्रवाद को एक विचित्र रूप दे रखा है—जो इग्लड या अमेरिका के प्रजातन्त्रवाद से भिन्न है। फिर भाषावाद, जातिवाद, राज्यवाद, और देश के व्यापक हित की अपेक्षा पार्टी हित की बात सोचने आदि के मूल म, रागात्मक एकता के अभाव से देश अत्यन्त सन्तप्त है। स्वार्थी और आत्महित रत लोगो से और नकली चहरे लगाए नताओ से देश भरा हुआ है। आवश्यक वस्तुओ के बढ़ते हुए दामो से परिस्थिति और भी गभीर हो गई है। जीवन विशृखल होता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। देश का ज्यो-ज्यो औद्योगीकरण होता जा रहा है त्यो-त्यो पुरान मूल्यो का विघटन होता जा रहा है और नए मूल्य स्थापित करने की समस्या टेढी होती जा रही है। स्वतन्त्रता-सग्राम के समय के आदश की आभा के फीकी पड जाने से स्वय साहित्यकार अपने को त्रिशकु की स्थिति म पा रहा है।

वास्तव म १९४७ और उसके बाद के राष्ट्रीय जीवन के सदभ मे हिन्दी साहित्यकार द्वारा मानवीय गौरव की बात कुछ विचित्र सी लगती है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद व्यक्तिगत स्वार्थों, अनिश्चितता, अलसता, क्लान्ति ग्लानि आदि म पूर्ण वातावरण मे मध्यमवर्गीय साहित्यकारो के मन और बुद्धि दोनो ही कम्पित हो उठे हैं। स्वय उनम साधना और सचाई का अभाव है। साधना के स्थान पर वे भी सुखान्वेषण मे लगे हैं। मध्यमवर्गीय युवक भूख और समाज की अनस्थिरता मे पीडित है। ऐसे समाज म हिन्दी का साहित्यकार अपने को खोया हुआ पाता है और जब वह अपने को ही केन्द्र बिन्दु मानकर मानवता की अखण्डता

खोजने और मानवता का पुनर्मूल्यांकन करने निकलता है तो उसके साहस की सराहना करनी पडती है। प्रेमचन्द ने 'गोदान' (१९३६) में नायक विहीन समाज की कल्पना की थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कुछ कुछ वैसी ही परिस्थिति अपने देश में उत्पन्न हो गई है।

अपने चारों ओर के इस वातावरण से क्षुब्ध होकर हिन्दी के साहित्यकार के हृदय में तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। मानव मूल्य, नैतिकता अनैतिकता, वैज्ञानिक और टैक्नोलाजीकल प्रगति के बीच भूख, नवीन परिस्थिति में यौन सम्बन्ध आदि प्रश्नों के विविध पक्षों के वह समाधान ढूँढना चाहता है। हिन्दी के आधुनिक एकांकी, उपन्यास, कहानी, कविताएँ आदि इस प्रतिक्रिया के प्रमाण हैं। प्रतिक्रिया हुई है—यही एक महत्त्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात है—भले ही यह प्रतिक्रिया कवियों और लेखकों के अपने अपने संस्कार, शिक्षा दीक्षा, मानसिक परिस्थिति आदि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की हुई हो। नवीन मानवीय तथा सामाजिक चेतना और साथ ही मध्यमवर्गीय कटु अतृप्ति के साथ-साथ बौद्धिकता ने उसके संवेदनशील हृदय को भकृत कर दिया है। सदियों से सुषुप्तावस्था में पड़ी 'कुण्डलिनी' को जगाने का भगीरथ प्रयत्न उसकी चेतना का मूल स्वर है। साहित्यकार स्वयं अपने भीतर और बाहर के असामंजस्य को पहचानने की चेष्टा करते हुए एक नवीन स्वस्थ जीवन दर्शन का निर्माण करना चाहता है। अनेक असंगतियों, अन्तर्विरोधों, कुंठाओं, भावोन्मादों, रूढ़ियों, मानसिक एवं बौद्धिक विक्षोभ के बावजूद सामयिक हिन्दी साहित्य ने एक बहुत बड़ा मोड़ लिया है। उसका मूल स्वर ही बदल रहा है। वह सांस्कृतिक परम्पराओं का पुनर्मूल्यांकन करना चाहता है। क्योंकि वह मानव को मानव से पृथक करने वाली भौगोलिक और सांस्कृतिक दीवारें गिरा देना चाहता है, इसलिए उसकी कला में अमूर्तता आती जा रही है। आधुनिकतम कविताओं में यह अमूर्तता सहज ही देखी जा सकती है। उसके साथ-साथ विषय, शिल्प भाषा आदि सभी में आज नयापन और संघर्षों के बीच सजीवता का स्पन्दन एवं विविधता है। वह अपने बाहर और भीतर का विश्लेषण करके चिन्तित अवश्य हो उठता है, किन्तु 'चिन्तन कातर वदन' में 'पौरुष आर्त प्रोत वैज्ञानिक युग की छाप लिये हुए उसने मानव जीवन की अखण्डता और नई लय उत्पन्न करने का भारी दायित्व लिया है। जगती की ज्वाला से अति विकल मनस्वी की भांति वह आसुओं का वरदान में परिणत कर देना चाहता है। वह अपने को, व्यक्ति को, समूह को सन्तोष और सुख देकर ज्वाला हरने निकला है। विश्व-

संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में पूर्वाग्रहों से रहित नवीन मानव मूल्यों की स्थापना के साथ-साथ दायित्वपूर्ण वैयक्तिक स्वातन्त्र्य, सामान्य जन की स्वतन्त्रता और उसका उत्थान और स्वतन्त्र चिंतन द्वारा जीवन के सभी पार्श्वों की मंगलमय सृष्टि उसका लक्ष्य है। मानव मूल्यों पर आधारित नये समाज दर्शन और जीवन दर्शन के निर्माण के गुरुतर कार्य में वह दत्तचित है। 'अर्जुन' का मानसिक द्वन्द्व तो उसमें है किन्तु साथ ही विराटत्व के दर्शन की लालसा भी है। इतिहास की दुर्धर्ष रथ यात्रा की गति निर्धारित करने का उसमें उत्साह है। इस दायित्व के सम्हालने में बहुत लोग औंधे मुंह गिर पड़े है, काफी लड़खड़ा रहे है, और कुछ आशा के सामने अंधेरा छा जाने पर भी ललकार रहे है। आशा है उन्हें सही रास्ता मिल जायगा और वे अपनी शक्ति से तरंगायित होकर समरसता के सिद्धान्त से मानव जीवन को स्पन्दित करेंगे। क्या हिन्दी का साहित्यकार 'सारस्वत प्रदेश' के निवासियों के साथ मनु के 'श्रद्धा मण्डित 'कैलाश शिखर' की यात्रा करके मानव जीवन को 'करुणा कलित' बनाने में सफल हो सकेगा? इसका उत्तर भविष्य के गर्भ में है।

मानव मूल्यों की अवमानना और आदर्शों एवं नैतिकता के स्वांग के बीच रहते हुए समसामयिक हिन्दी साहित्यकार के एक हाथ में इस समय निर्माण है, दूसरे में संहार। वह निश्चित रूप से मूर्ति भंजक है। किन्तु वह मानवता और राष्ट्र की ऐसी मूर्तियां भी गढ़ना चाहता है जो पास पास बिठाई जा सकें और जो नई शान के साथ-साथ परम्परा के सर्वोत्तम अलंकारों से विभूषित हों। कुछ परम्परा विरोधी वर्ग होते हुए भी उनकी आकांक्षा है मानवता को जीवित रखने की ताकि वह अपने को, सामान्य जन को चिरकाल तक जीवित रख सके।

परम्परा

श्रीकृष्ण लाल

१

हिन्दी युग युग से एक उपेक्षित भाषा रही है। जन्मकाल से ही इस दुर्दैव ग्रस्त भाषा के बोलने वाले विदेशी आक्रमणकारियों और आततायियों से आक्रान्त और उत्पीड़ित रहे हैं। पददलित और हताश जनसमूह की भाषा उपेक्षित तो होगी ही। एक ओर देववाणी संस्कृत के विज्ञ अहम्मन्य पंडित वर्ग ने हिन्दी को सर्वथा भाषा—प्राकृत भाषा—कहकर उसकी उपेक्षा की, दूसरी ओर तत्कालीन शासक वर्ग मुसलमानों ने इसे हिंदुई—हिन्दुओं की भाषा—मानकर उसे उपेक्षित समझा। आधुनिक युग में अंग्रेज शासकों ने सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को 'वर्नाक्यूलर' नाम देकर उन्हें 'दासों की भाषा' कहकर अपमानित किया और उनकी उपेक्षा की, साथ ही अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय भी धर्मान्ध मुसलमानों और राजनीति निपुण अंग्रेजों के प्रचार से प्रभावित होकर उसे गंवारू भाषा मानने लगे। राज काज, दरबार और शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी की निरन्तर उपेक्षा की गई और एक समय तो ऐसा भी आया जब इसके अस्तित्व को ही मिटा देने का षड्यन्त्र रचा जाने लगा, परन्तु हिन्दी तब भी जीवित रही, क्योंकि वह मर ही नहीं सकती।[१]

हाँ, हिन्दी मर ही नहीं सकती, क्योंकि वह अमर सी बना दी गई है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब कि शिक्षित वर्ग दिन भर राज काज और दरबार में उर्दू और अँगरेजी भाषा का व्यवहार करता रहता और हिन्दी का सर्वथा विस्मृत किये रहता था, वहाँ सायंकाल घर पर संध्या पूजन के उपरान्त गोसाईं तुलसीदास

---

१ हिन्दी की दुर्दशा का मार्मिक वर्णन बिहार के उच्च शिक्षा विभाग के भूदेव मुखोपाध्याय ने १८७६—७७ में इस प्रकार किया था—

'मुसलमानों को अपनी फारसी भाषा पर ममता है, कायस्थ लोग उससे प्रेम रखते हैं क्योंकि अनेक पीढ़ियों से वे इसके अध्ययन में परिश्रम करते चले आते हैं। कचहरी की भाषा (उर्दू) अपने बल पराक्रम के लिए फारसी ही का मुँह ताकती है। हिन्दी भाषा का कहीं ठिकाना नहीं। बिहार में सम्भवतः अनेक दिन पूर्व से ही ऐसा बहिष्कृत हो गई होती यदि स भा नहीं हुई, हिन्दी है जीवित मर्म के उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती।"

भारा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा स्थापित और प्रकाशित 'साहित्य' पत्रिका खण्ड ८, संख्या १०, अक्तूबर १९१४ पृ० ७।

१

हिन्दी युग-युग से एक उपेक्षित भाषा रही है। जन्मकाल से ही इस दुर्दैव ग्रस्त भाषा के बोलने वाले विदेशी आक्रमणकारियों और आततायियों से आक्रान्त और उत्पीड़ित रहे हैं। पददलित और हताश जनसमूह की भाषा उपेक्षित तो होगी ही। एक ओर देववाणी संस्कृत के विज्ञ अहम्मन्य पंडित वर्ग ने हिन्दी को सर्वथा भाषा—प्राकृत भाषा—कहकर उसकी उपेक्षा की, दूसरी ओर तत्कालीन शासक वर्ग मुसलमानों ने इसे हिन्दुई—हिन्दुओं की भाषा—मानकर उसे उपेक्षित समझा। आधुनिक युग में अंग्रेज शासकों ने सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं को 'वर्नाक्यूलर' नाम देकर उन्हें 'दासों की भाषा' कहकर अपमानित किया और उनकी उपेक्षा की, साथ ही अंग्रेजी पढ़े लिखे भारतीय भी धर्मान्ध मुसलमानों और राजनीति निपुण अंग्रेजों के प्रचार से प्रभावित होकर उसे गंवारू भाषा मानने लगे। राज-काज, दरबार और शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी की निरन्तर उपेक्षा की गई और एक समय तो ऐसा भी आया जब इसके अस्तित्व को ही मिटा देने का षड्यन्त्र रचा जाने लगा, परन्तु हिन्दी तब भी जीवित रही, क्योंकि वह मर ही नहीं सकती।[1]

हाँ, हिन्दी मर ही नहीं सकती, क्योंकि वह अमर सी बना दी गई है। उन्नीसवीं शताब्दी में जब शिक्षित वर्ग दिन भर राज काज और दरबार में उर्दू और अँगरेजी भाषा का व्यवहार करता रहता और हिन्दी को सर्वथा विस्मृत किये रहता था वहाँ सायंकाल घर घर संध्या पूजन के उपरान्त गोसाइं तुलसीदास

1 हिन्दी की दुर्दशा का मार्मिक वर्णन बिहार के उच्च शिक्षाधिकारी श्री भूदेव मुखोपाध्याय ने १८७६—७७ में इस प्रकार किया था—

'मुसलमानों को अपनी फारसी भाषा पर ममता है, कायस्थ लोग उनमें प्रेम रखते हैं। क्योंकि अनेक पीढ़ियों से वे इसके अध्ययन में परिश्रम करते चले आते हैं। कचहरी की भाषा (उर्दू) अपने बल पराक्रम के लिए फारसी [illegible] का मुँह जोहती है। हिन्दी भाषा का कहीं ठिकाना नहीं। बिहार में संस्कृत तो अनेक दिन पूर्व से ही ऐसा बहिष्कृत हो गया जैसा बंगाल से भी नहीं हुई, हिन्दी है तो जीवित क्योंकि उसकी मृत्यु हो ही नहीं सकती।"

आरा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सम्पादित और प्रकाशित 'साहित्य' पत्रिका वर्ष ८, संख्या १०, जनवरी १९१४, पृ० ७।

की रामायण (रामचरितमानस) की कुछ चौपाइयाँ अवश्य पढा करता था और प्रात काल आख खुलते ही सूर, मीरा और कबीर के पद और भजन गाकर भगवान का स्मरण करता था। हिन्दी के सरक्षण का सर्वाधिक श्रेय हमारी मा बहना को है। पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रन्दश का पुरुप वग जब राज काज और दरबार के प्रभाव से अपनी हिन्दी भापा को सवथा भूलता जा रहा था, उस समय भी घर की देवियो ने हिन्दी को घर की भापा बनाकर उसे जीवित रखा। आज भी अहिन्दी भापा क्षेत्र म मा बहना के बीच हिन्दी की लोकप्रियता का कोई अत नही। बाहर की उपेक्षा पाकर भी हिन्दी घर के स्नेह स सदव फलती फलती रही है। इसीलिए हिन्दी अमर है क्योकि उसकी जड बडी गहरी है।

आज हम जिस भापा को हिन्दी कहते ह, उसका यह नाम आधुनिक युग का दिया हुआ है। प्राचीन उल्लेखा म कही भी हिन्दी का सकेत नही मिलता। कबीर तुलसी केशवदास और सूदन आदि के प्राचीन उल्लेखा म सवत्र हिन्दी के लिए भापा शब्द का व्यवहार हुआ है।[1] उन्नीसवी शताब्दी म भी हिन्दी के लिए भापा शब्द का व्यवहार पर्याप्त मिलता है— शिवसिंह सरोज म हिन्दी के लिए भापा शब्द ही व्यवहृत हुआ है साथ ही भापा भास्कर, 'भापा बोध, 'भापा प्रभाकर आदि पुस्तका के नाम म भापा शब्द हिन्दी के लिए व्यवहृत हुआ है। मुसलमान कवियो ने इस प्राय हिन्दी या हिन्दुई–हिन्दुआ की भापा–कहकर उल्लेख किया है।[2] डा० गिलक्राइस्ट, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने अपनी भापा का हिन्दी न कहकर खडी बोली कहा है। हमारी भापा को हिन्दी नाम मुसलमाना

---

१ (क)–कबिरा सस्कृत कूप जल, भापा बहता नीर। —कबीर
(ख)–क–भापा भनिति भोरि मति मोरी।
ख–भापा बद्ध करब हम सोइ। —तुलसी
(ग)–भापा बोलि न जानही जिनके कुल के दास।
तिन भापा कविता करी, जडमति केशवदास। —केशव
(घ)–तुलसी गग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनकी रचना मे मिली भापा विविध प्रकार। —दास
(ङ)–ज्यो ज्यो कलि उद्धत भयो त्यो त्यो घटि गइ बुद्ध।
अब के कवि भापा कहन, तऊ न समभत मद्ध। —सूदन
२–(क)–अरबी तुरकी, हिन्दुई, भापा जेती आहि। —जायसी
(ख)–जानत है वह सिरजनहारा, जो कुछ है मन मरम हमारा।
हिन्दू मग पर पाव न राखउँ, का जो बहुतै हिन्दी भाखउँ। —नूर मुहम्मद

और अंगरेजों का दिया हुआ है। मुसलमानों ने इसे हिंदुओं की भाषा मानकर हिन्दी या हिंदुई कहा और अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान, हिंद (सूबाए हिंद—मध्यदेश) की भाषा मानकर इसे हिंदवी या हिंदी कहा।[1] सम्भवतः सर्वप्रथम हिंदी लेखक राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने इसे हिंदी नाम दिया, जो क्रमशः सर्वसाधारण में प्रचलित हो गया। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में जब हिंदू जातीय भावना का उदय हुआ तब कितने ही मनीषियों को यह हिंदी नाम अखरने लगा। विशेषकर जब किसी आर्य समाजी विद्वान् ने यह बताया कि फारसी भाषा में हिंदू का अर्थ काला चोर है, तब तो लोगों को हिंदू और हिन्दी शब्द से ही घृणा हो गई और हिंदी के लिए दूसरे नाम सुझाए जाने लगे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इसे 'आर्यभाषा' नाम दिया और एक वर्ग में यह नाम प्रचलित भी हुआ।[2] परन्तु सामान्य शिक्षित वर्ग को यह नाम बहुत रुचिकर न जान पड़ा। कारण यह है कि बँगला, मराठी, गुजराती आदि सभी भाषाएँ आर्य भाषा हैं अस्तु केवल हिंदी के लिए यह नाम अव्याप्ति दोष माना जायगा। कुछ लोगों ने हिन्दी को नागरी कहना प्रारम्भ कर दिया और एक वर्ग में यह नाम बहुत लोकप्रिय हुआ। काशिका जनपद के विद्वानों ने इस नाम को बहुत मान्यता दी। काशी की विशिष्ट साहित्यिक संस्था नागरी प्रचारिणी सभा में नागरी हिंदी का ही पर्याय है और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में अनेक वर्षों तक नागरी की ही धूम रही। तृतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन कलकत्ता के सभापति पद से भाषण देते हुए स्व० बदरी नारायण चौधुरी 'प्रेमघन' ने हिंदी को 'नागरी' कहने का आग्रह किया था।[3] परन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को न 'आर्यभाषा' नाम रुचिकर जान पड़ा और न 'नागरी' नाम युक्तिसंगत क्योंकि नागरी तो उस लिपि का नाम है जिसमें

---

१ १८२९ ई० में प्रकाशित पादरी आदम साहिब के हिन्दी कोष में 'हिन्दी' का अर्थ दिया है—हिन्दुस्थान की बोली।

२ नागरी प्रचारिणी सभा के विशाल पुस्तकालय को 'आर्यभाषा पुस्तकालय' नाम दिया गया है। आर्यभाषा हिन्दी के लिए प्रयुक्त हुआ है।

३ स्वयं उस भाषा का, जो सभी ठौर के सभ्य समाज की भाषा है और जिसमें परस्पर एक प्रान्त के लोग दूसरों से वार्तालाप करते, अथवा जिसमें आज पुस्तकें लिखी जाती और समाचार पत्र छपते, उसका विशेष नाम अवश्य ही होना उचित है। मैं सदा से उसे नागरी भाषा ही कहता और लिखता आया हूँ।×× कुछ लोग इसे आर्यभाषा भी कहते हैं परन्तु वास्तव में यह नाम भी ठीक नहीं है। मेरी समझ में इसका भारतीय नागरी भाषा नाम होना चाहिए। —नागरी प्रचारिणी पत्रिका, जनवरी, १९१३, पृ० १६३।

हिन्दी लिखी जाती है। अस्तु द्विवेदी जी के प्रभाव से इसका हिन्दी नाम ही सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ और इसके सम्बन्ध में सभी विवाद क्रमशः समाप्त हो गए।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी नाम खड़ीबोली का दिया गया था। काव्य की भाषा उस समय तक भी ब्रजभाषा ही थी। १८७३ ई० में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जो हरिश्चन्द्री हिन्दी का उल्लेख किया, उसमें भी उनका संकेत खड़ी बोली गद्य की हिन्दी से था। अस्तु कतिपय विद्वानों ने हिन्दी के अन्तर्गत केवल खड़ीबोली के साहित्य को ही मान्यता दी।[1] इन्हीं कुछ थोड़े से लोगों के प्रमाण पर हिन्दी विरोधी यह कहते नहीं थकते कि हिन्दी का साहित्य केवल सौ डेढ़ सौ वर्ष पुराना है। हिन्दी का जो प्राचीन साहित्य है वह हिन्दी का नहीं भाषा का साहित्य है' या अधिक-से अधिक हिन्दी भाषा-समूह का साहित्य है। हिन्दी को केवल खड़ीबोली का पर्याय मानने के कारण ही डा० ग्रियर्सन तथा उनकी विचार-धारा के विद्वानों ने हिन्दी भाषा के निर्माण का श्रेय डा० गिलक्राइस्ट तथा फोर्ट विलियम कालेज को दिया था। उनके विचार से हिन्दी एक कृत्रिम भाषा थी जिसका निर्माण फोर्ट विलियम कालेज में 'विश्वकर्माओं' ने किया और उत्तर भारत के हिन्दुओं की अपनी कोई भाषा न होने के कारण उसे ही अपनी भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। डा० ग्रियर्सन के कतिपय अद्भुत आविष्कारों में यह भी एक आविष्कार था, जिसने बहुत सी भ्रान्तियों को जन्म दिया। इन्हीं भ्रान्तियों के कारण हिन्दी को आर्यभाषा और नागरी नाम देने की आवश्यकता हुई थी।

हिन्दी को कभी-कभी विद्रोह और प्रतिक्रिया की भाषा भी कहा जाता है,[2] परन्तु इस मत के विद्वान लेखक यह स्पष्ट नहीं कर सके कि हिन्दी का विद्रोह किसके प्रति था। परिस्थितियों का अध्ययन करने से जान पड़ता है कि हिन्दी को यदि कभी विद्रोह करना पड़ा होगा तो वह उर्दू और अंग्रेजी के प्रति ही रहा

---

१ देखिए 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष', प्रस्तावना 'ध'

'इस निष्कर्ष पर पहुँचने का अर्थ यह है कि हिन्दी भाषा समूह की किसी एक या चार-पाँच भाषाओं का साहित्य चार हजार-बारह सौ या आठ सौ वर्ष पुराना हो लेकिन हिन्दी साहित्य अभी लगभग अस्सी-सौ वर्ष पुराना ही है।"

२ अभी दो तीन वर्ष पूर्व श्री रामस्वामी अय्यर महोदय ने तुलसी रामायण को हिन्दी की नहीं भाषा (ब्रजभाषा) की रचना घोषित किया था।

'आज का भारतीय साहित्य'—हिन्दी—सच्चिदानन्द वात्स्यायन।

होगा, क्योंकि इन्हीं भाषाओं ने हिन्दी को सबसे अधिक क्षति पहुँचाई है। परन्तु जहाँ तक मैं जानता हूँ हिन्दी ने कभी विद्रोह नहीं किया। उपेक्षित और उत्पीड़ित होने के कारण उसमें विद्रोह और प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति होना असम्भव और अस्वाभाविक नहीं है परन्तु भारतीय संस्कृति के अनुरूप हिन्दी में कुछ ऐसी उदारता और सहिष्णुता रही है कि उसने विद्रोह और प्रतिक्रिया की भावना को प्रायः पूर्णतः दबा लिया है। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब हिन्दी भाषी जनसमूह को मुसलिम दासता से मुक्ति मिल गई, उस समय कतिपय मनीषियों ने कुछ ऐसी आवाज अवश्य उठाई कि हिन्दी भाषा में अरबी फारसी और तुर्की के शब्द हमारी प्राचीन दासता के अवशेष चिह्न और प्रतीकस्वरूप हैं और अब जबकि हम उस दासत्व अवस्था को पार कर चुके हैं, दासत्व बन्धन के इन अवशेष चिह्नों को रखकर हम अपनी लज्जा का विस्तार नहीं करेंगे। लाला हरदयाल ने हिन्दी में प्रयुक्त होने वाले अरबी फारसी के विदेशी शब्दों के बहिष्कार का मन्त्र दिया।[1] परन्तु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मथुराप्रसाद मिश्र तथा तत्कालीन अन्य विद्वानों ने उदारतापूर्वक अरबी फारसी के हिन्दी भाषा में स्वीकृत शब्दों के बहिष्कार का विरोध किया और वे निःसंकोच विदेशी शब्दों का व्यवहार करते रहे। इतना ही नहीं, कचहरियों में उर्दू प्रवेश की भर्त्सना करते हुए भी वे उर्दू से विरक्त नहीं हुए और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि कवियों ने उर्दू में भी काव्य रचनाएँ कीं। हिन्दी के स्वत्व और सहज अधिकार के लिए संघर्ष करने वालों ने भी उर्दू के प्रति कभी घृणा और विरोध प्रदर्शित नहीं किया। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, लाला भगवानदीन, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' आदि ने उर्दू छन्दों, मुहावरों और शब्द भण्डार का खुलकर प्रयोग किया है। इसी प्रकार १९४७ के पश्चात् अंगरेजों की दासता से मुक्त हो जाने के पश्चात् भी हिन्दी में प्रयुक्त अगणित अंगरेजी शब्दों का बहिष्कार नहीं किया गया। कुछ महानुभावों ने [अंगरेजी शब्दों के पूर्ण बहिष्कार की आवाज अवश्य उठाई और आज भी जहाँ तहाँ उसकी गूँज सुनाई पड़ जाती है परन्तु हमारी भाषा और साहित्य पर अंगरेजी भाषा और साहित्य का प्रभाव कम होने की अपेक्षा कुछ बढ़ता ही चला जा रहा है। यह है हिन्दी भाषी जन समूह की उदारता और सहिष्णुता।

हिन्दी में विद्रोह और प्रतिक्रिया की भावना का आरोप प्रायः लोग उसकी संस्कृतगर्भित भाषा को देखकर लगा दिया करते हैं। भारतेन्दु युग और द्विवेदी

१ पंजाब में हिन्दी की जरूरत—'सरस्वती' सितम्बर १९०७।

युग की अपेक्षा आज की हिन्दी भाषा अधिक संस्कृतगर्भित और क्लिष्ट कही जा सकती है, परन्तु यह स्थिति न उर्दू के विरोध के कारण है, न उस भाषा की प्रति क्रिया स्वरूप वरन युग चेतना की अनिवार्य आवश्यकता के कारण यह परिवर्तन हुआ है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनुभव किया कि भारतेन्दुयुगीन तद्भव प्रधान उच्चारणसम्मत भाषा से हिन्दी का काम नहीं चलने का। हिन्दी के विशाल भूखण्ड की भाषा में एकरूपता लाने के लिए प्रान्तज और स्थानीय तद्भव शब्दों की अपेक्षा संस्कृत मूल के शब्द और उनकी वर्तनी की एकरूपता के लिए उच्चारणसम्मत भाषा के स्थान पर व्याकरणसम्मत भाषा के व्यवहार पर बल दिया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में हिन्दी और उर्दू का पारस्परिक व्यवहार था जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी में उर्दू की शब्दावली और साहित्यिक प्रवृत्तियों का समावेश होता रहता था, परन्तु बीसवीं शताब्दी में उत्तरोत्तर राष्ट्र और युग की चेतना के परिणामस्वरूप हिन्दी का सम्बन्ध बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया आदि प्रान्तीय भाषाओं और आगे चलकर कन्नड, तेलुगु और मलयालम आदि दक्षिणी भाषाओं से घनिष्ठ होता गया और इन प्रान्तीय भाषाओं के संस्कृत मूल के शब्दों का व्यवहार हिन्दी में क्रमशः बढ़ता गया। फिर अंगरेजी की पारिभाषिक तथा अर्धपारिभाषिक शब्दावली को रूपान्तरित करने में संस्कृत धातु, प्रत्यय और उपसर्गों की सहायता से नये नये शब्दों का निर्माण होने लगा जो सभी प्रान्तीय भाषाओं में समान रूप से व्यवहृत होने लगे थे। इस प्रकार हिन्दी में संस्कृत मूल के शब्दों की क्रमशः वृद्धि होती गई।

फिर हिन्दी साहित्य में ज्यों ज्यों गम्भीरता और दार्शनिकता की प्रवृत्ति बढ़ने लगी त्यों त्यों अनुभव किया जाने लगा कि ठेठ तद्भव शब्दों से गूढ़ और मार्मिक भावों की उचित अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। प्रारम्भ से ही अंग्रेज पादरी और शासकों की प्रवृत्ति ठेठ भाषा की ओर रही है और उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज विद्वानों के प्रभाव से हिन्दी ही नहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी ठेठ शब्दों के व्यवहार की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। सातवें महाराष्ट्र साहित्य-सम्मेलन (१९१२) के सभापति पद से भाषण देते हुए हरिनारायण आप्टे ने पादरी और मिशनरी साहबों द्वारा मराठी के संस्कृतगर्भित होने के आक्षेप की निन्दा की थी।[1] हिन्दी

[1] किसी समय मराठी लेखकों पर यह भी आक्षेप किया जाता था कि उन्होंने संस्कृत शब्दों की भरमार करके भाषा को बिगाड़ डाला है। इस आक्षेपक प्रायः पादरी और साहब (मिशनरी) लोग ही हुआ करते थे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', दिसम्बर १९१०, पृ० १९१।

म भी पादरी और साहबों के प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप ठेठ हिन्दी का व्यवहार बढ़ रहा था। हरिऔध द्वारा रचित 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' को आई० सी० एस० प्रशिक्षण में पाठ्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकार कराकर ग्रियर्सन साहब ने परोक्ष रूप से ठेठ हिन्दी को बढ़ावा दिया था। काशी में पादरी एडविन ग्रीव्स की प्रेरणा से नागरी प्रचारिणी सभा निरन्तर हिन्दी के सरलीकरण का प्रयास कर रही थी। महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी जो ग्रियर्सन साहब को सहयोग देकर पद्मावत और रामचरितमानस का सम्पादन प्रकाशित करा रहे थे, सम्भवतः उन्हीं की प्रेरणा से सरल हिन्दी का प्रचार कर रहे थे।[1] परन्तु दूरदर्शी आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हरिऔधजी की ठेठ हिन्दी और सुधाकर द्विवेदी की सरल हिन्दी—दोनों का विरोध किया, क्योंकि कथा कहानी और यात्रा विवरण के लिए तो ठेठ और सरल भाषा का प्रयोग लाभप्रद हो सकता था परन्तु 'किरातार्जुनीय', 'रघुवंश', 'नैषध-चरित' और 'शिशुपाल-वध' जैसे महाकाव्यों के साहित्यिक अनुवाद के लिए ठेठ और सरल भाषा में काम नहीं चल सकता था न इतिहास, पुरातत्त्व, उपनिषद और दर्शनशास्त्र के गूढ़ विषयों पर इस भाषा में लेख लिखे जा सकते थे। इस महत् प्रयोजन के लिए गम्भीर परिमार्जित साहित्यिक भाषा की आवश्यकता थी और उसीका प्रचलन द्विवेदीजी ने किया, जिसने आगे चलकर छायावाद युग में एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया जो निश्चित रूप से संस्कृत गर्भित और लाक्षणिक सामर्थ्य सम्पन्न भाषा थी।

यह तो हुई साहित्य की आवश्यकता की बात। अब एक दूसरी आवश्यकता की भी चर्चा हो जानी चाहिए। बहुत दिनों से राष्ट्र के कर्णधारों को एक ऐसी भारतीय भाषा का अभाव खटक रहा था जो समूचे भारतवर्ष में अन्तःप्रान्तीय

---

[1] १९०७ ई० की 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में काशी के हिन्दी प्रेमी पादरी एडविन ग्रीव्स ने एक लेख द्वारा हिन्दी-उर्दू तथा हिन्दी संस्कृत दोनों प्रकार की खिचड़ी को दूर करके हिन्दी के व्यापक प्रचार के लिए उसे सरल बनाने पर जोर दिया। सम्भवतः इन्हीं की प्रेरणा ग्रहण करके १९०८ में सभा की नियमावली की भाषा सरल बनाने के लिए एक उपसमिति बना दी गई। ३० जुलाई १९०८ को सभा के पन्द्रहवें वार्षिकोत्सव में पं० सुधाकर द्विवेदी ने 'सरल हिन्दी भाषा की जरूरत' विषय पर एक वक्तृता की, जिसमें उन्होंने यह दिखलाया कि सरल भाषा के प्रयोग की कितनी आवश्यकता है।

व्यवहार की आवश्यकता की पूर्ति कर सके। इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रारम्भिक काल में अंग्रेजी इस आवश्यकता की पूर्ति कर रही थी, परन्तु आवश्यकता एक भारतीय भाषा की थी जो हमारी सांस्कृतिक चेतना और भावनात्मक एकता को वाणी प्रदान कर सके। हिन्दी ही एक मात्र ऐसी भाषा थी जो इस आवश्यकता की पूर्ति कर सकती थी और एक सीमित क्षेत्र में कर भी रही थी। १९१८ में महात्मा गांधी जब हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए तब उन्होंने हिन्दी के देश व्यापी प्रचार की आवश्यकता का अनुभव किया और उन्होंने ही 'दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' की स्थापना की। उन्हीं के प्रयास से अनेक दक्षिण नवयुवकों ने दक्षिण में हिन्दी प्रचार का व्रत लिया। दक्षिण में हिन्दी प्रचार का सबसे ज्वलंत प्रमाण कोकनड में हुए इंडियन नेशनल कांग्रेस के ३८वें अधिवेशन के अवसर पर स्वागत समिति के अध्यक्ष का हिन्दी में भाषण करना था। बाद में कांग्रेस ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया और किसी ने भी इसका विरोध या प्रतिवाद नहीं किया। मुस्लिम लीग की उग्र प्रतिक्रियावादी नीति के कारण कुछ वर्ष पश्चात् हिन्दी के स्थान पर हिन्दुस्तानी और नागरी लिपि के स्थान पर नागरी और फारसी-अरबी लिपि को मान्यता देने का प्रस्ताव महात्मा गांधी ने किया था जिसे कांग्रेस ने स्वीकार भी कर लिया परन्तु हिन्दी साहित्य के प्रतिनिधियों ने इसे स्वीकार नहीं किया। १९४७ के पश्चात् पाकिस्तान के निर्माण हो जाने पर मुस्लिम लीग का प्रभाव क्षीण हो गया। उस समय भारतवर्ष की राजभाषा के रूप में हिन्दी भाषा और नागरी लिपि को आधिकारिक मान्यता प्राप्त हुई। सम्पूर्ण भारतवर्ष में पारिभाषिक और वैज्ञानिक शब्दावली की एकरूपता के लिए विशेषज्ञों ने यह निश्चय किया कि जहाँ नवीन शब्दावली का निर्माण करना हो वहाँ संस्कृत की मूल धातुओं से शब्द गढ़े जायें। इस प्रकार परिस्थिति की अनिवार्य आवश्यकता के परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा उत्तरोत्तर संस्कृतनिष्ठ होती जा रही है। किन्तु साथ ही इस तथ्य को भुलाना नहीं चाहिए कि हिन्दी ने अपनी स्वाभाविक उदारता और सहिष्णुता के कारण अरबी, फारसी, तुर्की, अँग्रेजी तथा अन्य विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं किया और जहाँ भी सम्भव हुआ वहाँ आंचलिक जनपदीय और ठेठ तद्भव शब्दों का खुलकर व्यवहार किया। अस्तु, हिन्दी को विद्रोह और प्रतिक्रिया की भाषा कहना उसके प्रति अन्याय करना होगा।

संकीर्णता का भाव हिन्दी में कभी नहीं था, साथ ही उसमें देशभक्ति और

राष्ट्रीय भावना का भी कभी अभाव नहीं था। [illegible] हिंदी राष्ट्रीय चेतना की प्रतीक रही है। इंडियन नेशनल कांग्रेस के जन्म से बहुत पहले ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी में राष्ट्रीय भावना कूट कूटकर भर दी और तब से लेकर आज तक हिंदी ने कभी भी राष्ट्र हित और देशभक्ति की अवहेलना नहीं की। राष्ट्रीय आंदोलनों के अवसर पर हिन्दी की पत्र पत्रिकाओं ने जो जोश और उत्साह की धारा बहाई, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इतिहास में वह चिरस्मरणीय रहेगी। स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी और उनके 'प्रताप' को कौन भूल सकता है जिसके प्रत्येक अंक के मुख पृष्ठ पर अंकित रहता था—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है॥

विद्यार्थीजी की लेखनी से जो तेजस्विता की चमक और उत्साह की वर्षा हुई, उसकी तुलना नहीं। इसी प्रकार 'अभ्युदय', 'कर्मयोगी', 'मर्यादा', 'प्रभा' और 'त्यागभूमि' के माध्यम से कृष्णकान्त मालवीय, पुरुषोत्तमदास टंडन, माधव शुक्ल, माखनलाल चतुर्वेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन की रचनाएँ—गीत, लेख और कहानियाँ आदि देशभक्ति की भावना को आप्लावित करती रहीं। और काशी की 'रणभेरी'—उसका तो जौहर ही निराला था।[1] हिंदी सर्वदा क्रांति और आंदोलनों की भाषा रही है। राष्ट्रभाषा के अनेक कर्तव्यों के निर्वाह में हिन्दी खरी उतरी है, चाहे उसे अपनी राष्ट्रीयता के लिए कितनी ही क्षति क्यों न उठानी पड़ी हो।

हिन्दी भारतीय संगीत की भाषा है, क्योंकि इसमें एक अद्भुत माधुर्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटकों की भाषा ठेठ उर्दू हुआ करती थी, उस समय भी लोकप्रियता की दृष्टि से उनके गाने प्रायः सभी हिन्दी भाषा के हुआ करते थे, क्योंकि गीत हिन्दी में ही मधुर और लोकप्रिय हुआ करते थे। ब्रजभाषा अपनी माधुरी के लिए प्रसिद्ध थी और उसके माधुर्य के कारण ही बंगकवि ब्रजबुलि में गीत और भजन लिखना पसन्द करते थे और दक्षिण भारत में भी ब्रज की बोली का अनुकरण हुआ करता

---

1 सन् १९३०-३१ के नमक आंदोलन के अवसर पर काशी में 'रणभेरी' साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन और वितरण एक रहस्य की वस्तु था। महानगर पुलिस परेशान रही परन्तु उसे यह पता ही न चला कि कब और कहाँ से [illegible] प्रतियाँ [illegible] ने बन्द पड़ना थीं।

था। खड़ी बोली हिन्दी यद्यपि प्रारम्भ में कुछ कर्कश और श्रुतिकटु थी परन्तु धीरे धीरे उसमें भी हिन्दी का स्वाभाविक माधुर्य उमड़ पड़ा। अस्तु हिन्दी एक मधुर, सरस और रसमयी भाषा है जो सच्चे अर्थ में संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है। इसमें संस्कृत जैसा ही संस्कार और आभिजात्य है वैसी ही गरिमा और गाम्भीर्य है। हिन्दी भारत की भारती है।

२

आधुनिक युग में हिन्दी साहित्य का केन्द्र राजसभाओं और दरबारों से हटकर क्रमशः शिक्षित और साक्षर जनता के बीच आने लगा। इस परिवर्तन में मुद्रण यन्त्रों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। यों तो यूरोपीय व्यापारी जातियों ने जब कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में अपनी व्यापारिक बस्तियाँ बसा लीं और क्रमशः देश की प्रशासनिक राजनीति में भी वे हस्तक्षेप करने लगीं तभी मुद्रण यन्त्र और अंगरेजी पत्रकारिता का भारत में प्रारम्भ हो चला था, परन्तु भारतीय भाषाओं की वर्णमाला का टाइप अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में ढाला गया और उसके फलस्वरूप भारतीय भाषाओं की पुस्तकों और पत्र पत्रिकाओं का प्रचलन १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हो सका। प्रारम्भ में मुद्रण यन्त्रों से पाठ्य पुस्तकें ही प्रकाशित होती रहीं और जहाँ तहाँ पत्र पत्रिकाएँ भी निकलती रहीं। परन्तु इन्हें सत्साहित्य के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया जाता था। सत्साहित्य का स्फुरण तब भी कुछ थोड़े से राज दरबारों में हो रहा था। पत्र पत्रिकाएँ तथ्य तथा समाचार संग्रह के अतिरिक्त धार्मिक विवाद और सामाजिक-सुधार सम्बन्धी लेखों का प्रकाशन करती थीं। बात यह हुई कि यूरोप से जहाजों में लदे लश्कर जो अगणित व्यापारी, सैनिक, प्रशासक और पादरीगण आ रहे थे उनमें पादरी साहब लोग केवल यूरोपीय ईसाइयों की परलोक सम्बन्धी चिन्ताओं में डूबे न रहकर भारत की तथाकथित अन्धविश्वासी और पिछड़ी जनता को भी ईसा के धर्म का प्रकाश दिखाना चाहते थे। अस्तु उन्होंने इन मुद्रण-यन्त्रों की सहायता से अपने धर्म ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद करके निःशुल्क जनता में बाँटना प्रारम्भ कर दिया साथ ही मिशनरी स्कूलों की स्थापना करके बालकों को बाइबिल पढ़ाना आरम्भ किया और धार्मिक विवाद की पुस्तकें भी छपानी प्रारम्भ कर दीं। बंगाल के सवर्ण हिन्दुओं के धर्म परिवर्तन से चमत्कृत और व्याकुल होकर राजा राममोहन राय और उनके कतिपय सहयोगियों ने १८२८ में ब्रह्मसमाज की स्थापना की

और गोष्ठियों तथा पत्र पत्रिकाओं में धार्मिक वाद विवाद [illegible] की धूम मच गई। उन्नीसवीं शताब्दी में धार्मिक विवाद और सामाजिक सुधार का युग था जिसमे ब्रह्म समाज, प्रार्थना-समाज, देव समाज, थियोसॉफिकल सोसाइटी तथा भारत धर्म महामण्डल आदि नानाविध मण्डलों और समाजों की हलचल मच रही थी। दूसरी ओर जन शिक्षा के क्रमिक प्रसार और प्रचार के कारण पाठ्य पुस्तकों के निर्माण की आवश्यकता बढ़ रही थी। पाठ्य-पुस्तक के रूप में ही 'प्रेमसागर' और 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना हुई थी। व्याकरण और शब्दकोष की अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुई। पादरी आदम साहब का शब्दकोष और व्याकरण बहुत दिनों तक चलता रहा। फिर काशी के पादरी एथरिंगटन साहब का 'भाषा भास्कर' (व्याकरण) और फैलन साहब का शब्दकोष प्रकाशित हुआ, जो बहुत दिनों तक पाठ्य-पुस्तक के रूप में मान्य रहा। देशी लेखकों में पं० रामजसन, नवीनचन्द्र राय और पं० श्रीलाल का व्याकरण और मुंशी राधा-लाल का शब्दकोष लोकप्रिय हुआ। अन्य पाठ्य-पुस्तकों में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द का 'गुटका'—तीन भाग, 'इतिहास तिमिर नाशक'—तीन भाग, 'भूगोल हस्तामलक' और 'मानवधर्म सार' कई दशाब्दियों तक पाठ्यक्रम में निर्धारित रहे। बिहार में बहुत दिनों तक राजा शिवप्रसाद की ही पुस्तकें चलती रहीं बाद में मुंशी राधेलाल का 'भाषा बोध' बना। १८६७ में प्रेस एक्ट पास हो जाने पर कथा-कहानियों की पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगीं। जन-पाठशालाओं से साक्षर बनकर निकली जनता की पढ़ने की भूख जग गई थी और उसकी तृप्ति आवश्यक थी। इसीके लिए कथा कहानियों की भरमार होने लगी। संस्कृत, अंगरेजी और बँगला से अनुवाद भी प्रकाशित होने लगे। इन सब हलचलों में साहित्यकारों की रुचि नहीं थी, क्योंकि परम्परा से छन्दबद्ध रचना को ही सत्साहित्य के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त थी। अँगरेजी साहित्य में गद्य-साहित्य बहुत विकसित हो गया था और उसमें नाटक, उपन्यास, निबन्ध और आलोचना को उच्च साहित्य का अंग स्वीकार किया जाता था। अँगरेजी से प्रेरणा ग्रहण करके बँगला में भी उच्चकोटि के नाटक, उपन्यास और निबन्ध लिखे जा रहे थे। बंकिमचन्द्र के प्रथम विशिष्ट उपन्यास 'दुर्गेशनन्दिनी' ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने गदाधरसिंह से उसका अनुवाद करवाया और पहली बार उन्होंने अनुभव किया कि गद्य में भी सत्साहित्य का निर्माण किया जा सकता है। १८७३ में गद्य में सत्साहित्य के निर्माण के लिए ही उन्होंने हरिश्चन्द्री हिंदी चलाई।

उससे पहले के कवि-वचन सुधा के माध्यम से केवल पद्यबद्ध रचना को ही सत्साहित्य की श्रेणी में परिगणित करते थे। अस्तु १८७३ से हिन्दी साहित्य में दो भाषाओं को मान्यता प्राप्त हुई—गद्य के लिए खड़ी बोली और काव्य के लिए ब्रजभाषा। पत्र पत्रिकाओं के माध्यम से भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने निबन्धों और नाटकों की रचना प्रारम्भ की और क्रमशः उपन्यास, आलोचना और कहानी भी पीछे नहीं रहे। बंगला और अंग्रेजी के अनुवाद और फिर मौलिक गद्य रचनाएं होने लगी और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते तक गद्य-साहित्य ने पर्याप्त प्रौढ़ता और लोकप्रियता प्राप्त कर ली।

भारतेन्दु युग की सबसे प्रमुख देन गद्य की भाषा का निर्माण और गद्य साहित्य का प्रचलन और प्रसार था। १८९८ में अम्बिकादत्त व्यास ने गद्य-काव्य मीमांसा नामक लक्षण ग्रन्थ लिखकर इस साहित्य को मान्यता प्रदान की। परन्तु भारतेन्दु की मृत्यु के २८ ३० वर्ष बाद भी गद्य को काव्य का गौरव प्राप्त नहीं हो सका। १८७३ ई० से ही निबन्धों की रचना होने लगी थी, परन्तु विशिष्ट अवसरों पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त आदि साहित्यकार निबन्ध रचना भी छंदबद्ध ही किया करते थे। भारतेन्दु का हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान एक निबन्ध ही है, जो जून १८७७ ई० में प्रयाग की हिन्दी वर्द्धिनी सभा में पढ़ा गया था। इसी प्रकार महावीरप्रसाद द्विवेदी की पद्य रचनाएं—कान्यकुब्ज अबला विलाप तथा 'ठहरौनी'—जो कान्यकुब्ज सभा के अधिवेशन के अवसर पर पढ़ी गई पद्य-बद्ध निबन्ध ही कही जा सकती हैं। कलकत्ता हिन्दी साहित्य-सम्मेलन (१९१२) के अवसर पर सभापति पद से भाषण देते हुए बदरीनारायण चौधुरी प्रेमघन ने अपने व्याख्यान का कुछ अंश छन्दबद्ध सुनाया था। इसी प्रकार मैथिलीशरण गुप्त की अनेक प्रारम्भिक रचनाएं, जिनमें भारत भारती की भी गणना की जा सकती है—पद्यबद्ध निबन्ध के अतिरिक्त और क्या हैं? वे सभी बातें गद्य में अधिक तर्कसंगत और प्रभावशाली ढंग से लिखी जा सकती थीं परन्तु छंदबद्ध होने के कारण उन्हें जो गौरव प्राप्त हुआ, गद्य में लिखी जाने पर उन्हें वह महत्त्व प्राप्त नहीं होता। उस युग के नाटकों में इसी कारण कविता की भरमार होती थी। प्रसाद जी के सज्जन और कल्याणी परिणय एकांकी नाटकों में छंदबद्ध संवाद मिलते हैं। उपन्यास सम्पूर्णतः गद्य में लिखे जाते थे, परन्तु सत्साहित्य में उनकी गणना नहीं होती थी। सब मिलाकर द्विवेदी युग तक गद्य साहित्य में पर्याप्त प्रौढ़ता और प्रसार के पश्चात् भी उसके

साहित्यिक महत्त्व में बहुत कम वृद्धि हुई। बालमुकुन्द गुप्त, सरदार पूर्णसिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, माधवप्रसाद मिश्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी अपनी गद्य रचनाओं में गद्य की गरिमा सम्पन्न बनाने का कार्य अवश्य कर रहे थे और उसमें वे कुछ सीमा तक सफल भी हुए, परन्तु द्विवेदी-युग तक साहित्य में पद्य का साहित्य ही महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। गद्य का महत्त्व छायावाद युग में ही पहले पहल समझा गया जब उपन्यास, निबन्ध, कहानी, नाटक और आलोचना ने पर्याप्त गौरव प्राप्त किया। प्रेमचंद के 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' उपन्यासों ने, प्रसाद के 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' आदि नाटकों ने, प्रसाद और प्रेमचन्द की कहानियों, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास और पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों और आलोचनाओं ने तथा राय कृष्णदास, वियोगी हरि तथा चतुरसेन शास्त्री के गद्य गीतों ने पहली बार गद्य के माध्यम को महत्ता प्रदान की। फिर भी गद्य को पर्याप्त गौरव मिलने पर भी छायावाद-युग में कविता की तुलना में वह हीन ही माना जाता रहा है। गद्य का वास्तविक गौरव प्रगति प्रयोगवाद युग में ही देखने को मिलता है जब उपन्यास, कहानी, निबन्ध और नाटक को भी काव्य के तुल्य ही गौरव प्राप्त होने लगा। १९४० से पूर्व मंगलाप्रसाद पारितोषिक सर्वदा काव्य ग्रन्थों पर ही मिलता रहा, १९४० में शुक्ल जी की 'चिन्तामणि' पहली गद्य रचना थी जिसे यह गौरव प्राप्त हुआ और तब से आज तक किसी काव्य-ग्रन्थ पर यह पारितोषिक नहीं मिला। आधुनिक युग गद्य साहित्य के क्रमशः विकासमान गौरव का युग है जब कि महाकाव्यों का गौरव उपन्यासों ने प्राप्त कर लिया है और निबन्ध तथा आलोचना गीति तथा मुक्तकों से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

आधुनिक युग में गद्य का क्रमिक गौरव शिक्षा के विस्तार के कारण हुआ। जन शिक्षा के प्रसार से गद्य को मान्यता प्राप्त हुई। प्रारम्भिक पाठशालाओं में शिक्षित और साक्षर जनता की जो पढ़ने की भूख जाग पड़ी, उसके लिए कथा कहानियाँ, हास्य व्यंग और धर्मनीति शिक्षा की पुस्तकें प्रकाशित होने लगीं जो सभी की सभी प्रायः गद्य में लिखी जाती थीं। भारतेन्दु युग में गद्य साहित्य का जन्म कुछ इसी उद्देश्य से हुआ था। बीसवीं शताब्दी में शिक्षा का स्तर और ऊँचा उठा। इतिहास, पुरातत्त्व, दर्शन मनोविज्ञान, राजनीति और अर्थशास्त्र पर गम्भीर लेख लिखे जाने लगे और हिन्दी में स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं। पाठकों का ज्ञान क्षितिज विस्तृत हुआ और उसीके अनुरूप द्विवेदी युग में गद्य

की मान्यता बढ़ी। १९२०-२१ के पश्चात् विश्वविद्यालयों में उच्च कक्षाओं में हिन्दी को स्थान प्राप्त होने लगा। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने सबसे पहले आधुनिक भारतीय भाषाओं को विश्वविद्यालयीय स्नातक और स्नातकोत्तर शिक्षा में स्थान दिया, फिर काशी तथा प्रयाग में भी बी० ए० तथा एम० ए० की परीक्षा के लिए हिन्दी का अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ हुआ। इसके परिणामस्वरूप प्राचीन काव्य ग्रन्थों का सम्पादन, टीका, भाष्य और आलोचनाएँ लिखी जाने लगीं और समीक्षा सिद्धान्तों पर गम्भीर विचार विमर्श होने लगा, परीक्षार्थियों की सुविधा के लिए उच्च कोटि की साहित्यिक पुस्तकें लिखी जाने लगीं और गद्य रचना का स्तर उत्तरोत्तर ऊंचा उठने लगा। फिर संस्कृत, अँगरेजी, बंगला आदि से उच्च कलात्मक तथा उपयोगी साहित्य के अनुवाद भी बड़ी संख्या में प्रकाशित होने लगे जिससे हिन्दी के उपन्यास, नाटक, कहानी और निबंधों का स्तर ऊँचा उठने लगा। पिछले २८-३० वर्षों से जब कि स्नातकोत्तर शिक्षा में हिन्दी का विस्तार बढ़ने लगा और एम० ए० तथा पी-एच० डी० उपाधियों के लिए विविध साहित्यिक और भाषा विज्ञान सम्बन्धी विषयों पर प्रबन्ध (थीसिस) लिखे जाने लगे तब से गद्य के माध्यम ने उच्चतम गौरव प्राप्त कर लिया। आज हिन्दी में प्रबन्ध और आलोचना ग्रन्थों की जो भरमार हो गई है उसका बहुत-कुछ कारण उपाधि का मोह और प्रलोभन है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में गद्य का महत्त्व बढ़ने पर हिन्दी गद्य की भाषा खड़ी बोली का भी महत्त्व क्रमशः बढ़ने लगा और एक समय ऐसा भी आ उपस्थित हुआ जब खड़ी बोली को काव्य की भाषा बनाने का आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। १८८७ ई० में मुजफ्फरपुर बिहार के निवासी अयोध्याप्रसाद खत्री ने जब खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ किया तब शायद ही किसी को ऐसी आशा रही होगी कि ब्रजभाषा जैसी देवभाषा संस्कृत के समान गौरव प्राप्त भाषा को अपना महत्त्वपूर्ण आसन छोड़ना पड़ेगा जिस पर वह विगत चार सौ वर्षों से आसीन थी। ब्रजभाषा के माधुर्य का डंका चारों दिशाओं में बज रहा था। परन्तु केवल २५ वर्षों में ही खड़ी बोली ने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्याकाश को आच्छादित कर लिया। खड़ी बोली के काव्य की भाषा के रूप में ग्रहण किये जाने के कितने ही ऐतिहासिक कारण हैं। परन्तु उस युग की शिक्षित जनता ने जिस उत्साह से ब्रजभाषा की सरस अलंकृत कविता की अवहेलना करके खड़ी बोली की सामान्य और स्थूल तुकबन्दियों का स्वागत किया, वह साहित्य के इतिहास

मे एक अभूतपूव घटना है। युग की चेतना ग्रहण करने की क्षमता और युग के अनुरूप अपने को ढाल लेने की प्रवृत्ति हिन्दी की सवदा रही है और इसी कारण खडी बोली का आन्दोलन इतने कम समय मे भी अदभुत सफलता प्राप्त कर सका। फिर खडी बोली की अनगढ श्रुतिकटु और खुरदरी भाषा न जो सुडौल पन, माधुय और ओज केवल १०-१२ वर्षों मे प्राप्त कर लिया वह भी कुछ कम आश्चयजनक नही है। १९१२ म प्रकाशित 'भारत भारती' की तुलना १९२४ मे रचित पत की रचना 'परिवतन' से करके देखने से पता चलेगा कि दोना म आकाश पाताल का अन्तर है और इस दूरी को केवल १२ वष क समय मे ही पार कर लिया गया। छायावाद युग मे गद्य और काव्य दोना की भाषा मे सास्कृतिक सुरुचि और सम्पन्नता तथा लाक्षणिक विविधता मिलती है। परन्तु फिर १२-१५ वष मे ही साहित्य ने एक और करवट ली और प्रगतिवादी युग की काव्य की भाषा 'भैंसागाडी', 'कुकुरमुत्ता' और 'नये पत्ते' मे कितनी स्थूल और सामान्य बन गई।

प्रयोगवाद और नई कविता के युग म आकर काव्य की भाषा न फिर एक करवट ली। आज की भाषा म जो नये नये बिम्ब (इमेजरी) निर्माण की प्रवृत्ति बढ चली है उसने भाषा का एक मूर्तिमत्ता और व्यजना शक्ति दी है। पिछले ७०-७५ वर्षों की हिन्दी-काव्य की भाषा म कितने ही उतार चढाव देखे जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ से लेकर आधुनिक युग तक सात आठ शताब्दिया के इतिहास मे हिन्दी-काव्य की भाषा म इतने उतार चढाव और परिवतन नही मिलेंगे जितने पिछले ७० ७५ वष के इतिहास म। आधुनिक हिन्दी साहित्य निरन्तर गतिशील जीवन का एक जीवन्त चित्र है।

३

आधुनिक हिन्दी साहित्य म जो इतन क्रान्तिकारी परिवतन दिखाई पडते है उसका प्रधान कारण १९वी शताब्दी मे एक नवीन सस्कृति का उदय और प्रारम्भ था। भारतवष म, अति प्राचीनकाल म ब्राह्मण सस्कृति का (जिसे तपोवन सस्कृति नाम भी दिया जा सकता है) बोलबाला था। हमारे कवि दाशनिक, शास्त्र निर्माता ऋषि, नत्य-सगीत अभिनय शास्त्र के आविष्कर्ता, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द शास्त्र यहा तक कि कामसूत्र के रचयिता सभी ऋषि और ब्राह्मण थे। 'वाल्मीकि रामायण' की रचना तपोवन म हुई थी। कालान्तर मे मौय साम्राज्य की स्थापना होन पर एक नवीन सस्कृति का उदय हुआ जिसे

क्षत्रिय संस्कृति अथवा राजन्य संस्कृति का नाम दिया गया है। इस संस्कृति के अन्तर्गत कवि, दार्शनिक, ज्योतिषी, कलाकार सभी राज-दरबारों के 'रत्न' बन गए थे और राजा के आश्रय में रहकर राजा के लिए काव्य, नाटक, संगीत तथा शास्त्र की रचना करके उनका प्रसादन, मनोरंजन करने लगे और चारण गण उनके यश का गान विस्तार करने में लग गए। यूरोपीय व्यापारियों के भारतवर्ष में प्रवेश पाने पर एक तीसरी संस्कृति का उदय हुआ, जिसे अन्य उपयुक्त नाम के अभाव में वैश्य संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। इस संस्कृति की रीढ़ व्यापार और व्यवसाय है। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इस संस्कृति का उदय और विकास हुआ और यूरोपीय व्यापारी जहाजों ने इस संस्कृति का विस्तार अन्य द्वीपों और महाद्वीपों में कर दिया। भारतवर्ष में इस संस्कृति के फैलने पर क्रमशः रेल, तार, डाक की नवीन व्यवस्था हुई, मुद्रण यंत्र का प्रचार हुआ। औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना से नगरों का उदय हुआ और क्रमशः जन शिक्षा के साथ साथ न्याय विधान व्यवस्था तथा प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली का प्रसार होने लगा। १६वीं शताब्दी के अन्त तक सारा देश एक नूतन सांस्कृतिक आन्दोलन से आन्दोलित हो उठा।

उत्तर मध्यकाल में भारत की राजनीतिक अवस्था के साथ ही धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्थिति भी शोचनीय और चिन्तनीय थी। एक ओर नग्नता और विलासिता वृद्धि पर थी तो दूसरी ओर साहित्य और कला—संगीत, नृत्य अभिनय—आदि कलाएँ ह्रास की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। भारत की प्राचीन संगीत परम्परा लुप्तप्राय हो चली और उसके स्थान पर टप्पा, ठुमरी, दादरा खेमटा, ख्याल और लावनी आदि निम्नकोटि के बाजारू संगीत वातावरण में गूंज रहे थे। 'संगीत सार' शीर्षक अपने लेख में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने बड़े दुःख से लिखा है कि "अब भारतवर्ष का सम्पूर्ण संगीत केवल कजली ठुमरी पर आ रहा है।"[१] परन्तु १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्राचीन संगीत परम्परा का पुनरुत्थान प्रारम्भ हुआ। बंगाल के राजा यतीन्द्रमोहन ठाकुर तथा शौरीन्द्र मोहन ठाकुर ने इस विद्या की बड़ी वृद्धि की। क्षेत्रमोहन गोस्वामी और कृष्णधन बनर्जी ने भी संगीत की शिक्षा और विधान पर पुस्तकें लिखीं। दूसरी ओर बम्बई प्रान्त के विष्णु दिगम्बर और भातखंडे ने संगीत की लुप्तप्राय परम्परा का पुनरुज्जीवित किया। दिगम्बर ने लाहौर में गान्धर्व महाविद्यालय की स्थापना

१ 'भारतेन्दु ग्रन्थावली', तृतीय खंड, प्रथम संस्करण, पृ० ६०५।

की। उसकी देखादेखी अन्य केन्द्रों में संगीत विद्यालयों की स्थापना हुई और एक-बार फिर शास्त्रीय संगीत की गूंज भारत के कोने-कोने में गूंज उठी।

संगीत के ही समान नृत्य और शास्त्रीय परम्परा भी अपनी अधोगति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। नर्तकी और अभिनेता नट समाज में अत्यन्त हेय दृष्टि से देखे जाते थे और इसी कारण नृत्य और अभिनय-कला भद्र समाज में गर्हित थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नाटकों के प्रचार के प्रयत्न में इसी कारण कठिनाई का सामना करना पड़ा। परन्तु बीसवीं शताब्दी के आते आते नृत्य और अभिनय कला का भी पुनरुत्थान हुआ। आज कथकली, मणिपुरी, कत्थक और भरतनाट्यम नृत्य की विविध शैलियों का प्रचार बढ़ रहा है और अभिनय की ओर भी भद्र समाज की रुचि बढ़ रही है। उन्नीसवीं शताब्दी में चित्रकला की दशा भी गिरती जा रही थी। चित्रकला में भारत की प्राचीन परम्परा बड़ी ही गौरवपूर्ण रही है। 'शकुन्तला नाटक' में दुष्यंत द्वारा शकुन्तला के चित्र-अंकन का विस्तृत विवरण मिलता है। फिर पुरातत्त्व की खोज में एलोरा और अजंता की गुफाओं में चित्रित भित्ति चित्र तथा मध्यकाल की मुगल शैली, राजपूत-शैली और पहाड़ी कलम की चित्र रचनाओं में जो सौन्दर्य और निखार है, वह अतुलनीय है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के कुछ पूर्व से ही चित्रकला के पुनरुत्थान की ओर कुछ मनीषियों की दृष्टि गई और कलकत्ता स्कूल आफ आर्ट में की स्थापना से फिर इस कला को नवजीवन प्रदान किया जाने लगा। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा उनकी शिष्य मंडली ने चित्रकला का पुनरुद्धार किया। कलकत्ता के अतिरिक्त पटना, लखनऊ, लाहौर में भी आर्ट स्कूल और संस्थान स्थापित हुए और चित्रकला की गौरवपूर्ण परम्परा का प्रचलन नए सिरे से हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'विश्वभारती' सभी ललित-कलाओं का तथा विशेषकर चित्रकला का विशिष्ट केन्द्र बन गई है।

ललित कलाओं के पुनरुत्थान और पुनरुज्जीवन के साथ ही प्राचीन साहित्य के शोध और प्रकाशन का कार्य भी आधुनिक युग में हुआ। १७८४ ई० में सर विलियम जोन्स ने इसी उद्देश्य से 'एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' नामक एक विद्वत सभा की स्थापना की थी, जो आगे चलकर भारतीय साहित्य और विद्या के उद्धार में कितने ही महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकी। सर विलियम ने बड़े प्रयत्न और धैर्य से संस्कृत पढ़कर 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का अंग्रेजी अनुवाद किया। शकुन्तला के अनुवाद ने समूचे यूरोप में एक हलचल मचा दी और जर्मनी

ने महाकवि गेटे की उल्लासोक्ति[1] । सम्पूर्ण विद्वत्समाज को चकित कर दिया। फिर तो महाकवि कालिदास के सम्पूर्ण साहित्य का अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। मेघदूत ने जर्मनी के दूसरे महाकवि शिलर को बहुत प्रभावित किया और उन्होंने उसके अनुकरण पर एक सन्देश-काव्य अपनी भाषा में लिख डाला। कालिदास के अतिरिक्त अन्य कवियों के काव्य और नाटक भी अनूदित होने लगे। ग्रिफिथ साहब ने वाल्मीकि रामायण का अंग्रेजी में उत्तम छन्दबद्ध अनुवाद किया। सर एडविन आर्नाल्ड ने अश्वघोष के 'बुद्ध चरित' के आधार पर 'लाइट आफ एशिया' नामक एक काव्य में भगवान् बुद्ध का गौरव गान किया। मैक्समूलर ने बुद्ध आख्यानों का अनुवाद कर एडविन आर्नाल्ड तथा अन्य विद्वानों ने भी किया। प्राचीन भारतीय साहित्य की खोज और उसके प्रकाशन और अनुवाद कार्य के हित कोलब्रुक ने १८२३ ई० में लन्दन में 'रायल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना की।

बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने प्राचीन ग्रन्थों और हस्तलेखों के संग्रह का भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कहा जाता है कि अकेले कोलब्रुक साहब ने पुरानी पोथियों के संग्रह में दस सहस्र पौंड से अधिक व्यय किया। पुरानी पोथियों की खोज में डॉ० बूलर का श्रम भी अभिनन्दनीय है। इन विद्वानों के परिश्रम से संख्यातीत प्राचीन पुस्तकों का, जो विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई थीं, पुनरुद्धार हुआ। हिन्दी भाषा की पुस्तकों की खोज भी इन विद्वानों ने की। कर्नल जेम्स टाड और टेसीटरी ने राजस्थान में घूम घूमकर प्राचीन डिंगल और पिंगल के कितने ही काव्य उपलब्ध किए। पुरानी पोथियों में से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्पादन, प्रकाशन और अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाश में आने लगे। अंग्रेज विद्वानों के इसी श्रम की ओर संकेत करते हुए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने देशवासियों को उद्बोधित किया था

---

[1] महाकवि गेटे की उल्लासोक्ति का अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार है

Wouldst thou see spring's blossoms and the fruits of its decline,
Wouldst thou see by what the souls enraptured feasted fed,
Wouldst thou have this earth and heaven in one sole name combine,
I name thee oh Sakuntala! and all atonce is said

—द्विजेन्द्रलाल राय द्वारा प्रणीत 'कालिदास भी भवभूति' ग्रन्थ से उद्धत।

आल्हा बिरहहु को भयो अँगरेजी अनुवाद

और भारतवासियों की भी निद्रा भग हुई। फलत प्राचीन साहित्य की खोज, सग्रह, अनुवाद और प्रकाशन मे भारतीय विद्वान् भी जुट गए। उदयपुर के कृष्णानन्द देव व्यास 'रागसागर' ने उत्तर भारत मे बिखरे वैष्णव कवियों के असख्य पदों का सग्रह किया, जो १८४३ ई० मे 'रागकल्पद्रुम' के नाम से तीन जिल्दों मे प्रकाशित हुआ। अनुवाद का काय राजा लक्ष्मणसिंह ने प्रारम्भ किया और १८६१-६३ मे उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वय 'धनजय विजय', 'पाखण्ड विडम्बन' और 'रत्नावली' का अनुवाद किया और उनकी प्रेरणा से गदाधरसिंह ने 'कादम्बरी' का अनुवाद किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने बाद मे 'मेघदूत' और 'रघुवश' का भी अनुवाद किया। सस्कृत से अनुवाद काय मे अवधवासी लाला सीताराम का योग भी कम नही रहा। उन्होंने कालिदास की सभी रचनाओं का हिन्दी अनुवाद तो किया ही, साथ ही भवभूति और हर्ष के नाटकों का भी अनुवाद प्रस्तुत किया। द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी ने 'वाल्मीकि रामायण' का गद्य मे अनुवाद किया और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'रघुवश' और 'किरातार्जुनीय' का गद्यमय तथा 'कुमारसम्भवसार' पद्यबद्ध अनूदित किया। सत्य-नारायण कविरत्न ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' और 'मालती माधव' का बहुत सुन्दर अनुवाद किया। इसी प्रकार भास, शूद्रक, भट्टनारायण के नाटकों के भी अनुवाद प्रस्तुत किये गए। क्रमश प्राचीन काव्य, नाटक, आख्यायिका और काव्य-शास्त्र की सख्यातीत पुस्तकों के प्रकाशन और अनुवाद से युग की साहित्य चेतना समृद्धि पाने लगी।

यद्यपि भारतीय पुरातत्त्व विभाग की स्थापना १८५७ मे हुई परन्तु पुरातत्त्व का काय पूर्ण निष्ठा से भारत की एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के साथ ही होने लगा। भारत मे प्राचीन विद्याएँ क्रमश लुप्त होती जा रही थी। प्राचीन शिलालेखों के पढने मे भारत का पडित समाज असमर्थ था। सर विलियम जोन्स ने अशोक की लिपियों की छाप काशी के हाकिम के पास इस आशा से भिजवाई कि वहा के विद्वान कहे जाने वाले पडित उस प्राचीन लेख को पढकर उसका अर्थ समझा सकेंगे, परन्तु काशी मे एक भी पडित वह लेख न पढ सका। एक पडित ने अवश्य उस लेख को युधिष्ठिर के गुप्त वनवास का लेख कहकर मनमाना अर्थ कर दिया और पुरानी लिपियों की एक जाली पोथी भी तैयार कर दी। उन प्राचीन लेखों के पढने का सफल प्रयत्न अंग्रेज विद्वानों ने ही किया। १८३४ मे कप्तान

इस सास्कृतिक पुनरुत्थान का सामूहिक प्रभाव हिन्दी माहित्य के छायावाद-युग मे स्पष्ट परिलक्षित होता है। द्विवेदी-युग के पश्चात अचानक जो माहित्यिक वैभव सम्पन्नता का स्वणयुग जगमगा उठा उसके मूल में समचे राष्ट्र की विगत एक अद्धशताब्दी की सास्कृतिक हलचले और गतिविधिया थी। बौद्धदशन का दु खवाद, शवदशन का आनन्दवाद, वदात की असग निर्लिप्तता, उपनिषदो की सहज और काव्यात्मक अनुभूतिया हम प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी की गीतिया म मुखरित मिलती है। पुरातत्त्व की मूल्यवान उपलब्धियो ने प्रसाद के ऐतिहासिक नाटको का वातावरण सँवारा। प्रसाद की प्रसिद्ध कहानी 'आकाश दीप' का सास्कृतिक परिवेश, बाली, जावा, सुमात्रा मे प्राप्त प्राचीन भारतीय सस्कृति के अवशेषो के आधार पर निर्मित है। छायावादी साहित्य म प्राचीन सस्कृति की अनुगूज है, उसमे काव्यात्मक सरसता और सास्कृतिक सुरुचि है। छायावाद मूलत काव्य का युग था।

प्रथम महायुद्ध (१९१४–१८) के पश्चात सास्कृतिक आन्दोलन की हलचल मन्द पड गई और राजनीतिक आन्दोलन मे ज्वार आ गया। यो तो १९०५ ई० मे बग विच्छेद के बाद ही राजनीतिक आन्दोलन म उग्रता आ गई थी और स्वदशी आन्दोलन के परिणामस्वरूप शिक्षित वग मे राजनीतिक चेतना बढ रही थी, परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राजनीतिक चेतना का क्षेत्र शिक्षित वग को पार करके अद्धशिक्षित और अशिक्षित वग तक भी बढ गया। महात्मा गाधी के काग्रेस का नेतत्व ग्रहण करने के पश्चात दो देशव्यापी आन्दोलन हुए–एक १९२१-२२ मे असहयोग आन्दोलन, दूसरा १९३०-३२ मे नमक सत्याग्रह, जिन्होने देश के कोने कोने मे राजनीतिक चेतना की लहर फला दी। इन अहिंसक आन्दोलनो मे जहा एक ओर उच्च नैतिकता की रक्षा की गई वहा दूसरी ओर दृढता और निर्भीकता भी कम न थी। युग की राष्ट्रीय भावना और एकनिष्ठ देश भक्ति को बाहर के स्वातन्त्र्य सग्राम से पर्याप्त प्रेरणा मिली। इटली तथा आयरलैंड क मजिनी, गरीबाल्डी, मक्सिनी आदि देशभक्तो का आदश हमारे सामने था और रूम की १९१७ की रक्तमय क्रान्ति की गूज भी हमारे कानो म पहुँच चुकी थी। इस व्यापक राजनीतिक चेतना के परिणामस्वरूप छायावाद की दाशनिक स्वप्निलता अधिक समय तक न ठहर मकी और शीघ्र ही हमे वतमान जीवन की विवशता और दयनीयता का अनुभव हुआ। प्रगतिवादी युग का साहित्यकार काव्य की कोमल कमनीयता और अलकारिता को भूलकर चीत्कार कर उठा।

कूटनीतिक चेतना ने आदर्शवादी सरसता और रमणीयता का गला घाट दिया और यथार्थ, खरा यथार्थ, घोर यथार्थ मूर्तिमन्त हो उठा। आज का साहित्य केवल सहृदय और रसिक पाठकों के लिए ही नहीं है, वह सभी के लिए है। इसी कारण आज काव्य साहित्य का महत्त्व क्षीण से क्षीणतर होता जा रहा है और गद्य का माध्यम अधिक सक्षम और समर्थ हो उठा है। आज बौद्धिक गद्यात्मकता का युग है।

आधुनिक युग साहित्य रूपों के वविध्य विस्तार का युग है। इस युग में हिन्दी साहित्य की जो वृद्धि हुई, वह मध्यकालीन पर्वत वृद्धि के स्थान पर वृक्ष-वृद्धि के रूप में हुई। रीतिकाल में केवल काव्य साहित्य का निर्माण हुआ और काव्य साहित्य में भी अधिकांश मुक्तकों की पर्वत वृद्धि की एकरूपता और एकरसता मिलती है, परन्तु आधुनिक युग में उसके स्थान पर साहित्य की वृक्षवत अगणित शाखाएँ और उपशाखाएँ सभी दिशाओं में फली और बढ़ती दिखाई पड़ती है। साहित्य का माध्यम पहले केवल पद्य था, आधुनिक युग में गद्य का माध्यम विकसित हुआ और हिन्दी साहित्य रूपी वृक्ष दो प्रधान शाखाओं में फूट पड़ा। फिर प्रत्येक शाखा में अनेक साहित्य रूपों के रूप में विविध उपशाखाओं का विस्तार हुआ और उन उपशाखाओं में भी छोटी-बड़ी डालियाँ और टहनियाँ निकल पड़ीं। आज हिन्दी एक विशाल वट वृक्ष के समान वर्द्धिगत और प्रसरणशील है।

इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तन के मूल में आज के लिपिक-प्रधान युग की कुछ अनिवार्य आवश्यकताएँ थीं। अंग्रेजों के शासन प्रबन्ध में लिखित प्रमाण और संहिताबद्ध विधान का महत्त्व बढ़ने लगा और प्राचीन युग से मान्य दृश्य और श्रव्य साहित्य के स्थान पर लिखित और पाठ्य साहित्य का प्रचार बढ़ने लगा। मध्य-काल में साहित्य जब राजसभाओं और राजदरबारों तक ही सीमित था, वह केवल श्रव्य था (दृश्य साहित्य का भी अभाव हो गया था), परन्तु जब मुद्रण यन्त्र की सहायता से साहित्य शिक्षित और साक्षर जनता तक पाठ्य सामग्री के रूप में पहुँचने लगा तब साहित्य के रूप, रंग, प्रयोजन सभी में मौलिक अन्तर आने लगा। प्रेषणीयता की दृष्टि से श्रव्य और दृश्य की अपेक्षा पाठ्य साहित्य ही इस युग का प्रमुख साहित्य है।

आधुनिक युग में श्रव्य साहित्य की परम्परा क्रमशः क्षीण होने लगी। राज-सभाओं का महत्त्व क्षीण होने के साथ ही लोकाश्रित ग्राम-गीतों की परम्परा का विकास हुआ और रामलीला, रासलीला, आल्हा, संगीत, भगत, लावनी आदि के

रूप में श्रव्य साहित्य की परम्परा सजीव रही।

भारतेन्दु युग में काव्य गोष्ठियों—कवितावर्द्धिनी सभा, कवि समाज आदि की स्थापना हुई जहाँ समस्या-पूर्तियों की धूम थी। बीसवीं शताब्दी में सभा समाज के स्थान पर कवि सम्मेलनों का प्रचलन बढ़ा। श्रव्य काव्य और साहित्य की क्रमशः क्षीण होती इस परम्परा को आकाशवाणी ने फिर से नवजीवन प्रदान किया। १९४७ के पश्चात भारत के स्वतन्त्र होने और हिन्दी के राजभाषा पद पर मनोनीत होने के फलस्वरूप आकाशवाणी में हिन्दी के कार्यक्रमों के विस्तार के साथ कवि गोष्ठियों की व्यवस्था होने लगी जिनमें कविगण अपनी काव्य रचना का सस्वर पाठ करने लगे और दूर-दूर तक फैले श्रोतागण उसका आनन्द प्राप्त करने लगे। काव्य ही नहीं—विचारव्यंजक और व्यक्तिव्यंजक आलोचना, जीवनी संस्मरण रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रा विवरण आदि सभी आकाशवाणी द्वारा प्रसारित होकर श्रव्य साहित्य के रूप में श्रोताओं को ज्ञान-बोध और रस बोध कराते रहते हैं।

आकाशवाणी ने प्राचीन दृश्य काव्य और दृश्य-साहित्य को भी श्रव्य-काव्य और साहित्य बनाकर नए रूप में उपस्थित किया। दृश्य काव्यों के लिए प्राचीन आचार्यों द्वारा जो चार प्रकार के अभिनय बताए गए हैं, उनमें आंगिक, आहार्य तथा सात्विक अभिनय तो दृश्य के अन्तर्गत आते हैं, केवल वाचिक अभिनय श्रव्य हुआ करता है। इस वाचिक अभिनय में भी संवाद अथवा वार्तालाप के अतिरिक्त स्वगत पृथक अपवारित और आकाश भाषित को शुद्ध श्रव्य नहीं कहा जा सकता, उनमें दृश्य तत्त्व भी कुछ सीमा तक निहित है। आकाशवाणी द्वारा प्रसारित रूपकों में दृश्य को श्रव्य-साहित्य का रूप देने के लिए प्रायः एक सूत्रधार की अवतारणा करनी पड़ती है जो आंगिक, आहार्य और सात्विक अभिनयों की सूचना श्रोताओं को बीच-बीच में देता रहे। केवल संवादों की स्वर-लहरी के आरोह अवरोह तथा स्वर भंगिमा के कौशल से रूपक और नाटक जैसे दृश्य-साहित्य का आभास श्रव्य-साहित्य में दिया जाता है। आकाशवाणी ने श्रव्य साहित्य को पर्याप्त विस्तार करके उसे एक अभिनव क्षमता और गरिमा दी है।

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ में ही दृश्य-काव्यों के प्रतिनिधि नाटकों और रूपकों का एक प्रकार से लोप ही हो गया था। १२वीं १३वीं शताब्दी में विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा मन्दिरों और राजप्रासादों के ध्वंस के कारण राष्ट्रीय रंगमंच भी ध्वस्त हो गया और शासक मुसलमानों की धार्मिक मान्यता के कारण

अभिनय के प्रति अवहेलना और उपेक्षा तथा शासित निराश तथा हताश हिन्दू जनता की विरक्ति भावना के कारण नाटय साहित्य शताब्दियों तक पनप ही न सका। आधुनिक युग मे अंग्रेजी फ्रेंच नाटय साहित्य तथा रंगमंच की प्रेरणा से पहले बंगला मे और फिर बंगला की देखादेखी हिन्दी मे भी नाटको की रचना होने लगी। भारतेन्दु से पूर्व के दो तीन नाटक श्रव्य और पाठ्य रूप मे रचित माने जा सकते है, अभिनय योग्य वे किसी भी प्रकार नही है। भारतेन्दु युग मे भारतेन्दु के प्रभाव से नाटय साहित्य का उदय हुआ और अभिनय कला के प्रति जनता की हेय भावना पर भी क्रमश विजय प्राप्त कर ली गई। पारसी थिएट्रिकल कम्पनियो ने एक रंगमंच की स्थापना उसी समय कर ली थी जो शेक्सपीयर-कालीन ब्रिटिश रंगमंच का कुछ विकसित रूप था। भारतेन्दु-उससे भिन्न एक ऐसे रंगमंच की स्थापना करना चाहते थे जिस पर भारतीय परम्परा के अनुरूप साहित्यिक नाटक अभिनीत हो सकें। काशी, प्रयाग, कानपुर, अलीगढ और पटना तथा मुजफ्फरपुर मे भी रंगमंच की स्थापना हुई। भारतेन्दु काल मूलत नाटको का युग था, क्योकि उस काल मे जितने भी विशिष्ट साहित्यकार हुए, सबने प्राय नाटक अवश्य ही लिखे है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं सब मिलाकर मौलिक और अनूदित सत्रह नाटक लिखे। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, लाला श्रीनिवासदास, बदरीनारायण चौधुरी 'प्रेमघन', राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, केशवराम भट्ट, कार्तिकप्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, दामोदर शास्त्री सप्रे, तोताराम खड्गबहादुर मल्ल, गौरीदत्त, देवकीनंदन तिवारी, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, शालिग्राम वैश्य, ज्वालादत्त मिश्र आदि सबने नाटको की रचना अवश्य की। नाट्य रचना के प्रति उस युग मे अचानक अपूर्व उत्साह उमड पडा, जबकि थोडे ही दिनो पहले लोगो का नाटको के प्रति घोर उपेक्षा और अरुचि थी।[1]

भारतेन्दु युग के पश्चात् द्विवेदी-युग मे नाटक रचना के प्रति वह उत्साह नही रहा और जो थोडे से नाटक लिखे भी गए, रंगमंच की दृष्टि से वे सफल नही रहे। सच तो यह है कि भारतेन्दु युग के भी अधिकांश साहित्यिक नाटक दृश्य

१ प्रतापनारायण मिश्र ने १८८६ ई० में 'ब्राह्मण' पत्र में 'कानपुर और नाटक' लेख में लिखा था, "अनुमान १२ वर्ष हुए कि यहां के दि ...स्तानी भाई यह भी न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है।"

—'प्रतापनारायण ग्रन्थावली', प्रथम खंड, पृ० २०८।

परन्तु नाटको को उपन्यासो ने और एकांकियो को कहानियो ने लोकप्रियता प्राप्त नही करन दी। केवल कुछ विशिष्ट प्रतिभाओ—जैसे रामकुमार वर्मा उपेन्द्रनाथ अश्क, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट और विष्णु प्रभाकर आदि एकांकीकार और नाटककारो न नाटय साहित्य को जीवित रखा, नही तो पाठय-साहित्य के रूप मे कथा साहित्य और आकाशवाणी के श्रव्य-साहित्य म दृश्य साहित्य के लिए कोई अवकाश ही नही रखा।

श्रव्य और दृश्य-साहित्य की तुलना म आधुनिक युग म पाठय साहित्य की प्रमुखता और बहुलता दोनो ही उल्लेखनीय ह। जन शिक्षा क लिए स्थापित पाठशालाओ से पढकर निकले ग्राम और नगरो के कितने ही साक्षर व्यक्तियो को पुस्तको की आवश्यकता थी जिनकी सगति मे वे अपने अवकाश का समय काट सकें। उनके लिए मुद्रण यन्त्रो ने धडाधड पुस्तकें प्रकाशित करना प्रारम्भ किया, साथ ही पत्र पत्रिकाओ मे भी पर्याप्त पाठय सामग्री रहने लगी। इस प्रकार कथा वार्ता, लोकगीत, निबध आलोचना, धर्म नीति तथा यात्रा जीवनी सम्बन्धी प्रचुर साहित्य पाठय सामग्री के रूप मे प्रकाशित होने लगा। १९वी शताब्दी म नवोदित भद्र समाज के लिए मनोविनोद और मनोरजन के लिए पर्याप्त साधन सुलभ न होने के कारण सस्ती पुस्तको ने उस अभाव की पूर्ति की और नगरो उपनगरो म स्थापित पुस्तकालयो तथा वाचनालयो से पाठय साहित्य का उपयोग करने वालो की सख्या मे निरन्तर वृद्धि होने लगी।

पाठय साहित्य मे सर्वाधिक लोकप्रियता निश्चय ही कथा-साहित्य को प्राप्त हुई, क्योकि इस साहित्य के ऐतिहासिक रस का आस्वाद सर्वसामान्य के लिए रुचिकर हुआ। कथा साहित्य का उदय हिन्दी म उन्नीसवी शताब्दी की आठवी और नवी दशाब्दी मे हुआ। भारत मे कथा साहित्य का बहुत प्राचीन काल से पर्याप्त प्रचार रहा है, यद्यपि यह अधिकतर मौखिक परम्परा से हो रहा था और उसका रूप श्रव्य साहित्य था। आधुनिक युग मे इस श्रव्य साहित्य ने पाठय का रूप ग्रहण किया। परन्तु हमारे लेखको और पाठको को अपनी प्राचीन परम्परा के कथा साहित्य स ही पूर्ण स तोष न हुआ, पाश्चात्य कथा साहित्य का आकर्षण रोक सकना कठिन हो गया। बात यह थी कि आधुनिक शिक्षा के साथ ही हम लोगो ने पाश्चात्य समाज की बहुत सी विचार धाराएँ और वस्तुएँ ग्रहण की। भारतीय वेश भूषा के स्थान पर क्रमश पाश्चात्य वेश भूषा का महत्त्व और अनुकरण बढने लगा। खान पान म भी पाश्चात्य अनुकरण प्रारम्भ हुआ। उसी प्रकार

पाश्चात्य साहित्य रूपों का भी अनुकरण क्रमशः बढ़ने लगा। पहले नाट्य साहित्य की चर्चा हो चुकी है। अँग्रेजी और फ्रेंच नाट्य साहित्य और रंगमंच का प्रभाव भारतीय नाट्य साहित्य और रंगमंच पर पड़ा। उसी प्रकार उपन्यास-कहानी, निबंध आलोचना आदि पाठ्य साहित्य रूपों पर पाश्चात्य प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो गया। और इसका कारण भी था। यूरोप में मुद्रण-यन्त्र का प्रचार १५वीं १६वीं शताब्दी में हो ही चुका था और पिछले तीन सौ वर्षों से कथा-साहित्य, निबंध आलोचना, जीवन यात्रा आदि का पाठ्य साहित्य के रूप में नियमित विकास योरोपीय देशों में किया जा रहा था। अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब पाठ्य साहित्य के इन रूपों का विकास किया जाने लगा, तब पाश्चात्य साहित्य रूपों का, जो पाठ्य साहित्य की दृष्टि से कहीं अधिक व्यवस्थित और विकसित थे, प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। अस्तु, लाला श्रीनिवासदास ने १८८२ में, जब 'परीक्षा गुरु' (हिन्दी का पहला उपन्यास) पाश्चात्य अनुकरण पर लिखा तब उन्होंने स्वयं अनुभव किया कि "अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी।"[1] इसी प्रकार निबंध और आलोचना, कहानी और जीवन-चरित भी नई चाल के लिखे जाने लगे।

गद्य साहित्य के विविध साहित्य रूपों के लिए पाश्चात्य साहित्य का विशेषकर अँग्रेजी साहित्य का आदर्श ग्रहण किया गया। पाश्चात्य सभ्यता ने जैसे बाहरी वेश भूषा के महत्त्व को स्वीकार करके अनेक प्रकार की काट छाँट तथा निराली साज सज्जा के वस्त्राभूषणों की विविध अवसरों के अनुकूल व्यवस्था की, उसी प्रकार उसने काव्य और साहित्य में भी अनेक कला रूपों की अवतारणा की। पाठ्य साहित्य को मूलतः दो भेदों में विभाजित किया गया—ललित साहित्य और उपयोगी साहित्य। ललित साहित्य का उद्देश्य प्रायः मनोरंजन करना अथवा मनोरंजन के साथ शिक्षा देना हुआ करता है जब कि उपयोगी साहित्य का प्रयोजन ज्ञानवर्द्धन करना और सोचने की प्रवृत्ति और क्षमता को जगाना होता है। हिन्दी में उपयोगी साहित्य का नितान्त अभाव था, परन्तु आधुनिक युग में उपयोगी साहित्य और ललित साहित्य दोनों का विकास हुआ और उनकी स्वतन्त्र परम्परा चल पड़ी। ललित साहित्य के अन्तर्गत हिन्दी पाठ्य साहित्य में उपन्यास,

---

१ अब तक नागरी और उर्दू भाषा में अनेक तरह की अच्छी-अच्छी पुस्तकें तैयार हो चुकी है, परन्तु मेरे जाने इस रीति से कोई नहीं लिखी गई इसलिए अपनी भाषा में यह नई चाल की पुस्तक होगी।

कहानी, निबन्ध और आलोचना—ये चार रूप विशेष महत्त्वशाली और विकासशील हैं।

आधुनिक युग में उपन्यासों ने अत्यधिक महत्ता और लोकप्रियता प्राप्त की है। प्राचीन युग में नाटकों की लोकप्रियता आज उपन्यासों ने छीन ली है, कारण नाटक स्वभाव से ही परतन्त्र है—उनकी सफलता रंगमंच तथा अभिनेताओं के कौशल पर निर्भर करती है। दृश्य साहित्य की सीमाओं और असुविधाओं से युक्त नाटकों का गौरव और उसकी लोकप्रियता, प्रेस की सुविधा के कारण लघु प्रयास और सामान्य व्यय में प्राप्त उपन्यासों ने प्राप्त कर ली। साथ ही प्रजातन्त्र के विकास से यह प्रजातन्त्र का प्रतिनिधि साहित्य रूप महाकाव्य के गौरव से भी युक्त होने लगा। उपन्यास एक साथ ही आज का जेबी थियेटर और युग का महाकाव्य है। इसमें महाकाव्यों की व्यापकता और उदात्तता है साथ ही गीतिकाव्यों की हार्दिकता और आत्मीयता भी, नाटकों का संघर्ष बहुल कथा-तत्त्व और शील वैचित्र्य युक्त चरित्र-चित्रण भी उसने अपना लिया है, साथ ही इसमें युग और समाज की छोटी-बड़ी गहन गम्भीर समस्याओं का निदर्शन और निरूपण, विवेचन और आलोचन भी मिलता है। उपन्यास आज जैसे साहित्य की समस्त विशिष्टताओं का समन्वित रूप है।

आधुनिक कहानी ने आज के साहित्य में अपनी स्वतन्त्र सत्ता और निश्चित परम्परा बना ली है। अपने लघु विस्तार के कारण आज की कहानी न तो जीवन की समस्याओं का निदर्शन निरूपण कर सकती है, न समाज के प्रश्नों का कोई निश्चित उत्तर दे पाती है। समाज के, जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाल सकना भी उसके लिए सम्भव नहीं है, फिर भी अपने केन्द्रीकृत प्रकाश में जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष, किसी विशिष्ट परिस्थिति अथवा चरित्र के किसी विशिष्ट पहलू पर गहराई से देख सकना उसके लिए, केवल उसीके लिए सम्भव है। कहीं पर सुई तलवार से भी अधिक काम कर जाती है और कहानी वह सुई है जो ग्रामाफोन रेकर्ड में निहित संगीत को सरलता से उभाड़ सकती है। आज कहानी की अद्भुत क्षमता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। गद्य साहित्य के रूप में इस *'वामन' का कौशल कुछ कम प्रभावशाली नहीं है।*

निबन्ध लेखक और पाठकों के निकट परिचय का साहित्य रूप है जिसमें निबंध लेखक सीधे बिना किसी व्यवधान के अपने पाठकों से बात करता है। लेखक अपने पाठकों के हृदय में पहले एक जिज्ञासा उत्पन्न करता है और फिर उस जिज्ञासा

का सूत्र पकडकर अपने मन की बात, अपने विचार पाठको तक पहुँचाता है। जिज्ञासा कोई गहन गम्भीर भी हो सकती है और अत्यन्त सामान्य और नगण्य भी। गहन गम्भीर जिज्ञासा को लेकर विचार-व्यजक निबन्धो की सृष्टि होती है और सामान्य, नगण्य जिज्ञासा को लेकर लेखक अपने व्यक्तित्व की व्यजना करता है। इस प्रकार निबन्ध विचार व्यजक और व्यक्ति व्यजक दो प्रकार के होते है। प्रारम्भ मे निबन्ध विचार व्यजक अधिक होते थे, आज व्यक्ति-व्यजक निबन्धो का प्रचलन बढ रहा है क्योकि आज हमारा व्यक्तित्व ही इतना विराट होता जा रहा है कि सभी विचारो का उदगम उसीसे होने लगा है।

आलोचना पहले निबन्ध का ही एक अग थी, परन्तु अपने महत्त्व और वैशिष्टय के कारण वह (आलोचना) एक स्वतन्त्र साहित्य रूप बन गई है। सच पूछिए तो आलोचना प्रजातन्त्र युग की प्राणवायु है। ससद्, विधान सभा, गोष्ठी, समाज और परिषद सभी स्थानो मे आलोचना का आधिपत्य है। विश्वविद्यालयो मे आलोचनात्मक अध्ययन और अध्यापन की धूम है, पत्र पत्रिकाएँ आलोचनाओ से भरी रहती हैं। आज आलोचना ने विराट रूप धारण करके सभी ओर अपना जाल फला रखा है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक आलोचना के रूप मे आज का आलोचना साहित्य निरन्तर अभिवृद्धि पर है।

गद्य साहित्य से भिन्न काव्य साहित्य मे भी आधुनिक युग मे अनेक नये कला रूपो का विकास हुआ। १६वी शताब्दी में गद्य साहित्य के निर्माण मे पाश्चात्य रूपो के अनुकरण और अनुशीलन पर बल दिया गया, क्योकि गद्य के भिन्न भिन्न साहित्य रूपो का आदश हमारी प्राचीन परम्परा मे उपलब्ध नही था परन्तु काव्य साहित्य की बात भिन्न थी। भारत का प्राचीन काव्य साहित्य अत्यन्त प्राचीन, प्रौढ और प्रभूत था। अस्तु, काव्य के आदश के लिए पाश्चात्य साहित्य की ओर देखने की आवश्यकता नही थी। कालिदास, भास, भवभूति, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, जयदेव जसे सस्कृत कवियो की विशाल परम्परा के अतिरिक्त, सूर, तुलसी, कबीर मीरा विद्यापति, देव, बिहारी, मतिराम, पद्माकर तथा चदवरदाई जसे हिन्दी महाकवियो की काव्य परम्परा भी हमे उपलब्ध थी। फिर मीर, गालिब, जौक और सौदा-जसे महान कवियो की उर्दू कविता भी इसी भारतभूमि की विभूति थी और आधुनिक युग का हिन्दी कवि कही से भी अपनी काव्य परम्परा ग्रहण कर सकता था, अस्तु, काव्य के आदश के लिए हिन्दी-कविगण कालिदास, गालिब और सूर-तुलसी की ओर मुडे। परन्तु पाश्चात्य काव्य

साहित्य के कला रूपों के प्रभाव को रोक सकना भी अत्यन्त कठिन था। बंगाल के आधुनिक युग के प्रथम महाकवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने 'मेघनाद वध' महाकाव्य की रचना में मिल्टन के 'पैराडाइज लास्ट' होमर के 'इलियड' तथा वर्जिल तथा दाते के 'इनियड' तथा 'डिवाइन कामेडी' का प्रभाव ही अधिक ग्रहण किया वाल्मीकि, कालिदास से वे उतना प्रभावित न हो सके और बाद में रवीन्द्रनाथ ठाकुर यद्यपि कवि-कुल-गुरु कालिदास के अत्यधिक ऋणी हैं, फिर भी काव्य रूप और कला के लिए उन्होंने यूरोप के रोमाण्टिक कवि शेली, कीट्स का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में ग्रहण किया। हिन्दी-कविगण मधुसूदन दत्त और रवीन्द्रनाथ का प्रभाव न बचा सके, साथ ही अँग्रेज़ी कवि शेली, कीट्स बायरन, स्काट का सीधा प्रभाव भी उन पर पड़ने लगा। युग की हवा ही कुछ ऐसी थी।

द्विवेदी-युग में प्राचीन संस्कृत-काव्य परम्परा का अनुसरण किया गया। प्राचीन वर्णिक वृत्त जिनका व्यवहार कालिदास, भवभूति आदि महाकवि किया करते थे, नये सिरे से व्यवहृत होने लगे और प्रबन्ध-काव्य, सदेश काव्य, ऋतु वर्णन तथा नीति-सूक्तियों का निर्माण प्राचीन परम्परा के अनुरूप होने लगा। फिर भी आधुनिक प्रभाव के रूप में कुछ निबन्ध काव्य और कथा उपाख्यान-काव्य भी द्विवेदी युग में मिल जाते हैं। स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की जो धारा भारतेन्दु युग के उत्तरार्द्ध में प्रवहमान हुई छायावाद युग के आते आते उसने एक प्रशस्त काव्य धारा का रूप ग्रहण कर लिया, जिसमें गीत-काव्य की प्रधानता स्पष्ट है। आधुनिक युग की गीति-काव्य-धारा मध्ययुग की पद-काव्य धारा से नितान्त भिन्न है। सूर, तुलसी, मीरा की काव्य परम्परा के मूल में मध्ययुगीन संगीत का पुनरुत्थान था। बैजू बावरा, गोपाल नायक, हरिदास और तानसेन ने संगीत की ध्रुपद परम्परा को जगाया और सूर, मीरा के पदों में भक्ति भावना का प्रवाह राग रागिनियों के माध्यम से फूट पड़ा। गेयता उस गीति-काव्य का प्रधान गुण था। परन्तु आधुनिक गीति-काव्य का उदय व्यक्तिवाद के प्रभाव में हुआ। आधुनिक युग में शिक्षा के प्रसार से सार्वजनिक समानाधिकार की भावना बढ़ती जा रही थी। विद्यालयों और महाविद्यालयों ने बौद्धिक समानता की घोषणा की और न्यायाधिकरणों ने वैधानिक समानता स्थापित की। क्रमशः समानता की भावना के बढ़ने से नई पीढ़ी में व्यक्तिवाद का उदय हुआ। इस व्यक्तिवाद के विकास से ही काव्य में गीति-तत्त्व का महत्त्व बढ़ने लगा। कवि अपने को ही अपने काव्य-जगत् का केन्द्र समझने लगा। अपनी विविध चित्तवृत्तियों के उन्मेष में कवि अपने

हो सुख दुःख, आशा निराशा अभिलाषा आकांक्षा का चित्र आँकने लगा। अस्तु, इस युग की गीतियों का वर्गीकरण भी पाश्चात्य गीतियों के इन्हीं रूपों के आधार पर करना आवश्यक हो गया। वेदना की उमंग में जो गीति रची गई, वह अँग्रेज़ी की एलिजी के समान हिन्दी में शोक गीति बन गई और पत्र गीतियों का प्रारम्भ अंग्रेज़ी एपिसिल के अनुकरण पर हुआ। बँगला के श्रेष्ठ महाकवि मधुसूदन दत्त ने अपने 'वीरांगना' नामक काव्य में अनेक वीरांगनाओं के कल्पित पत्र इसी शैली में पद्यबद्ध किये, जिनका हिन्दी छन्दमय अनुवाद मधुप (मैथिलीशरण गुप्त) ने प्रस्तुत किया। साथ ही स्वतन्त्र रूप से उन्होंने भी कुछ पत्र गीतियों की रचना की, जो पत्रावली काव्य में संग्रहीत हैं। इसी प्रकार उद्बोधन-गीति, सम्बोधन-गीति, आख्यान गीति और व्यंग्य गीति आदि अनेक प्रकार की गीतियों के नये नये कला रूप उपस्थित किये गए। अँग्रेज़ी के सॉनेट भी चतुर्दश पदी के रूप में रूपान्तरित किये गए साथ ही उर्दू फारसी में गजल और रुबाइयात भी नये काव्य रूप बनकर चल निकले।

गीति तत्त्व की प्रधानता के कारण आधुनिक युग के महाकाव्य और प्रबन्ध काव्य भी चिन्तन प्रधान हो गए। प्रसाद की 'कामायनी' महाकाव्य होते हुए भी गीति-तत्त्व की प्रधानता के कारण प्राचीन वर्णन प्रधान महाकाव्यों से एकदम भिन्न बन गया है, और दिनकर का 'कुरुक्षेत्र' भी खण्डकाव्य की अपेक्षा गीति-काव्य के तत्त्वों से अधिक समन्वित बन गया है। अनेक स्थलों पर आधुनिक प्रबन्धकाव्य नाटकों के स्वगत भाषण के अनुरूप ऐकान्तिक गीति (मोनोलाग) बन गए हैं। 'द्वापर' में ऐसी ही एकान्तिक गीतियों का संग्रह है और प्रसाद की 'प्रलय की छाया' सोहनलाल द्विवेदी का 'आत्मसमर्पण' नाटक काव्य की परम्परा की ऐकान्तिक गीतियाँ हैं। आज का महाकाव्य और खण्डकाव्य वर्णन प्रधान न रहकर चिन्तन प्रधान और शील निरूपण प्रधान बन गया है, उसमें गीति तत्त्व और नाट्य-तत्त्व का मिश्रण हो गया है। इस प्रकार गीति तत्त्व और नाट्य तत्त्व के समन्वय और सम्मिश्रण से अनेक नवीन काव्य रूपों का विकास इस युग में हुआ।

रीतिकाल में मुक्तकों की बाढ़ सी आ गई थी, जिसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप आधुनिक युग में मुक्तकों की पर्याप्त अवहेलना हुई। गीति-काव्य के विकास से मुक्तकों की ओर भी अधिक उपेक्षा हुई। परन्तु वर्तमान युग में जब छायावादी प्रभाव क्रमशः क्षीण होने लगा और गीति-तत्त्व की प्रधानता कम होने लगी, तब मुक्तकों का दिन फिर लौटा। काव्य का महत्त्व इस युग में क्रमशः क्षीण होता जा

रहा है और बौद्धिकता तथा गद्यात्मकता के प्रवाह मे गीति-काव्य का भावावेग और भावावेश दोना ही शिथिल पड गए ह। अस्तु, एक बार फिर मुक्तका की बारी आई। मुक्तक और रुबाइया ने प्राचीन दोहा और कवित्त-सवया का स्थान ले लिया। इधर मुक्तका के ही वजन पर तुक्तका का भी प्रचार बढ रहा है। काव्य मे सच पूछिए तो नये-नये काव्य रूपो के प्रयोग ही अधिक हो रहे हैं। लोकगीता के अनुकरण पर परम्परा से प्राप्त ग्राम्य घन बोल, लय और गीतो के साचे म ढाला जा रहा है। आधुनिक युग के इन नये-नये साचा और ढाचा न काव्य रूपा म जो विविधता ला दी है, वही वतमान साहित्य को अनुपम आकपण प्रदान कर रही है।

५

आधुनिक युग के आरम्भ मे काव्य और साहित्य का प्रयोजन आचाय मम्मट के *अनुसार यश प्राप्ति, धनप्राप्ति, रोग से मुक्ति, मनोविनोद तथा कान्तासम्मित* उपदश आदि हुआ करता था। पडित समाज काव्य-शास्त्र से अपना मनोविनाद करता हुआ अवकाश का समय बिताता था। राज दरबारा म नतकियो और गवया के नृत्य गीत के साथ ही कविगणा के छन्द, छप्पय, कवित्तो मे राजा रईसा का मनोविनोद हुआ करता था। साधारण जनता भी लाक गीत और ग्राम गीत, जस कजली, ठुमरी, आल्हा, पँवारा, फाग और ख्याल, से अपना मनोविनोद करती थी। मुद्रण-यन्त्रा के उदय के साथ जो कथा कहानी, धम-नीति, भजन गीत आदि की पुस्तके छप रही थी, उनका प्रयोजन भी शिक्षित साक्षर जन-समूह का मनोविनोद करके अवकाश का समय बिताना होता था। दुर्भाग्य से उस युग के लोगा की रुचि निम्नतम कोटि को पहुँच गई थी, इस कारण इन रचनाओ मे वासनाजन्य शृगार का आधिक्य रहता था। हिन्दी का रीति साहित्य और उर्दू का सम्पूण साहित्य इस वासनाजन्य शृगार से ओत प्रोत था और नये युग के समाज सुधारक और देश-भक्त इस वासनामय शृगार साहित्य के विरोध म आवाज़ उठाने लगे। रीतिकाल की नायक नायिका भेद-सम्बन्धी काव्य-रचनाओ का बालकृष्ण भट्ट 'नष्ट साहित्य' कहा करते थे और उर्दू तथा हिन्दी की शृगारमयी रचनाओ को ही केशवराम भट्ट भारत की तत्कालीन अधोगति का मूल कारण मानते थे। अस्तु, केवल मनोरंजन को ही काव्य और साहित्य का मूल प्रयोजन न मानकर मनोरजन के साथ शिक्षा और उपदेश देना ही उन्नीसवी शताब्दी के अन्त और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ

में काव्य का लक्ष्य बना।[1] भारतेन्दु युग के नाटकों और उपन्यासों की रचना का भी यही उद्देश्य स्वीकार किया गया। लाला श्रीनिवासदास ने साहित्य के माध्यम से नीति शिक्षा पर विशेष बल दिया और बालकृष्ण भट्ट भी इसका समर्थन करते रहे।

परन्तु धीरे-धीरे शिक्षा के प्रसार के साथ कवि और साहित्यकार को आत्मगौरव का बोध हुआ। साहित्यकार किसी के मनोरंजन के लिए साहित्य की रचना करता है, यह बात प्रेमचन्द को अपमानजनक जान पड़ी और उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इसका विरोध किया। कवि और साहित्यकार कोई विदूषक या जादूगर नहीं है जो मनबहलाव का सामान जुटाता है।[2] उनकी दृष्टि में "वही साहित्य खरा है, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[3] आज का कवि भी मनोरंजन और शिक्षा के स्थान पर क्रान्ति उपस्थित करने का निश्चय लेकर आगे बढ़ता है। कवि सार्वभौम होता है और युग की चेतना को वाणी देता है। उसके स्वर में जहाँ संसार की प्रेमानुभूति और सुखानुभूति व्यक्त होती है वहाँ विश्व वेदना के आँसू भी उमड़ पड़ते हैं। युग का सुख और संताप उसकी कविता में सृष्टि का स्पन्दन सुनाते हैं, युग का असन्तोष क्रान्ति की लपटें जगाती हैं। कवि क्रान्तदर्शी होता है, कभी वह कोकिल के स्वरों में वसन्त का अग्रदूत बनता है, कभी पपीहे की पुकार में प्रलय के बादलों का आह्वान करता है। आधुनिक युग के कवि ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा और गौरव पुनः प्राप्त कर लिया है।

मध्यकाल का कवि प्राचीन कवि रूढ़ियों को दृढ़ता से पकड़कर चलता था। प्राचीन आचार्यों ने कविता की जो परिपाटी चला दी थी, आदर्शों की जो लीक

---

1 'भारत भारती' में मैथिलीशरण गुप्त ने कवियों से आग्रह किया था—

केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥ पृ० १७१

2 प्रगतिशील लेखक संघ के लखनऊ अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए प्रेमचन्द ने कहा था, 'साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा इतना न गिराइए।" 'कुछ विचार', पृ० १७।

3 उपर्युक्त भाषण का उपसंहार, 'कुछ विचार', पृ० २५।

प्रचलित कर दी थी, वह उसी परिपाटी का अनुसरण करता था, सपूत की भांति उसी लीक को पकडकर चलता था। जीवन और जगत पर स्वत त्र दृष्टि डालने का उसे अवकाश ही कहा था। परन्तु आधुनिक युग म विज्ञान के आविष्कारो न कुछ क्रातिकारी रहस्यो का उदघाटन किया। जीव विज्ञान (बायलॉजी) ने मानव और पशु की एकरूपता प्रतिपादित करके उनमे केवल एक ही अन्तर बताया कि मानव सामाजिक प्राणी है जबकि पशु सामाजिक नही बन पाता। विज्ञान ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म वस्तुओ को देखन के साधन ही प्रस्तुत नही किये, हम सभी वस्तुओ को सूक्ष्म दृष्टि स दखने और प्राचीन मा यताओ पर सशय करन की भी दृष्टि दी। भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान आदि ने बुद्धि के ऊपर जो भावना और आदश का परदा पडा था उसे उलट दिया और साहित्य मे यथाथ का दखन, परखने और उसकी अभिव्यक्ति करने की प्रवत्ति चल पडी। यही से साहित्य म यथाथवाद की नीव पडी जिसन आधुनिक साहित्य मे क्रातिकारी परिवतन ला दिया। वीर पूजा की भावना का ह्रास होने लगा और साहित्य मे राजा, राजकुमार और अवतारी पुरुषो तथा महावीरो के स्थान पर साधारण जनता के प्रतिनिधि स्थान पाने लगे। जीवन के प्राचीन आदश बदल गए, अस्तित्व के लिए निर तर सघष करत मानव का चित्र उमड पडा। साहित्य मे इसी सघष का, जीवन की दौड म विविध प्रकार की होडो का, राग और द्वेष का, क्रिया और प्रतिक्रिया का यथाथ चित्र सामन आने लगा। प्रेमच द न इसीलिए उप यास को मानव जीवन का चित्र बताया है और उ होने अपने साहित्य मे यथाथ परिवेश मे यथाथ जीवन का यथाथ चित्र उपस्थित किया। पर तु तभी एक प्रश्न उठ खडा हुआ। मानव जीवन का चित्र उतारत हुए, पाठको का पाठको पर पडने वाले उन चित्रो के प्रभावो का ध्यान रखना कहा तक उचित है। कला निरपक्ष है या पाठक-सापक्ष। पाश्चात्य देशो के कुछ विशिष्ट कलाकारो का मत था कि कला निरपेक्ष है कला कला के लिए है, पाठको पर उसका क्या प्रभाव पड सकता है, यह दखना कलाकार का काम नही है। पर तु भारत के कितने ही मनीषी कला की इस निरपक्षता से सिहर उठे। प्रेमच द ने इसीलिए आदर्शो मुख यथाथ का प्रतिपादन किया। आज के युग म यथाथ से विमुख होना सम्भव नही, आज की कला, कविता और साहित्य सबको यथाथ का पल्ला पकडना ही पडता है परन्तु पाठको पर यथाथ का कुप्रभाव रोकने के लिए आदश की भी प्रतिष्ठापना करनी आवश्यक है। अस्तु, मानव-जीवन का कोरा चित्र उपस्थित करना प्रेमच द की दृष्टि म, सत्साहित्य का उद्देश्य

नही है वरन मानव जीवन म जो कुछ हो रहा है उसका यथाथ स्वरूप उद्घाटित करते हुए, जो कुछ होना चाहिए, उसका सकेत कर देना भी साहित्यकार का पावन कत्तव्य है। कितने ही साहित्यकारों ने प्रेमचन्द्र के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का सिद्धान्त ग्रहण किया, किन्तु मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण तथा मार्क्सवादी सिद्धान्तों के बढ़ते प्रभाव म क्रमश आदर्शोन्मुख यथाथ का पक्ष दुबल होता गया और निरपेक्ष यथाथ ने क्रमश कला को अभिभूत कर लिया। आज का कलाकार पाठकों को भूलकर अपने को—कलाकार के अह को—ही अधिक महत्त्व देता है। आवश्यकता एक मध्य माग की है जिसम कलाकार अपने अह को भी पकड़े रह और पाठकों की कल्याण कामना को भी विस्मृत न कर दे, तभी कला सार्थक हो सकती है।

प्राचीन भारतीय काव्य म कला के लिए कोई स्थान न था। कला काव्य से भिन्न नागरिकों के मनोरजन का साधन हुआ करती थी। चौंसठ प्रकार की कलाओं म समस्या पूर्तियाँ प्रहेलिका और चित्र काव्य की भी गणना होती थी। मध्ययुग म समस्या-पूर्तियाँ और चित्रकाव्य जस सर्वतोभद्र, सिंहावलोकन आदि राज-सभा को चमत्कृत करने के लिए काव्य की परिधि म प्रविष्ट कर गए। कवियों के आशुकवित्व का मापदड समस्या पूर्तियाँ थी और बेनीदत्त-जसे कवियों का दावा था कि

> दीजिए समस्या कोऊ कवित बनाऊँ चट,
> कलम रुक तौ कर कलम कराइये।

दूसरी ओर राज सभा के पडित और प्रवीणों को चमत्कृत करने के लिए चित्र काव्यों की उपयोगिता सिद्ध थी। परन्तु आधुनिक काल मे जब साहित्य का केन्द्र राज सभा स हटकर शिक्षित समाज म आ गया तब समस्या-पूर्तियों और चित्रकाव्य का कौशल व्यथ हो गया और कविगण अपनी कला का सौंदय प्रकट करने के लिए नई कला की खोज म लगे जो उन्ह पाश्चात्य साहित्य मे मिल गया। जमनी के महान् दाशनिक हीगल ने कला को ललित कला और उपयोगी कला—दो वर्गों म विभक्त करके ललित कला को मुख्य पाच प्रकार का माना। माध्यम की स्थूलता और सूक्ष्मता को आधार मानकर उन्होने स्थापत्य और मूर्तिकला को निम्नकोटि की कला और काव्य, चित्र और सगीत को उत्कृष्ट कला स्वीकार किया। इस प्रकार हीगेल ने काव्य, सगीत और चित्रकला को एक कोटि मे स्थान दिया। इन तीनों म भी काव्य कला श्रेष्ठ मानी गई, क्योंकि एक तो उसका माध्यम शब्द और

अथ मवमे सूक्ष्म है, दूसरे वह वाह्य उपकरणा, जस वाद्य यन्त्रा के पराधीन नहीं, और न चित्रकला की भाँति वाह्य उपकरणा की अनिवार्यता मे पूर्णत वद्ध। साथ ही काव्य म सगीत और चित्रकला दाना के तत्त्वा का समन्वय सभव है और छाया वाद-युग मे काव्य का इन दोना तत्त्वा से समन्वित करन का सफल प्रयत्न किया गया। सगीत की गेयता और चित्रकला का विम्ब (इमेज) ग्रहण करके छायावादी गीतिया ने कला का उच्च आदर्श प्राप्त किया। पत प्रसाद, निराला और महादेवी के काव्य म चित्राकन का कौशल और नाद व्यजना दाना का मणिकाचन याग है। मानवीकरण विशेषण विपयय और ध्वन्यर्थ व्यजना— इन तीन नवीन अलकारा क सहयोग स छायावाद की मूर्तिमत्ता और गेयता न पाठका का मुग्ध कर लिया।

परन्तु छायावादोत्तर काल म कला मे सगीत और अलकार तत्व क्रमश क्षीण होता गया और चित्रकला का विम्ब विधान अधिक महत्त्व ग्रहण करता गया। पाश्चात्य देशा म चित्रकला न उन्नीसवी शताब्दी स ही साहित्य को प्रभा- वित करना प्रारम्भ कर दिया था। फ्रास के प्राकृतवाद (नेचुरलिज्म) और इटली निवासी क्रोचे के अभिव्यजनावाद का प्रेरणा इसी चित्रकला से मिली थी। बीसवी शताब्दी मे चित्रकला म प्रतीकवाद, बिम्बवाद के विकास से काव्य कला मे भी प्रतीकवाद, बिम्बवाद का विस्तार बढा। छायावादोत्तर प्रयोगवादी नई कविता म जा कला के नये नय प्रयोग हुए उसम चित्रकला का प्रभाव पर्याप्त पडा है। नये- नय बिंबा की खोज और कविता मे प्राचीन उपमाना और बिंब के स्थान पर और कहीं-कही उनके बीच मे नये नये उपमानो और बिंबा को जडा गया। इस प्रकार आज की कला में बिंब-विधान ने साहित्य का अधिक सगुण और साकार बना दिया है।

६

समसामयिक हिन्दी साहित्य का पिछली कई दशाब्दियो से जो साहित्यिक परम्परा प्राप्त हुई है उसमे क्रमश अपनी प्राचीन साहित्यिक परम्परा को पाश्चात्य विचार धारा और साहित्यिक आवेग के समक्ष टटते ही देखा गया। साहित्य तथा काव्य रूप और कला सम्बन्धी सभी आन्दोलना म पाश्चात्य परम्परा का विजय- अभियान कभी मन्द नही पडा। बीच बीच म भारतीय आदर्शों और परम्पराआ की रक्षा का प्रयास अवश्य हुआ और द्विवेदी-युग तथा छायावाद युग मे महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, प्रेमचन्द, प्रसाद तथा मथिलीशरण गुप्त ने भारतीय

साहित्य के आदर्शों की रक्षा का भरपूर प्रयास किया, परन्तु पाश्चात्य प्रवाह का
वेग कम न हो सका। १९३५ के आसपास यूरोप में स्थापित प्रगतिशील लेखक
संघ (Progressive Writers Association) ने भारत को जब से प्रभावित
करना प्रारम्भ किया तब से भारतीय विचार धारा की रक्षा करना कठिन होगया।
कारण एक बार बाहर का प्रभाव स्वीकार करने पर उसके विरोधी प्रभाव भी
बाहर से प्रवेश करने लगते हैं और अन्त राष्ट्रीयता के मोह में हमने सभी प्रभावों
को अधिक मात्रा में स्वीकार किया और धीरे धीरे भारतीय मान्यता को बड़ी
क्षति पहुची।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्त और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में काशी की
नागरी प्रचारिणी सभा प्रयाग का हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा उनकी अनेक
शाखाओं ने भारतीय हिन्दी साहित्य के चतुर्मुखी विकास के लिए सगठित प्रयास
किया परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर नई सस्थाओं का उदय तो दूर प्राचीन
सस्थाएँ भी शिथिल पड गई हैं। आज रूस, जर्मनी और अमेरिका के साहित्य की
जितनी चर्चा है उतनी सस्कृत साहित्य की नहीं। टॉलस्टॉय और गार्की के उपन्यास
अनूदित हो चुके हैं परन्तु 'वाल्मीकि रामायण' अथवा भवभूति और राजशेखर के
नाटकों का प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी में अब भी नहीं है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के
सोलह वर्षों में प्राचीन हिन्दी और सस्कृत ग्रन्थों की खोज के लिए उतना भी काम
नहीं हुआ जितना नागरी प्रचारिणी सभा ने १९०० ई० के आस पास अपने अत्यत
सीमित साधना से किया था। बगाल की एशियाटिक सोसाइटी तथा लन्दन की
रायल एशियाटिक सोसाइटी के विदेशी विद्वानों के प्रयास से जितना प्राचीन
भारतीय साहित्य प्रकाश में आया उतना प्राचीन साहित्य स्वतन्त्र भारत के
स्वदेशी विद्वान् कहा प्रकाशित कर पा रहे हैं। आज हमें अपनी प्राचीन परम्परा
के ज्ञान में रुचि नहीं, उत्साह नहीं। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में प्राचीन भार
तीय सस्कृति के पुनरुत्थान के लिए जो सगठित प्रयास हुआ था, आज फिर एक
वैसे ही प्रयास की आवश्यकता है, तभी हम अपनी प्राचीन परम्परा को समझ
सकेंगे उसकी रक्षा का प्रयत्न कर सकेंगे।

कविता

शम्भूनाथ सिंह

१ भूमिका

स्वतन्त्रता प्राप्ति का काल कई दृष्टियो से हिन्दी साहित्य, विशेष रूप से हिन्दी कविता के लिए अत्यन्त महत्त्व का काल है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, इस शताब्दी के पाचवे दशक की समाप्ति के साथ हिन्दी कविता एक नई दिशा मे मुडी और उसकी दो प्रमुख प्रवृत्तिया—प्रगतिवाद और प्रयोगवाद—जो चौथे दशक मे बहुत बलवती थी, उत्तरोत्तर क्षीणतर होने लगी। सन् १९५० के बाद हिन्दी कविता की जिस नवीन धारा को प्रमुखता प्राप्त हुई उसे 'नई कविता' नाम दिया गया। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की अन्य प्रवृत्तिया पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्तियो का बढाव मात्र हैं। उनके अस्तित्व के वे ऐतिहासिक कारण जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व महत्त्वपूर्ण समझे जाते थे, इस काल मे महत्त्वहीन हो गए। इस कारण इन काव्य-प्रवृत्तियो का भी स्वातन्त्र्योत्तर काल मे उतना महत्त्व नही रह गया। जिस तरह छायावाद युग मे व्रजभाषा काव्य और द्विवेदीयुगीन शैली का काव्य लिखा जाता रहा और छायावादोत्तर काल के प्रथम दशक मे भी प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्य प्रवृत्तियो के साथ छायावादी और रहस्यवादी प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति होती रही, उसी तरह स्वातन्त्र्योत्तर काल मे भी प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नव रहस्यवाद, रूमानी स्वच्छन्दतावाद और इतिवृत्तात्मक वर्णनात्मक काव्य प्रवृत्तिया किसी न किसी रूप मे बनी रही और उनमे से कई आज भी वर्तमान हैं।

इस परिवर्तन का कारण वे सामाजिक परिस्थितिया तथा उनसे उत्पन्न वह चेतना थी जो इस देश मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के फलस्वरूप प्रकट हुई थी। स्वतन्त्र होते ही इस देश को विभाजन से उत्पन्न एक बहुत बडे सकट की स्थिति से गुजरना पडा था। लाखो निर्दोष व्यक्तियो की मृत्यु और करोडो व्यक्तियो के स्थानान्तरण और बेरोजगारी के फलस्वरूप धर्मों और सम्प्रदायो के प्रति बुद्धिजीवी वर्ग की आस्था क्षीण हो गई और मानवतावादी दृष्टि का एक नए सन्दर्भ मे विकास हुआ। किन्तु इस सकट के बावजूद देश की जनता मे स्वतन्त्रता का उल्लास था। देशवासियो के मन पर दासता का जो विशाल पर्वत-जैसा बोझा पडा हुआ था उसके हटते ही सर्वत्र मुक्ति का स्वच्छन्द वातावरण दिखाई पडने लगा। जनता स्वतन्त्र वायुमण्डल मे सास लेने लगी। नया सविधान लागू हो जाने के बाद प्रत्यक्ष

देशवासी के ऊपर अपने देश के नव निर्माण का दायित्व आ गया और सारे देश में लोकतान्त्रिक स्वातन्त्र्य चेतना व्याप्त हो गई। इस तरह मुक्ति की चेतना ही स्वातन्त्र्योत्तर युग की प्रमुख चेतना रही जो पिछले दशक के भारतीय साहित्य, कला, राजनीति आदि विविध मानवीय प्रयत्नों के मूल में वर्तमान है।

मुक्ति की चेतना सदैव प्राचीन के त्याग एवं नवीन की खोज और स्वीकृति के आग्रह के रूप में अभिव्यक्त होती है। यद्यपि हिन्दी कविता में नवीनता का आग्रह स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के अनेक कवियों में भी था, पर नवीनता को एक आंदोलन का रूप उसके पहले कभी नहीं दिया गया था। इस आन्दोलन के फलस्वरूप कविता की भाषा छन्द, अभिव्यंजना पद्धति आदि में ही नहीं, विषय वस्तु और अनुभूति के क्षेत्र में भी परम्परागत पद्धतियों और रूढ़ियों को छोड़ने और युग बोध के अनुरूप नवीन पद्धतियों को खोजने और स्वीकार करने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई। इसीसे इस काल की कविता, चाहे वह किसी भी राजनीतिक या वैज्ञानिक विचार-धारा से अनुप्रेरित क्यों न हो, नई कविता कहलाने लगी।

किन्तु यह कथन आंशिक सत्य ही होगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रभाव हिन्दी कविता पर केवल नवीनता के आग्रह के रूप में ही पड़ा जिसका प्रतिफल नई कविता के रूप में दिखाई पड़ता है। जो कवि परम्परागत पद्धति से लम्बी कविताओं, प्रबन्ध काव्यों तथा गीतिकाव्य की रचना करते आ रहे थे उनके मानस पर भी स्वतन्त्रता प्राप्ति का गहरा प्रभाव पड़ा था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व ऐसे कवियों का ध्यान मुख्यतः देश की राजनीतिक मुक्ति पर ही रहता था किन्तु अब उनका ध्यान देश की सांस्कृतिक परम्परा के संरक्षण और सामाजिक दुर्व्यवस्था और अभावों की ओर मुड़ गया। अतः इन कवियों ने अपने काव्य प्रबन्धों तथा काव्य निबन्धों में वर्णनात्मक शैली में ऐतिहासिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर ऐसे काव्य लिखे जो भारत की सांस्कृतिक परम्परा से अनुप्राणित अथवा समकालीन यथार्थ के प्रति रोष और क्षोभ से भरे हुए थे। निश्चय ही इन कवियों के मन में भी स्वतन्त्र भारत का एक स्वप्न था जिसे पूरा न होते देखकर उनका हृदय आक्रोश से विकल होकर काव्य के रूप में अभिव्यक्त हो उठता था। पर ये कवि समकालीन सामाजिक यथार्थ के प्रति अपनी प्रतिक्रिया को यदा-कदा ही व्यक्त करते थे, अन्यथा उनका काव्य अधिकतर ऐतिहासिक पौराणिक कथानकों, दार्शनिक चिन्तन तथा प्रेम और सौंदर्य की विविध भाव भूमियों से ही सम्बन्धित है।

२ वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य और काव्य-निबन्ध

काव्य प्रवृत्तिया का विभाजन मुख्यत काव्य के आन्तरिक तत्वा क आधार पर किया जाता है, बाह्य तत्वा—शिल्प, विधा और रूपाकार—के आधार पर नहीं। एक ही प्रवृत्ति के अन्तगत काव्य की अनेक विधाएँ और शलिया मिल सकती हैं। अत प्रबन्ध काव्या और लम्बी कविताओ की कोई अलग काव्य प्रवत्ति नही हो सकती, क्योंकि प्रबन्धात्मकता या लम्बाई बाह्य विधा मात्र है। फिर भी वतमान हिन्दी की ऐसी कविताओ को एक प्रवत्ति के रूप म मानना इसलिए आवश्यक है कि इनमे बाह्य रूपाकारगत समानता के साथ साथ कुछ आन्तरिक तत्त्वा की समानता भी है। य कविताएँ अधिकतर इतिवृत्तात्मक, बाह्यार्थव्यजक और वणनात्मक है, यही उनकी सामान्य प्रवत्ति ह। यो तो नई कविता के कविया ने भी प्रबन्धकाव्य और लम्बी कविताएँ लिखी हैं, जसे धमवीर भारती की 'कनुप्रिया पर ये वणनात्मक काव्य नही है। इस कारण उन्हें वणनात्मक प्रबन्धकाव्य और काव्यनिबन्ध की प्रवृत्ति के अन्तगत नही लिया जा सकता। इस प्रवत्ति वाल कवियो ने परम्परागत शैली का ही निर्वाह किया है, प्रबन्धत्व को नया रूप दन का प्रयास नहीं किया है। अत द्विवेदी-युग मे प्रबन्ध काव्य और काव्य निबन्ध लिखन की जो परिपाटी चली थी, इस काल मे भी उसीका अनुसरण करके लिखे गए काव्या को इस प्रवृत्ति के अन्तगत लिया जा रहा है। उदाहरण के लिए द्विवेदी युग म ही मथिलीशरण गुप्त ने जिस तरह 'जयद्रथ वध' और 'पचवटी'-जसे प्रबन्ध-काव्य तथा 'भारत भारती' जसे काव्य निबन्ध लिखे, उसी तरह इस काल म भी उन्होंने विष्णुप्रिया' नामक प्रबन्धकाव्य और 'राजा और प्रजा' जसे काव्य निबन्ध लिखे हैं। स्वातन्त्र्योत्तर युग म इस तरह की वणनात्मक लम्बी कविताएँ तथा प्रबन्धकाव्य लिखने वाले कवियो म मथिलीशरण गुप्त, रामधारीसिंह 'दिनकर, रामकुमार वर्मा, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात, नरेन्द्र शर्मा भवानीप्रसाद मिश्र, शिवमगलसिंह 'सुमन, पाहार रामावतार 'अरुण और रामानन्द तिवारी प्रमुख हैं।

मैथिलीशरण गुप्त

मथिलीशरण गुप्त की काव्य प्रतिभा प्रबन्धात्मक ही अधिक थी। अपन मर्यादित विचारा, आदर्शो और धार्मिक सस्कारा का व्यक्त करन के लिए उन्हान प्रबन्धकाव्य और काव्य निबन्ध की विधा का चुनाव ठीक ही किया था। स्वातन्त्र्या-

कुछ ने अनादर के साथ चारण कवि कहा है। उन आलोचकों ने शायद यह भुला दिया है कि सच्चा काव्य सदा समकालीन होता है और जो कवि समकालीन जीवन सन्दर्भों से कटा होता है वह शून्य में होता है। किन्तु यह भी सत्य है कि केवल समकालीन में दब में उलझकर देश और काल की अतिक्रमित करने वाले प्रेरणा की उपेक्षा करने वाला कवि भी स्थूल धरातल तक ही रह जाता है। यद्यपि दिनकर समकालीनता से हर जगह जुड़े हुए हैं पर उनका भाव-बोध उतना आधुनिक नहीं है क्योंकि उनमें सांस्कृतिक और साहित्यिक परम्परा के प्रति मोह है। इसीलिए वे वर्तमान स्थितियों की व्यवस्था करने के लिए बार बार इतिहास के भीतर दौड़ जाते हैं। दूसरा यह अर्थ नहीं है कि वे द्विवेदी-युगीन कवियों की भांति पुनरुत्थानवादी हैं। वे मुख्यतः वर्तमान के ही कवि हैं और वर्तमान के लिए ही अतीत और भविष्य में भी रमते हैं, अतः अतीत की कथा कहना या उसे पुनः वापस लाना उनका लक्ष्य नहीं है। अपने प्रबन्ध काव्य 'रश्मि रथी' तथा निबन्ध-काव्य 'इतिहास के आंसू' में उन्होंने वर्तमान समस्याओं को ही अतीत के माध्यम से उभारा है।

दिनकर यद्यपि परम्पराभुक्त कवि हैं पर रूढ़िवादी वे नहीं हैं। उनमें प्रयोग करने का भी साहस वर्तमान है। इसीसे वे छन्द मुक्त और मुक्त छन्द का काव्य लिखने में हिचकते नहीं हैं और न कोरी वर्णनात्मकता या उच्छल भावुकता का ही सहारा लेते हैं। उनकी कविताओं का अधिकांश विचारात्मक और व्याख्यात्मक है। अतः उनमें काव्यात्मकता भले ही कम हो पर प्रौढ़ता और विवेकशीलता खूब है। इस दृष्टि से न तो वे परम्परावादी वर्णनात्मक या छायावादी कवि हैं, न परम्पराभंजक प्रयोगवादी और नई कविता के कवि। उनका एक निजी काव्य व्यक्तित्व है जो विचारात्मक दृष्टि और पौरुषयुक्त भावात्मकता के सामंजस्य से निर्मित हुआ है। इसलिए उनके काव्य में विवेक के साथ आवेग और पौरुष के साथ कोमलता भी है। उनके काव्य में उबलता हुआ शौर्य, विचारों का स्वातन्त्र्य, अन्याय और अनैतिकता के प्रति विद्रोह, असत्य के प्रति आक्रोश, आत्मदीप्ति, अपने देश के प्रति सच्ची भक्ति और देश प्रेमियों तथा सम्मान्य महापुरुषों के प्रति गहरी श्रद्धा व्यक्त हुई है। उन्होंने मानवता के हित का चिन्तन किया है राष्ट्रीय गौरव का गान किया है देश की दुर्दशा पर आंसू बहाए हैं, जनता को उद्बुद्ध करने के लिए सिंहनाद किया है, और महान व्यक्तियों का प्रशस्ति गान किया है। इस प्रकार दिनकर का काव्य व्यक्तित्व स्थूल धरती के

साथ सम्पृक्त होता हुआ भी महान् है। यह महत्ता ऊर्ध्वमुखी भले ही न हो, क्षितिजगामिनी अवश्य है।

दिनकर के स्वातंत्र्य काल के काव्य-ग्रंथों पर यहाँ अलग अलग विचार करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ऊपर निर्दिष्ट सभी विशेषताएँ उनके सभी ग्रंथों में अलग अलग कविताओं में या विभिन्न स्थलों पर मिल जाती हैं। परम्परागत वर्णनात्मक प्रबंध काव्य उनका 'रश्मिरथी' ही है। इसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि "कुरुक्षेत्र की रचना कर चुकने के बाद ही मुझमें यह भाव जगा कि कोई ऐसा काव्य भी लिखूँ जिसमें केवल विचारोत्तेजकता ही नहीं, कुछ कथा संवाद और वर्णन का भी माहात्म्य हो। स्पष्ट ही यह उस मोह का उद्गार था जो मेरे भीतर उस परम्परा के प्रति मौजूद रहा है जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं।" इस उद्देश्य के अनुरूप ही 'रश्मिरथी' सीधा सादा चरित्रचित्रण प्रधान वर्णनात्मक काव्य है। उनके निबंध-काव्य भी महत्त्व के हैं, विचारात्मक और भावात्मक। दार्शनिक और चिंतनप्रधान लम्बी कविताएँ विचारात्मक निबंध काव्य और उद्बोधन, प्रशस्ति तथा वीर पूजा सम्बन्धी कविताएँ भावात्मक निबंध काव्य की कोटि में आयेंगी। ऐसी कुछ कविताओं के नाम ये हैं 'दिल्ली', 'इतिहास के आँसू', 'रोटी और आजादी', 'जनता और जवाहर', 'काँटों का गीत', 'हिमालय का संदेश', 'स्वप्न और सत्य', 'तुम क्या लिखते हो' आदि। इन लम्बी कविताओं में राजनीतिक, दार्शनिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, मनोवैज्ञानिक, नैतिक और धार्मिक सभी प्रकार के प्रश्न उठाए गए हैं और प्रायः उनका समाधान भी प्रस्तुत किया गया है। इनमें कई समस्या नाटकों की तरह समस्या-कविताएँ हैं।

मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर के प्रबंध-काव्यों के अतिरिक्त स्वातंत्र्य काल के अन्य उल्लेखनीय वर्णनात्मक और विचारात्मक प्रबंधकाव्य ये हैं रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य', नरेन्द्र शर्मा कृत 'द्रौपदी', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'-कृत 'कैकेयी', 'कर्ण', 'तप्तगृह' और 'ऋतम्भरा', रामानन्द तिवारी-कृत 'पार्वती' और पोद्दार रामावतार 'अरुण' कृत 'विदेह' आदि। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रामकुमार वर्मा का 'एकलव्य' (सन् १९५८) है, जो १४ सर्गों का वृहदाकार काव्य है। रामकुमार वर्मा छायावादी रहस्यवादी कवि हैं किंतु 'एकलव्य' में वह भावात्मक निगूढ़ता, सूक्ष्मसंवेदनशीलता और रहस्यात्मक अनुभूतियों का मार्ग छोड़कर सीधे और सरल वर्णनात्मक मार्ग पर आ गए हैं। इसकी शैली पर 'कामायनी', 'तुलसी-

जब तक सूत्र समझकर नहीं कहते, उन्हें संतोष नहीं होता। सामान्य पाठकों और कवि सम्मेलनों के श्रोताओं के लिए यह काव्य शैली रुचिकर होती है।

३ नव रहस्यवाद

नव रहस्यवाद शब्द का तात्पर्य यह है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जो रहस्यवादी कविताएँ लिखी गई हैं वे मध्यकालीन तथा छायावाद-युगीन रहस्यवादी कविताओं से कई अर्थों में पर्याप्त भिन्न हैं। मध्य-युगीन रहस्यवाद मुख्यत साधनात्मक था। इस कारण उसमें अनुभूतियों की सचाई और गहराई थी। कबीर, जायसी, मीरा, दादू आदि सन्त कवियों की काव्याभिव्यक्तियाँ अनुभूति की आँच में पकी हुई हैं। किन्तु छायावाद-युगीन रहस्यवाद अनुभूतिपरक नहीं है। उसमें व्यक्त भावनाएँ दार्शनिक सिद्धान्तों की बौद्धिक स्वीकृति की देन हैं। इसका कारण यह है कि छायावादी कवियों ने दर्शनों का तो अध्ययन किया किन्तु आध्यात्मिक साधना में लीन नहीं हुए। मध्यकालीन रहस्यवाद जीवन के जितना निकट था छायावादी रहस्यवाद जीवन से उतना ही दूर था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी साहित्य उत्तरोत्तर यथार्थोन्मुख होता गया। इसलिए इस काल में छायावादी रहस्यवाद के लिए साहित्य के अन्तर्गत विशेष अवकाश नहीं रह गया। किन्तु आध्यात्मिकता की चेतना इस यथार्थवादी युग में भी बहुत-से लोगों के भीतर वर्तमान है। ऐसे व्यक्ति यदि अपनी आध्यात्मिक चेतना की साहित्यिक अभिव्यक्ति करना चाहें तो उन्हें अपनी अनुभूतियों को यथार्थ जीवन के मेल में रखकर उपस्थित करना होगा। इस काल में जो रहस्यवादी कविता लिखी गई है उसकी विशेषता यही है कि उसमें यथार्थ जीवन के साथ कुछ न कुछ सम्पृक्ति अवश्य है। आज का मानव जीवन राजनीतिक उथल पुथल, औद्योगिक विकास और वैज्ञानिक उपलब्धियों से अत्यधिक प्रभावित है। राजनीति के क्षेत्र में मार्क्सवाद तथा विज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र ने आधुनिक मानव को गहराई तक प्रभावित किया है। इस युग में रहस्यवाद का स्वरूप भी इन वैज्ञानिक मान्यताओं और उपलब्धियों के प्रभाव से नये साँचे में ढला है। इसलिए कुछ लोग आधुनिक रहस्यवाद को वैज्ञानिक रहस्यवाद भी कहते हैं। आधुनिक मानव रहस्यवाद तभी स्वीकार भी कर सकता है जब कि उसका यथार्थ जीवन से कुछ न कुछ सम्बन्ध दिखाई पड़े। इस प्रकार आधुनिक रहस्यवाद युगीन समस्याओं और ज्ञान विज्ञान की उपलब्धियों से पूर्णत विच्छिन्न नहीं है। आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य

मे नवीन रूप ग्रहण कर लेनेके कारण ही आधुनिक रहस्यवाद को नवरहस्यवाद कहा जाता है। स्वातन्त्र्य-काल की हिन्दी कविता म यह नव रहस्यवाद एक क्षीण धारा क रूप मे ही दिखाई पडता है। इस धारा के प्रमुख कवि सुमित्रानन्दन पन्त है। नरन्द्र शर्मा, केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा वीरेन्द्र कुमार जैन ने भी अनेक दार्शनिक तथा अध्यात्मपरक कविताएँ लिखी हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त

पंत छायावाद युग मे भी रहस्यवादी कविताएँ लिखते थे पर उनका तत्कालीन रहस्यवाद अंग्रेजी के रोमाण्टिक कवियो का सा प्राकृतिक रहस्यवाद था। बाद म यद्यपि उन्होने मार्क्सवादी विचार धारा को स्वीकार कर लिया किन्तु 'ज्योत्स्ना' और 'युग वाणी' म उन्होने मार्क्स के स्थूल साम्यवाद और गाधी की आध्यात्मिकता के समन्वय पर बल दिया था। धीरे धीरे इनमे यह भावना प्रबल होती गई कि भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय मे ही मानव की मुक्ति हो सकती है। योगी अरविन्द के अतिचेतनावादी दर्शन मे उन्हे विशेष प्रकाश मिला और सन उन्नीस सौ चालीस के बाद उन्होने इस प्रकार की समन्वयवादी रहस्यवाद वाली बहुत-सी कविताएँ लिखी जो उनके दो काव्य ग्रन्थो 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' मे सकलित है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी उन्होने इस प्रकार की कविताओं का लिखना जारी रखा। तब से अब तक उनके निम्नलिखित काव्य सकलन प्रकाशित हो चुके है

'उत्तरा' (१९४९), 'रजत शिखर (१९५१), जिसमे छ ध्वनि रूपक सकलित है 'शिल्पी' (१९५२), जिसमे 'शिल्पी' तथा 'स्वप्न और सत्य' शीर्षक दो गीति नाट्य सम्मिलित है 'अतिमा' (१९५५) और 'वाणी' (१९५७)।

पन्त का इधर का समस्त काव्य उन्ही के शब्दो म 'ऊर्ध्व सचरण का अर्थात अति चेतना या अन्तश्चेतना का काव्य है जिसका उद्देश्य मानवीय सामजस्य का सन्तुलन स्थापित करना है। पंत अपनी इस विचार धारा को विकसित मानवतावाद की सज्ञा देते है। पर वस्तुत यह घोर आदर्शवाद और अयथार्थ अतमु खी प्रवृत्ति का काव्य है। वे मार्क्सवादी जनतन्त्र और अन्तश्चेतना का समन्वय चाहते है। उनकी मान्यता है कि ' आज का जनवाद भविष्य म एक ऐसे व्यापक सास्कृतिक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर ले जो मानव चेतना के राजनीतिक, आर्थिक, मानसिक, आध्यात्मिक—सम्पूर्ण धरातलो म मानवीय सन्तुलन या सामजस्य का रूप दे सके।" इस

तरह उनके आध्यात्मिक काव्य पर अरविन्द-दर्शन का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। वे अरविन्द दर्शन को विश्व कल्याण के लिए ससार की सबसे बडी देन मानते हैं। अरविन्द दर्शन के अनुसार मनुष्य जाति का कल्याण इसीमें है कि बाह्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति के साथ उसके भीतर आतरिक क्रांति भी हो। इस आतरिक क्रांति द्वारा भौतिकता को अतिक्रमित करने वाली जिस नवीन चेतना का उदय होगा, पत उसीका स्वप्न देखते हैं। इस तरह उनका समस्त परवर्ती काव्य स्वप्न राज्य है। यथार्थ जीवन से उसका केवल इतना ही सम्बन्ध है कि वह भौतिक जीवन का निषेध नहीं करता। 'उत्तरा' में उन्होंने लिखा है

> मैं मानव प्रेमी नव भू स्वर्ग बसाकर
> जन धरणी पर देवों का विभव लुटाता।
> मैं दिव्य चेतना का सदेश सुनाता।

इस तरह पत मानव को पूर्ण मानव बनाकर इस मर्त्य भूमि को ही स्वर्ग बनाना चाहते हैं। निश्चय ही यह अत्यन्त कठिन प्रतिज्ञा है जिसे पूरा करने का व्रत कवि ने लिया है। 'रजत शिखर' में उन्होंने कथा के माध्यम से अपने स्वप्न को साकार रूप देने की कल्पना की है। उनका कहना है कि 'रजत शिखर' अर्थात् चेतना की उच्चतम भूमिका में पहुँचने के लिए मानव का समतलीय आरोहण (भौतिक उन्नति) और ऊर्ध्व आरोहण (आतरिक उन्नति) का समन्वय करना होगा। वे ऊर्ध्व आरोहण को ही मुक्ति का द्वार मानते हैं और इसी बात को अपनी सभी कविताओं में अनेक रूपों में बार बार दुहराते हैं। 'सौवर्ण' में उन्होंने उस दिव्य चेतना लोक की झाँकी प्रस्तुत की है जहा बाह्य जगत अन्धकार में सोया है और केवल देव गण जाग्रत है तथा अतिमानस का शिखर चमक रहा है। इस प्रतीक द्वारा पतजी ने उस स्थिति की कल्पना को साकार किया है जब मानव जडता का अतिक्रमण करके चैतन्य रूप बन जायगा। वे कहते हैं कि मध्ययुगीन अध्यात्मवाद में यह कमी थी कि वह जडता का निषेध करके निवृत्ति मार्ग का पोषण करता था किन्तु वस्तुत जड के निषेध की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जड के भीतर रहते हुए भी मानव उसका अतिक्रमण करके चैतन्य-स्वरूप अतिमानव बन सकता है। इस प्रकार आज का सूक्ष्म स्वर्ग कल धरती का स्थूल स्वर्ग बन सकता है।

'अतिमा' और 'वाणी' पत के सिद्धि-काव्य हैं। इनमें कवि अपने ऊर्ध्व सचरण के साधना मार्ग से चैतन्योपलब्धि की सिद्धावस्था में पहुँच गया है। जिस

वीरेन्द्रकुमार जैन

वीरेन्द्रकुमार जैन नई कविता के कवि माने जाते हैं। उनकी कविताओं में, जो 'अनागता की आँखें' (१९५९) नामक काव्य ग्रंथ में संकलित हैं, आध्यात्मिकता का रंग अधिक स्पष्ट है। इनकी आध्यात्मिक चेतना रवीन्द्रनाथ ठाकुर, योगी अरविन्द और माइ बाबा से प्रभावित है, जैसा इन्होंने स्वयं अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है। इनकी कविताओं पर छायावादी प्रभाव बहुत अधिक है। यद्यपि इन्होंने नई कविता में प्रयुक्त होने वाली प्रतीकात्मक पद्धति और बिम्ब योजना को भी अपनाया है। ये अपने को इस संसार में अजनबी मानते हैं और अपना लोक कहीं और बताते हैं। इनकी आत्मा में पूर्ण प्यार और अमर मिलन की चाह है। वे उस परम चेतना से मिलने के लिए व्याकुल हैं जिसे परमात्मा कहा जाता है। उस परम चेतना को इन्होंने सूफियों की तरह अपनी प्रेयसी माना है जो चेतना के क्षितिज पर ज्योति-सरिता सी निरंतर बह रही है। कभी कभी वे अपनी आध्यात्मिक प्रिया के साथ रमण करते भी दिखाई पड़ते हैं। वे ऐसी कविताओं में अश्लील बिम्ब प्रस्तुत करने में भी नहीं हिचकते हैं। पन्त के समान वे भी आन्तरिक मुक्ति में विश्वास करते हैं। कभी-कभी भगवान रात में उन्हें दर्शन दे जाते और बता जाते हैं कि तुम भूत के स्वामी बनकर उससे आत्मा को मुक्त करो। इस तरह इनका रहस्यवाद भी पन्त के अतिचेतनावादी रहस्यवाद जैसा ही है।

४ गीति-काव्य

गीति काव्य की परम्परा हमारे देश में ही नहीं, समस्त विश्व में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। भारतीय साहित्य में गीति काव्य का स्वरूप विभिन्न युगों में परिवर्तित होता रहा है। हिन्दी में भक्ति काल में जैसे पद लिखे जाते थे, छायावादी युग में उससे भिन्न ढंग के प्रगीत मुक्तकों की रचना होने लगी जिसे *गीति काव्य (लिरिक पोयट्री) कहा जाता है। गीति काव्य के अन्तर्गत गीत (सौंग)* और प्रगीत या गीति (लिरिक) दोनों का समावेश हो जाता है। छायावादोत्तर काल के कुछ कवियों ने केवल गीत विधा को ही अपनाया, गीतेतर प्रगीत मुक्तक की ओर वे विशेष उन्मुख नहीं हुए। इस प्रसाद, निराला और महादेवी वर्मा के गीतों का प्रभाव माना जा सकता है। छायावाद युग के उत्तरार्ध में बच्चन, नरेन्द्र

अचल और नेपाली ने गीत काव्य के माध्यम से अपन स्वच्छ द व्यक्तिवादी मना-भावो को खुलकर व्यक्त किया। स्वातंत्र्य युग मे इन कवियो मे से बच्चन और नरेन्द्र शर्मा की काव्य धारा मे काफी मोड और परिवतन आये, पर अचल और नेपाली न अपना रास्ता नही बदला। किन्तु इन कविया ने अपनी रामानी भाव धारा, भाषा की सहजता और गीता की गयता द्वारा पाठका और श्रोताआ के बीच जो लोकप्रियता प्राप्त की थी उससे प्रभावित होकर परवर्ती नय कवियो मे स अधिकतर बच्चन और नपाली के ऋजु माग पर ही आख मदकर बढने लग। यद्यपि बच्चन न अपने गीति काव्य की धारा दूसरी दिशा में मोड दी पर ये अनुकर्ता कवि बच्चन से कई कदम आगे बढकर कवि सम्मेलना मे सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करन के लिए अपने गीता को फिल्मी गीता या बाजारू धुनो के निकट ले जान का प्रयास करने लगे। पर छायावादोत्तर गीत कविता की एक धारा ऐसी भी थी जो बच्चन, अचल, नपाली आदि उत्तर छायावाद युग के कवियो के प्रभाव मे मुक्त थी। ऐसे कविया ने अपन गीता म महादेवी निराला के भाव-गाम्भीय तथा बच्चन नेपाली की सहज भाषा के समन्वय द्वारा नवीनता लाने का प्रयास किया। जानकीवल्लभ शास्त्री, हसकुमार तिवारी, वीरेन्द्र मिश्र, रमानाथ अवस्थी, गिरिधर गोपाल और रामदरस मिश्र ऐसे ही गीतकार हैं। इन कविया न कवि सम्मेलनो मे लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए काव्य रचना नही की। नई कविता का प्रचलन प्रारम्भ होने के साथ ही कुछ कविया न गीत काव्य के परम्परागत रूप शिल्प और भाव बोध मे परिवतन लाकर उसे नया गीत या नवगीत बनाने का भी प्रयास किया। इस तरह स्वातन्त्र्य युग मे गीति काव्य की चार धाराएँ दिखाई पडती हैं

(१) छायावादी एव स्वच्छद व्यक्तिवादी गीति काव्य, (२) छायावादोत्तर-युगीन गम्भीर भाव-बोध वाला गीत-काव्य, (३) रूमानी गीत धारा, (४) नव गीत।

इनमे से प्रथम धारा के प्रमुख कवि, जिनकी कविताएँ स्वातंत्र्य युग म भी प्रकाशित होती रही है, निराला, माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन और अचल हैं। इस काल मे निराला के तीन गीत सग्रह प्रकाशित हुए 'अचना (१९५०),'आराधना' (१९५३) और गीत गुज (१९५४)। इन तीनो म 'गीतिका' क ढग के छोट छाटे गीत है। अधिकतर गीत भक्तिपरक ह। कुछ गीता म प्राकृतिक और मानवीय सौन्दय का स्वाभाविक चित्रण भी ह। इन गीता म पहुचकर निराला की सब

उग्रता और विद्रोह समाप्त हो गया है और चिंतनशीलता का प्रवेश हो गया है। यहाँ वे गहरे दार्शनिक चिन्तन अथवा अध्यात्म में लीन से दिखाई पड़ते हैं। माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय भावना तथा आध्यात्मिक चेतना के कवि रहे हैं। स्वातंत्र्य-काल में उनकी पुरानी कविताएँ भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुई हैं। इन कविताओं का रूप लघु प्रगीतों का है। विचारात्मक पद्धति के गीत इनमें कम ही हैं। माखनलाल चतुर्वेदी का भावबोध अत्यन्त सूक्ष्म है। इस कारण इनकी सामाजिक चेतना वाली तथा राष्ट्रीय कविताएँ भी भावात्मक और उपदेशात्मक रही हैं। इनमें भावना और चिन्तन का समन्वय हुआ है। उनकी परवर्ती कविताओं में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान नहीं है। इस काल की रचनाओं में उनकी दो प्रवृत्तियाँ प्रमुख हैं : प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति अगाध अनुरक्ति और श्यामसुन्दर के प्रति समर्पण की भावना। प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति उनकी अनुरक्ति का कारण यह है कि उसमें भी उन्हें अपने 'श्यामसुन्दर' का ही नील वर्ण दिखाई पड़ता है। इस प्रकार कवि की आध्यात्मिकता मुख्यतः प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण में ही व्यक्त हुई है। वे प्रकृति पुरुष के अभेद रूप में विश्वास करते हैं और प्रकृति की पूजा को ही पुरुष की पूजा समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि माखनलाल चतुर्वेदी का काव्य व्यक्तित्व इस काव्य-साधना में अधिक निखरा है। उनकी भाषा बोलचाल की भाषा के अधिक निकट आई है और उसमें परस्पर विरोधी-से प्रतीत होने वाले भावों का समीकरण हुआ है।

स्वातंत्र्य-काल में हरिवंशराय 'बच्चन' की निम्नलिखित काव्य-पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं : 'खादी के फूल' (१९४८), 'मिलन यामिनी' (१९५०), 'प्रणय पत्रिका' (१९५५), 'धार के इधर उधर' (१९५७) और 'आरती और अंगारे' (१९५८)। इनमें से 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' में अधिकतर प्रेम और सौन्दर्य से सम्बन्धित विविध मनःस्थितियों का भावुकतापूर्ण अथवा व्याख्यात्मक वर्णन हुआ है। इन संग्रहों में तो बच्चन पुराने व्यक्तिवादी बच्चन ही हैं पर 'खादी के फूल' और 'धार के इधर उधर' में उनके उस सामाजिकता-बोध वाले पक्ष के भी दर्शन होते हैं जो उनके 'बंगाल का काल' में पहले-पहल दिखाई पड़ा था। 'आरती और अंगारे' तथा 'बुद्ध और नाचघर' ग्रन्थों में उनकी सामाजिक चेतना अधिक विकसित होती गई है और व्यक्तिवादी स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति दबती गई है। परवर्ती दोनों ग्रन्थों में कवि का प्रेमोन्माद और प्रणय आवेग एकदम शान्त हो गया है और उसकी जगह आध्यात्मिक चेतना ने ले ली

है। पर उनकी कविताओं में चाहे वे व्यक्ति-चेतना मूलक हों या सामाजिक चेतना मूलक, एक सामान्य बात यह दिखाई पड़ती है कि वे एक संवेदनशील कवि होने के नाते अपनी समस्त मानसिक प्रतिक्रियाओं को टेप रेकर्ड की तरह शब्द बद्ध करते चलते है। अनुभूति को परिपक्व होने के लिए वे अवसर नहीं प्रदान करते। इतना ही नहीं, वे अनुभूतियों का विस्तार के साथ, स्फीत करके व्यक्त करते तथा एक ही अनुभूति को अनेक कविताओं में भिन्न भिन्न रूपों में उपस्थित करते है। इसीलिए उनके अधिकांश काव्य ग्रन्थ योजनाबद्ध हैं। उनकी रचना प्रक्रिया प्रबन्धकाव्यों जैसी है। इस तरह के प्रत्येक काव्य ग्रन्थ की सभी कविताएँ एक ही भाव शृंखला की कड़ियाँ प्रतीत होती है। इससे बच्चन के काव्य व्यक्तित्व की बहुत हानि हुई है, क्योंकि इस प्रवृत्ति के कारण उनकी कविताओं में कच्चे और पक्के माल का विचित्र घालमेल हो गया है। सम्भवतः उन्हें अपने प्रत्येक शब्द के प्रति मोह है तभी तो उन्होंने अपने संग्रहों में स्वागत या वर्षगांठ के अवसर पर लिखी कविताओं को भी छपा दिया है। संग्रह में त्याग और चुनाव की प्रवृत्ति होने पर ही काव्य व्यक्तित्व में निखार आ सकता है अन्यथा कविताएँ मन के साधारण से साधारण उतार-चढ़ाव का चार्ट बन जाती है। हर्ष की बात है कि बच्चन ने अपनी परवर्ती पुस्तकों में सब कुछ कह देने और सब लिखा छपा देने के मोह को छोड़ दिया है।

बच्चन का काव्य व्यक्तित्व स्थिर या जड़ नहीं, विकासशील है। किन्तु उसमें विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त उनका व्यक्तित्व द्विधा विभक्त हो गया था। उसका एक पक्ष सामाजिक दायित्व का वहन कर रहा था और दूसरा वयक्तिक जीवन के स्थूल संवेदनों का वशवर्ती था। ये दोनों पक्ष एक दूसरे से कटे हुए थे। 'धार के इधर उधर' और 'खादी के फूल' प्रथम पक्ष तथा 'प्रणय पत्रिका' द्वितीय पक्ष का प्रतिनिधित्व करते है। 'आरती और अंगारे' में ये दोनों पक्ष मिलते दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि दोनों का पूर्ण सामंजस्य उसमें नहीं हो सका है। 'बुद्ध और नाचघर' में कवि के मानस लोक के उस धरातल का उद्घाटन हुआ है जो मुक्त छन्दों में ही अभिव्यक्त हुआ करता है और जो कवि के भीतर सन् १९४४ के बाद से ही सम्बर्द्धित होता आ रहा था। यह काव्य ग्रन्थ बच्चन के बदलते हुए और नया मार्ग खोजने वाले व्यक्तित्व की प्रतिक्रियाओं का सही दस्तावेज है। इस संग्रह की कविताओं में कवि ने अपने अन्तर्निहित व्यक्तित्व को उपलब्ध कर लिया है।

'आरती और अंगारे' तक बच्चन योजना-बद्ध कविताएँ लिखने के अभ्यासी थे। 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' की कविताएँ उसी प्रकार की एक बड़ी योजना की जिसमें ढाई तीन सौ गीत लिखने की बात थी, शृंखला की कड़ियाँ हैं। इन कविताओं का परिप्रेक्ष्य, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत है। इस प्रकार यह कवि की भावात्मक जीवनी है। इस तरह की योजना बद्ध कविताएँ कवि की अन्तर्दृष्टि (विज़न) की देन नहीं होतीं। उनकी रचना बौद्धिक प्रयास द्वारा होती है। अतः ऐसी रचनाओं में काव्यत्व का अभाव होना स्वाभाविक है। 'खादी के फूल' और 'धार के इधर उधर' की कविताओं में सम्बन्ध में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। वास्तविक कविता वह होती है जिसमें अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सहज रूप में होती है। बच्चन के 'मधुकलश', 'निशा निमंत्रण' आदि की कविताओं में अनुभूति का वेग बहुत है। पर उनकी सामाजिक चेतना वाली कविताओं तथा 'आरती और अंगारे' में अनुभूति की अपेक्षाकृत कमी दिखाई पड़ती है। ऐसी कविताएँ विशेषकर 'बुद्ध और नाचघर' की कविताएँ, निबन्ध-काव्य की कोटि में आयेंगी क्योंकि इनमें अनावश्यक स्फीति और विवृत्ति तथा तर्कपूर्ण विवेचना बहुत है। जहाँ भावात्मकता अधिक है वहाँ एक ही प्रकार के वाक्यों की आवृत्ति एक विशेष रीति (मैनरिज़्म) के रूप में दिखाई पड़ती है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' की स्वातन्त्र्य युग में एक ही पुस्तक प्रकाशित हुई है 'विराम चिह्न'। इस संकलन की कविताएँ कुछ अपवाद के साथ, पूर्णतः रूमानी और व्यक्तिवादी चेतना से युक्त हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व अंचल जहाँ थे, इन कविताओं में भी वहीं हैं। उनके कथ्य और शैली में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ कविताएँ सामाजिक चेतना से युक्त तथा मुक्त छन्द में अवश्य हैं पर वे कवि की मुख्य काव्य धारा से विच्छिन्न दिखाई पड़ती हैं। काव्य के शिल्प तथा भाषा में उन्होंने कोई नवीनता या ताज़गी नहीं उत्पन्न की है। बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा और गोपालसिंह नेपाली ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व छायावादोत्तर काल में व्यक्तिवादी स्वच्छंदता की जो रूमानी काव्य धारा बहाई थी उसको परिशुद्ध करके गम्भीर धरातल पर पहुँचाने वाले गीतकार कवियों में जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, वीरेन्द्र मिश्र और रमानाथ अवस्थी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने 'शिप्रा' 'लीला कमल' और 'गाथा' नामक काव्य ग्रन्थों में सौंदर्य बोध के गहरे धरातल का स्पर्श

किया है यद्यपि उन्होंने परम्परागत गीतों की पद्धति का त्याग नहीं किया, न गीतों के रूप शिल्प में ही नवीनता और ताज़गी उत्पन्न की है। आंतरिक सौंदर्य चेतना और आध्यात्मिक संस्पर्श के कारण उनके गीतों में छायावादी ढंग का भावोन्मेष है। वीरेन्द्र मिश्र और रमानाथ अवस्थी ने अपने गीतों में मध्यमवर्गीय व्यक्ति की मानसिक प्रतिक्रियाओं को गम्भीरता के साथ उपस्थित किया है। इन्होंने गीत शैली में कुछ नये प्रयोग भी किए हैं। बच्चन ने जिस काव्य शैली का परित्याग कर दिया है, उसे अपनाकर अब भी बहुत से कवि चल रहे हैं। इन कवियों का लक्ष्य मुख्यतः कवि सम्मेलनों में कविता पाठ करके ख्याति प्राप्त करना होता है। इन कवियों में से कुछ ने सस्ती रूमानी भाव चेतना को अत्यन्त सामान्य स्तर तक ले जाने का प्रयास किया है। ऐसी कविताओं को वर्तमान गीतधारा की प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं माना जा सकता। छायावादी काव्य धारा के ह्रास की अंतिम परिणति ऐसी ही गीत कविताओं में दिखाई पड़ती है।

इधर कुछ वर्षों से गीत काव्य के भीतर एक नया मोड़ आया है। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से गीतों के भीतर नवीनता और ताज़गी लाने का यह अभिनव प्रयास इधर एक आन्दोलन का रूप ले रहा है। ऐसे गीतों को नव गीत कहा जाता है। वस्तुतः नई कविता और नव गीत में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों का स्थूल अन्तर इतना ही है कि नई कविता मुक्त छन्द में या छन्द मुक्त रूप में लिखी जाती है और नव गीत छन्दोबद्ध होता है। नई कविता की भांति नव गीत भी अपनी भाषागत विशिष्टता, भावगत आधुनिकता, प्रतीकात्मक और सांकेतिक बिम्ब योजना आदि के कारण पूर्ववर्ती छायावादी और प्रयोगवादी कविताओं तथा छायावादोत्तर काल के सस्ते रूमानी गीतों से भिन्न दिखाई पड़ता है। उस पर आधुनिकता की गहरी छाप है। नव गीत का प्रारम्भ नई कविता के साथ ही हो गया था। अज्ञेय, भारती, सर्वेश्वर, गिरिजाकुमार माथुर, कुंवरनारायण, केदारनाथ सिंह, और नरेश मेहता ने अनेक नये ढंग के गीत लिखे थे। इस नवीन गीत परम्परा को आगे बढ़ाने वाले महत्त्वपूर्ण कवि हैं ठाकुरप्रसाद सिंह, रामदास मिश्र वीरेन्द्र मिश्र, रवीन्द्र 'भ्रमर', बालस्वरूप राही आदि।

५ प्रयोगवाद

नई कविता और प्रयोगवाद का एक अन्तर यह है कि प्रयोगवाद प्रतिक्रिया-

वाली प्रवृत्ति की देन है और इसी [illegible] प्रवृत्ति [illegible] है। इस कारण प्रयोगवादी कविता में [illegible] विचार और [illegible] का प्रसार होता है। [illegible] और [illegible] प्रवृत्ति का [illegible] है। [illegible] और [illegible] द्वारा [illegible] का चौंकाना और [illegible] है। प्रयोगवादी कवि [illegible] और [illegible] प्रवृत्ति [illegible] [illegible] और [illegible] है। [illegible] की अनुभूति की [illegible] और [illegible] है। इस प्रकार प्रयोगवादी कविता में [illegible] प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—१. रचना और शिल्प [illegible] प्रयोगों द्वारा पाठकों को चौंकाने की प्रवृत्ति, २. बौद्धिक [illegible] और [illegible] की प्रवृत्ति, ३. कविता को अकविता बनाने [illegible] और [illegible] की प्रवृत्ति, ४. [illegible] और [illegible] मान्यताओं और परम्पराओं का अस्वीकार करने की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति।

यद्यपि नई कविता के प्रचलन के बाद प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों का प्रचार कम हो गया और प्रयोगवाद के बहुत-से प्रवर्तक कवि नई कविता के कवि बन गए, किन्तु कुछ कवियों में यह परिवर्तन परिलक्षित नहीं हो सका। वस्तुतः प्रयोगवाद एक विशेष प्रकार के मानसिक गठन वाले व्यक्तियों के मन का प्रतिनिधित्व करता है। इस वर्ग के लोग नई कविता के युग में भी समाज में वर्तमान रहे हैं अतः प्रयोगवाद उसी वर्ग की मानसिक प्रवृत्तियों का प्रसार करता हुआ आज भी किसी-न-किसी रूप में जीवित है। प्रगति प्रयोग काल के प्रयोगवादी कवियों में केवल प्रभाकर माचवे ही ऐसे कवि हैं जिन्होंने प्रयोगवाद का पल्ला कभी नहीं छोड़ा और वे आज भी उसी पथ पर चल रहे हैं। अज्ञेय ने नई कविता के युग में जिन दो सप्तकों का सम्पादन किया उनमें भी कई प्रयोगवादी कवि सम्मिलित हैं। इनमें से दूसरे सप्तक में हरिनारायण व्यास, शकुन्त माथुर, नरेश मेहता और शमशेरबहादुर सिंह और तीसरे सप्तक में मदन वात्स्यायन की कविताएँ अधिकतर प्रयोगवादी ही हैं, किन्तु इनमें पूर्णतः प्रयोगवादी कवि केवल मदन वात्स्यायन ही हैं। जिन प्रयोगों

वादी कवियों का सप्तकों में स्थान नहीं मिल सका था उनमें से कुछ ने 'प्रपद्यवाद' नाम से एक अलग शिविर बनाया। उनमें से तीन प्रमुख कवियों—नलिनविलोचन शर्मा, केसरीकुमार और नरेश—की कविताओं का सकलन 'नकेन' (सन १९५८) नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में प्रारम्भ में प्रपद्यवाद के बारह सूत्र तथा अन्त में 'परम्परा' के अन्तर्गत प्रपद्यवाद या प्रयोगवाद की व्याख्या दी गई है। इन कवियों का दावा है कि वास्तविक प्रयोगवादी तो वे ही हैं, अज्ञेय द्वारा सम्पादित सप्तकों के कवि प्रयोगवादी नहीं, केवल प्रयोगशील हैं क्योंकि वे प्रयोग को साध्य नहीं, साधन मानते हैं। सप्तकेतर तथा प्रपद्यवादेतर प्रयोगवादी कवियों में लक्ष्मीकान्त वर्मा, राजेन्द्र किशोर और मुद्राराक्षस के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविताएँ 'धुएँ की लकीरें' (सन १९५६) नामक काव्य सकलन में विपिनकुमार अग्रवाल की कविताओं के साथ और राजेन्द्रकिशोर की कविताएँ उनकी 'स्थितियाँ, अनुभव तथा अन्य कविताएं' नामक पुस्तक में प्रकाशित हो चुकी हैं।

सप्तकीय प्रयोगवादी कवियों में प्रभाकर माचवे प्रमुख हैं। माचवे की कविताओं का सकलन 'अनुक्षण' (सन १९५६) प्रकाशित हो चुका है। माचवे कविता को सामान्य गद्य से भिन्न नहीं मानते। इसलिए कविता लिखने में इन्हें कोई कठिनाई नहीं होती क्योंकि इनकी अनुभूतियों को 'अभिव्यक्ति का सकट' नहीं झेलना पड़ता। पर ऐसी कविताओं में व्यग्य और वैचित्र्य का चमत्कार अवश्य होता है। ये रिपोर्ताज और दृश्य वर्णन में भी विदेशी या देशज शब्दों के प्रयोग इस रूप में करते हैं कि कविता में कुछ न कुछ नयापन आ ही जाता है। फिर भी इनकी अधिकांश कविता सहज गद्य की शैली में होने से इतिवृत्तात्मक या वर्णनात्मक है। व्यग्य कविताओं में इनकी प्रयोगात्मक प्रवृत्ति विशेष उभरी है।

दूसरे सप्तक के कवियों में हरिनारायण व्यास में प्रयोगवाद का विवेचनात्मक पक्ष बहुत प्रबल है। इन्होंने अपने मार्क्सवादी विचारों को भाषण और वक्तव्य की शैली में व्यक्त किया है अथवा अलकारों की सहायता से उन्हें स्थापित करने का प्रयत्न किया है। जहाँ विवेचना और उद्बोधन नहीं है वहाँ प्रकृति और मानवीय स्थितियों को रिपोर्ताज की शैली में उपस्थित किया गया है। इस तरह इनकी कविताएँ वैचारिक और योजना बद्ध हैं। नरेश मेहता में प्रयोग की प्रवृत्ति हरिनारायण व्यास से अधिक है। वे चमत्कारपूर्ण उपमानों का प्रयोग करते हैं, भले ही वे उपमान हास्यास्पद प्रतीत हों जैसे किरण धनु क्षितिज-जगल, आलोक

दूध, मेघ चील, आसमान का गटठर आदि। इस तरह उनके प्रयोग मुख्यत आलकारिक है। सागरूपक और उपमा उत्प्रेक्षा या वाक्य नय उपमानो के ऊटपटांग प्रयोग के कारण चौकान मे भले ही सफल हो जाय पर उस वास्तविक काव्य नही कहा जा सकता। तीसरे सप्तक के कवि मदन वात्स्यायन की दृष्टि यद्यपि वैज्ञानिक है पर आधुनिक कला का शिल्प उनके पास नही है। इस कारण वैचित्र्य प्रदर्शन की रुचि म ही उनकी कविता की नवीनता दिखाई पडती है। इन्होंने परम्परागत काव्य शाला का निर्भयता-पूवक बहिष्कार किया है और अनगढ, अटपटी और दनन्दिन जीवन की चालू भाषा मे अपने विचारो तथा अनुभूतियो को व्यक्त किया है। यान्त्रिक उपमानो का प्रयोग तथा कारखानो, दफ्तरो की रूखी जिन्दगी का यथातथ्य चित्रण इनकी कविताओ की विशेषता है।

प्रपद्यवादी शिविर के कवियो म प्रयोग की प्रवृत्ति बहुत प्रबल है। नलिन विलोचन शर्मा ने अलकारो का प्रयोग छायावादी ढग से किया है पर शब्दो के प्रयोग मे अत्यधिक विचित्रता दिखाई है। सधि और समास के नये प्रयोगो द्वारा उन्होने ऐसे चमत्कार उत्पन्न किए है जिनका लक्ष्य पाठको को चौंकाने के अतिरिक्त और कुछ नही है, जैसे, और उस=औरुसे, और अधकार=औरधकार। कही कही साथ के कई शब्दो के वर्णों को अलग करके अन्य शब्दो के साथ रखकर वचित्र्य उत्पन्न किया है, जसे कलकत्ता पजाब मेल का कलकत्ताप अजा बमल। वर्ण विपयय द्वारा भी चमत्कार उत्पन्न किया गया है जसे, रदेख ही (देख रही)। इस तोड फोड द्वारा कवि शायद कुछ नवीन अर्थ उत्पन्न करना चाहता है। पर उन नये अर्थो का कही सकेत नही मिलता। नलिन की भाषा अत्यन्त कृत्रिम पडिताऊ और अव्यावहारिक है। आक्रोश, विद्रोह और प्रतिक्रिया की भावना उनम इतनी अधिक है कि सूक्ष्म अनुभूतियो का उनके काव्य मे कही पता ही नही चलता। ये सभी प्रवृत्तिया केसरीकुमार और नरेश की कविताओ मे भी दिखाई पडती हैं। इन लोगो ने अर्थ सम्बन्धी प्रयोग उतने नही किए जितने शब्द सम्बन्धी प्रयोग किए हैं। अर्थ प्रयोगो म उन्होने ऐसी अनुभूतियो की अभिव्यक्ति की जो गोपनीय या अश्लील मानी जाती हैं अथवा जो परम्परागत सौंदर्य चेतना पर आघात करती हैं।

अन्य प्रयोगवादी कवियो म लक्ष्मीकान्त वर्मा और राजेन्द्रकिशोर विशेष उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविताएँ यह प्रमाणित करती है कि कोई भी व्यक्ति चाहे तो भिडकर कविता लिख सकता है। इनकी कविताओ म युग

बोध और विद्रोह की प्रवृत्ति बहुत अधिक है किन्तु उनमें काव्यत्व का सर्वथा अभाव है। इन्होंने वैज्ञानिक युग के उपकरणों एवं तथ्यों को उपमान बनाकर रूपक और उपमाएँ खड़ी की है। किन्तु ये अलंकार अत्यन्त कृत्रिम प्रतीत होते हैं। इनके बिम्ब अलंकृत और प्रतीक रूपकात्मक है। इससे स्पष्ट है कि वे सोच-सोच कर, परिश्रम के साथ कविता लिखते है। विचित्र उपमानों और बिम्बों द्वारा वे जो अर्थ संकेतित करना चाहते है उनकी ओर पाठकों का ध्यान जाने ही नही पाता, वह उन नये उपमानो मे ही उलझकर रह जाता है। इनकी कविताओं की एक और विशेषता यह है कि उनमें बौद्धिक सूक्तियां, वक्तव्य, विवेचना और नारेबाजी की प्रमुखता है। वे धुआं, कडवाहट और धुंधलापन ही अधिक पसन्द करते है। तारसप्तकीय प्रयोगवादी कवियों के समान इनमें शंका, दुविधा और अहं का बोध बहुत तीव्र है। इनकी कविताओं मे अनगढ़पन, शिल्प हीनता और गद्यात्मकता इतनी अधिक है कि कोई भी पाठक इन्हे अत्यन्त परिश्रम से ही पढ़ सकता है। राजेन्द्रकिशोर की कविताओं मे यद्यपि नई कविता के बीज वर्तमान है किन्तु प्रयोग वादी संस्कार उनमें अधिक हैं। इन्होने अधिकतर छन्द और वर्ण विन्यास सम्बन्धी प्रयोग किए है तथा एक विशेष प्रकार की अकलूल रीति विकसित कर ली है। उन्होंने पंक्तियों को बहुत अधिक तोड़ा है और प्रायः एक पंक्ति मे एक शब्द या एक वर्ण ही रखा है। इस तरह इन्होंने विचित्र पंक्ति विन्यास द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास किया है जो काव्य के लिए अनावश्यक वस्तु है। प्रसन्नता की बात है कि प्रयोग को साध्य मानने वाले कवियों की संख्या उत्तरोत्तर कम होती जा रही है और प्रयोगवादी चमत्कार भी अब अपना प्रभाव खो चुके हैं।

६ नई कविता

सामान्यतया सन १६५० ई० के बाद की कविता को प्रयोगवाद से भिन्न करने के लिए नई कविता का नाम दिया जाने लगा है और यह नाम अब स्वीकृत भी हो चुका है।

'नई कविता' नाम के पीछे एक इतिहास है। सन् १६४३ ई० मे जब इस प्रकार की नये ढंग की कविताएँ अज्ञेय के संपादकत्व में 'तार सप्तक' मे संकलित हुईं तो उनके रूप शिल्प सम्बन्धी नये प्रयोगों को देखकर तथा कवियों द्वारा प्रयोग शब्द के बार बार व्यवहार को ध्यान में रखकर हिन्दी के कतिपय आलोचकों ने इस नई काव्य प्रवृत्ति का नाम ही प्रयोगवाद रख दिया। किन्तु बिना समझे-

बूझे दिया गया यह नाम सार्थक था, क्योंकि इस प्रकार की कविताओं में प्रयोग की प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक थी। इन कवियों के लिए प्रयोग साधन नहीं, साध्य बन गया था। सन् १९५० के बाद प्रयोग की प्रवृत्ति कम होती गई। साथ ही इस काव्य धारा के भीतर जो अतिशय प्रतिक्रिया की भावना वर्तमान थी वह भी धीरे धीरे कम होती गई।

यद्यपि नई कविता में भी नवीन प्रयोग करने की प्रवृत्ति वर्तमान है किन्तु उसमें कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ भी हैं जिनके कारण वह अपने ठीक पूर्व की प्रयोगवादी कविता से एकदम भिन्न है। प्रयोगवाद और नई कविता में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रयोगवाद द्वन्द्व और प्रतिक्रिया की कविता है किन्तु नई कविता सश्लेषण और सामंजस्य की कविता है। यद्यपि प्रयोगवाद की भांति नई कविता में भी क्रान्तिकारी भावना वर्तमान है किन्तु इस क्रान्ति की दिशा निर्धारित और लक्ष्य निर्दिष्ट है। वह लक्ष्य है सभी प्रकार के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक बन्धनों, रूढ़ियों, वर्जनाओं और आरोपित मान्यताओं से मानव की मुक्ति। नई कविता की जो नई दिशा खुली है उसमें व्यक्ति की आत्मानुभूति से उद्भूत विवेक अथवा स्वयंप्रभ ज्ञान ही उसका प्रथम और अन्तिम पथ दर्शक है।

नई कविता की रचना प्रक्रिया छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की रचना प्रक्रिया से भिन्न कोटि की है। काव्य रचना की सचेष्ट स्थिति और समाधि स्थिति के कई स्तर-भेद हैं। काव्य की श्रेष्ठता उसकी रचना स्थिति के स्तर पर निर्भर करती है। ये स्तर तीन हैं—

(१) स्थूल कल्पना का स्तर।

(२) सूक्ष्म कल्पना का स्तर।

(३) पश्यन्ती कल्पना अथवा सविकल्प समाधि का स्तर।

नई कविता में अधिकतर उपर्युक्त द्वितीय और तृतीय प्रकार की कल्पना कार्य करती दिखाई पड़ती है। रीतिकालीन कविता में प्रथम प्रकार की स्थूल कल्पना की अधिकता थी जो चमत्कारपूर्ण अलंकार-योजना के रूप में व्यक्त हुई है। इस प्रकार की कल्पना दीक्षागम्य और अभ्यास-साध्य होती है। यही स्थिति द्विवेदीयुगीन कविता तथा प्रगतिवादी एवं प्रयोगवादी कविता में भी दिखाई पड़ती है। इन तीनों प्रकार की काव्य प्रवृत्तियों में चेतन मन की बौद्धिकता और तार्किकता बहुत अधिक होती थी और यदि कहीं कल्पना का योग अपेक्षित होता

था तो उपयुक्त प्रथम प्रकार की स्थूल कल्पना से काम लिया जाता था। किन्तु नई कविता सीधे आध्यात्मिक अवचेतन या पूर्वचेतन मन से उत्पन्न होती है जिससे वह स्वप्न, दिवा स्वप्न अथवा जादू टोना जैसा वातावरण उपस्थित करके पाठक के मन को अभिभूत करने की शक्ति रखती है।

नई कविता की विशेषताएँ

१ **आधुनिक भावबोध**—सच पूछा जाय तो आधुनिकता ही नई कविता का प्राण है। आज की आधुनिकता उन जीवन मूल्यों की ओर इंगित करती है जो रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, प्राणि विज्ञान, नृतत्व-शास्त्र, मनोविश्लेषण शास्त्र, समाज शास्त्र, राज-शास्त्र आदि आधुनिक विषयों के क्षेत्र में होने वाली खोजों और तज्जन्य उपलब्धियों के फलस्वरूप आधुनिक मानव के मन में घटित होने वाली क्रान्तियों और परिवर्तनों की प्रक्रिया में निर्मित हुए हैं। नई कविता में आधुनिकता की यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर अधिक मात्रा में परिलक्षित हो रही है। इसी कारण पुराने खेवे के जिन लोगों को आधुनिक वैज्ञानिक क्षेत्रों की नवोपलब्धियाँ अनधीत हैं उनके लिए नई कविता दुरूह, बौद्धिक और अनर्गल प्रलाप है।

२ **वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य**—नई कविता सामाजिकता और वैयक्तिकता को अलग अलग खानों में बाँटकर नहीं देखती। उसकी दृष्टि में समाज परिधि है और व्यक्ति केन्द्र। नई कविता के कवि का 'मैं' एक का नहीं 'बहु' का बोधक है। इसलिए ऐसा कवि वैयक्तिक चेतना की अभिव्यंजना करता हुआ भी सामाजिक यथार्थ से असपृक्त नहीं रहता।

इस सामंजस्य के फलस्वरूप नई कविता के कवियों का मानस क्षितिज अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और विस्तृत हो गया है।

३ **अनुभूतियों की अद्वितीयता और प्रामाणिकता**—नया कवि जीवन की परिस्थितियों और वस्तुओं की सत्ता से सीधा सम्बन्ध स्थापित करके अपनी मौलिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करता है। इस कारण उसके मनोलोक की कोई सीमा नहीं है। वह अनुभूतियों के ऐसे मौलिक और नवीन स्तरों का उद्घाटन करता है जो उसके लिए प्रामाणिक होते हुए भी अन्य लोगों के लिए अप्रामाणिक प्रतीत हो सकते हैं। इसका कारण यही है कि कवि जिन क्षणों में उन अनुभूतियों को उपलब्ध और अभिव्यक्त करता है वे अद्वितीय होते हैं। किसी अनुभूति की प्रामा-

णिकता और अद्वितीयता का अर्थ यह है कि वह कवि की चेतना में गहराई तक प्रविष्ट हो चुकी है और किसी अन्य व्यक्ति ने उस अनुभूति को उसी रूप में और उसी गहराई तक उपलब्ध नहीं किया है। इस तरह नई कविता की अनुभूतियाँ परम्परागत, घिसी पिटी अनुकृत नहीं होतीं और उनमें मौलिकता और असाधारणता अनिवार्य रूप से होती है।

४ प्रतीकात्मक और खण्डित बिम्ब योजना—नई कविता में मूर्तिमत्ता या बिम्ब-योजना जितनी अधिक मिलती है उतनी इसके पूर्व की हिन्दी कविता में कभी नहीं थी। नई कविता के बिम्ब अधिकतर प्रतीकात्मक और सांकेतिक होते हैं। इसका कारण यह है कि नई कविता संवेदनात्मक या ऐन्द्रियबोधात्मक है। संवेदना (सेन्सेशन) बिम्बों के द्वारा ही उत्पन्न हो सकती है और अभिधेय बिम्ब केवल हमारे ज्ञानेन्द्रियों की ऊपरी सतह का ही स्पर्श करते हैं। इसलिए नई कविता गहरी संवेदनाओं को उद्दीप्त करके अनुभूतियों के नए अछूते आयामों का उद्घाटन करने के लिए प्रतीकात्मक और सांकेतिक बिम्बों की योजना करती है।

किन्तु नई कविता की बिम्ब योजना प्रायः विश्लिष्ट या खण्डित होती है। नई कविता मनोविश्लेषण शास्त्र के उपचेतन मन के सिद्धान्त से बहुत प्रभावित है जिसके अनुसार कविता की रचना में उपचेतन मन का जितना योग होता है उतना चेतन मन का नहीं। उसके अनुसार काव्यगत बिम्ब उपचेतन मन से ही उद्भूत होते हैं, और जिस तरह स्वप्न और दिवा स्वप्न के बिम्ब खण्डित और प्रतीकात्मक होते हैं उसी तरह काव्य के बिम्ब भी होते हैं। फिर भी उनमें परस्पर एक अन्तस्सम्बन्ध होता है। इसी सम्बन्ध हीन सम्बन्ध को 'मुक्त आसंग' कहते हैं जो मुक्त चेतना प्रवाह का परिणाम होता है। नई कविता में यह मुक्त आसंग वाली खण्डित बिम्ब-योजना ही अधिक मिलती है। इन विशृंखलित बिम्बों का प्रयोजन पूर्व चिंतित और पूर्व निश्चित अर्थों का बोध कराना नहीं होता, पाठक के ऐन्द्रिय-बोध या संवेदना को उन खण्डित बिम्बों द्वारा उद्दीप्त करके उपचेतन मन में वन्दी उसी प्रकार के बिम्बों की एक नई शृंखला की नव रचना करना होता है। इस तरह इन खण्डित बिम्बों के संकेत से ऐसी संवेदना की उपलब्धि होती है जो कवि के संवेदना से प्रायः भिन्न होते हैं। फलतः इन खण्डित बिम्बों में जितनी अधिक और व्यापक अर्थवत्ता होती है उतनी पूर्ववर्ती कविता में नहीं थी। इससे स्पष्ट है कि नई कविता शब्द या अर्थ प्रधान नहीं, बिम्ब प्रधान है।

नई कविता के बिम्ब प्रायः प्रतीकात्मक होते हैं। किन्तु नई कविता में पुराने

रुढ प्रतीकों को छोडकर नवीन अप्रयुक्त प्रतीकों का उपयोग किया जाता है। नई कविता का कवि यदि कभी पुराने प्रतीकों का उपयोग करता भी है तो उन्हें नए सदर्भों में सयोजित करके उनमें भिन्न प्रकार की सशक्त और ताजगी सयुक्त अर्थवत्ता भरने का प्रयत्न करता है। नई कविता के प्रतीकों की एक नई विशेषता यह है कि वे अधिकतर वैयक्तिक प्रतीक हैं। सार्वभौम प्रतीकों में नवीन अर्थों को व्यक्त करने की शक्ति नहीं होती। नई कविता में व्यक्त आधुनिक भाव बोध वैज्ञानिक दृष्टिकोण और नवीन जीवन मूल्यों के कारण उसका कथ्य बिलकुल नया होगया है। कथ्य की नवीनता के कारण कवि को सदा अभिव्यजना के नवीन माध्यमों की खोज करनी पडती है। इसलिए नई कविता जिस तरह पुरान अप्रस्तुत विधान और परम्परागत अलकारों को छोडकर नवीन अप्रस्तुत का चित्रण करती है उसी तरह नवीन कथ्य को व्यक्त करने के लिए अप्रयुक्त और बिलकुल ताजे प्रतीकों का प्रयोग भी करती है। प्रतीकों की यह नवीनता और ताजगी तभी बनी रह सकती है जबकि वे वैयक्तिक हों।

५ छन्द विधान—काव्य के रूप शिल्प में उसके ढाचे (पटन) का बहुत अधिक महत्त्व है। पूववर्ती कविता का ढाचा मुख्यत छन्दों पर आश्रित रहता था और इसीलिए कविता को छन्द या पद्य से प्राय अभिन्न मान लिया जाता था। आधुनिक युग में प्राय सभी देशों में काव्य के बँधे बँधाए नियमित छन्द विधान के विरुद्ध विद्रोह हुआ। हिन्दी कविता में इस विद्रोह का प्रारम्भ छायावाद युग में ही हो गया था। छायावादी विद्रोह के मूल में यह धारणा निहित थी कि काव्य और सगीत दोनों का मूल तत्त्व लय है। अत कविता गीतात्मक भी हो सकती है और लययुक्त छन्द में भी हो सकता है।

काव्यगत सगीत या लय के सम्बन्ध में विचार करते समय विशेष ध्यान देने की बात यह है कि पद्य में ही नहीं, गद्य में भी तथा मनुष्य के जीवन में भी एक लय है जो विविध कालों, अवस्थाओं और परिस्थितियों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होती रहती है। काव्य जीवन से अविच्छिन्न है। अत काव्य की लय भी जीवन की लय से विच्छिन्न नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह कि काव्य का सगीत युगसापेक्ष और समाज के जीवन के अनुरूप होता है। आधुनिक युग का जीवन वैज्ञानिक और बौद्धिक होने के कारण अत्यन्त जटिल हो गया है, उसमें भावुकता नहीं रह गई है। इस कारण आज का युग जीवन गद्यात्मक हो गया है। फलत नई कविता में पद्य की लय की जगह गद्य की लय ने ले ली है। इसी अर्थ में यह कहा

जाता है कि नई कविता में नाद की लय नहीं, अर्थ की लय है।

६ **भाषा और शब्द चयन**—भाषा और शब्द चयन की दृष्टि से भी नई कविता पूर्ववर्ती काव्य से बिलकुल भिन्न प्रतीत होती है। उसमें पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्तियों की भाषा के दोषों को छोड़ दिया गया है और दोनों की अच्छाइयाँ स्वीकार कर ली गई हैं। नई कविता की भाषा उत्तरोत्तर बोल चाल की भाषा के निकट होती जा रही है।

वस्तुत नई कविता प्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक बिम्बों की कविता है। इस कारण उसकी भाषा चित्रात्मक, लाक्षणिक और व्यंजना प्रधान है। नई कविता की भाषा की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें उर्दू की शब्दावली और मुहावरों का प्रयोग तो हुआ ही है, अंग्रेजी के अनेक संज्ञा पद भी ले लिये गए हैं। यही नहीं, उसके वाक्य गठन पर भी अंग्रेजी भाषा का प्रभाव पड़ा है जिससे उसमें अंग्रेजी जैसे वाक्य विन्यास, विराम चिह्न मध्यवर्ती वाक्य आदि का नि संकोच प्रयोग हुआ है। निष्कर्ष यह है कि नई कविता ने अपने सार्थक प्रयोगों और गहरी व्यंजकता द्वारा हिन्दी भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता को बहुत विकसित किया है और काव्य भाषा को यथार्थ जीवन के निकट पहुँचाया है।

नई कविता का आन्दोलन और उसके कवि

आधुनिक युग आन्दोलनों का युग है। नई कविता को भी अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए आन्दोलन करना पड़ा है। इस आन्दोलन के शीर्षस्थ कवि अज्ञेय रहे हैं। उन्होंने 'तार सप्तक' नामक काव्य संकलन का संपादन करके प्रयोगवाद की प्रवृत्ति को स्थापित किया था। सन १९५० के आस पास ऐसे नए कवि सामने आए जो प्रयोगवाद की गद्यात्मकता और विवेचनात्मक पद्धति को पसन्द नहीं करते थे, यद्यपि वे काव्य में नवीनता और ताजगी लाना आवश्यक मानते थे। इन कवियों ने पत्र पत्रिकाएँ निकालकर तथा सभा गोष्ठियों का आयोजन करके कविता में नवीनता लाने के लिए प्रचार प्रारम्भ किया। प्रयोगवाद के कई कवियों ने इन नए कवियों का साथ दिया था। इलाहाबाद में 'परिमल' नामक साहित्यिक संस्था ने सर्वप्रथम एक परिचर्चा गोष्ठी का आयोजन किया था जिसमें 'नई कविता' शब्द का व्यवहार किया गया था। परिमल के कुछ सदस्यों ने 'नए पत्ते निकष' और 'नई कविता' नामक साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया। धीरे धीरे सभी बड़े नगरों में नई कविता अथवा नए साहित्य से

[illegible] हुई और [illegible] से [illegible] के [illegible] [illegible] का [illegible] होने लगा। [illegible] [illegible] [illegible] प्रकाशित [illegible] [illegible] में नई कविता का [illegible] रूप दिखाई पड़ता है। बाद में यह मासिक पत्रिका के रूप में दिल्ली से प्रकाशित होने लगा। [illegible] [illegible] और हैदराबाद की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ने नई कविता के प्रचार प्रसार में बहुत अधिक [illegible] दिया। [illegible] १९५५ के बाद तो विभिन्न साहित्यिक केन्द्रों से विविध [illegible] परम्परा [illegible] 'आधुनिक कविताएँ' अभिजातकविता, 'कविताएँ' [illegible] [illegible] संकलन-ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनमें नई कविताएँ और उनके सम्बन्ध में [illegible] एवं व्यवहारिक समीक्षाएँ होती थी। इस प्रकार हिन्दी के [illegible] धीरे धीरे नई कविता के अभ्यस्त हो गए। नई कविता का [illegible] [illegible] हो गया है। [illegible] द्वारा प्रस्तुत किये गए [illegible] में से कुछ ने [illegible] कर दिया, कुछ केवल प्रयोग करते वाले कवि [illegible] रह गए हैं और कुछ [illegible] रोमानी भावुकता और सतही अनुभूतियों के कारण [illegible] वह जाने लगे हैं। स्वयं [illegible] की कविता धारा [illegible] [illegible] की ओर मुड़ गई है। [illegible] नई कविता के [illegible] [illegible] कविता के विवेचन के लिए आवश्यक माना गया है [illegible] कविता की उपरिनिर्दिष्ट विशेषताएँ बतलाता है।

नई कविता के प्रारम्भ और विकास का जो संक्षिप्त [illegible] ऊपर दिया गया है उसके आधार पर १७ १८ वर्षों के इतिहास को [illegible] तीन चरणों में विभाजित कर सकते है—(१) नवीनता के आग्रह का चरण (२) वैयक्तिकता [illegible] और अनुभूति की प्रामाणिकता के साथ आधुनि[illegible] [illegible] चरण, (३) आधुनिकता बोध की नई दिशाओं का चरण। प्रथम चरण की नई कविता म प्रयोगवाद और प्रगतिवाद की प्रतिक्रियात्मक तथा प्रयोगात्मक [illegible] थी और छायावाद की [illegible] [illegible] फिर आ गई थी। अतः इस [illegible] की कविता मुख्यतः नवीनता और [illegible] [illegible] [illegible] हुई थी। विकास के दूसरे चरण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतीकों, नये उपमानों और चमत्कारपूर्ण अभिव्यक्ति [illegible] [illegible] मान नहीं माना जा सकता। [illegible] विपरीत [illegible] नई कविता [illegible] [illegible]

सकती है जब कि उसमे जीवन की गहरी सम्पृक्ति हो और उस सम्पृक्ति की अनुभूति को ईमानदारी से व्यक्त किया जाय। इस तरह इस चरण की कविता का मूल स्वर व्यक्तिवादी मानवतावाद का है जिसमे सडी गली परम्पराओ के प्रति व्यक्ति के आक्रोश और घृणा का तीखा स्वर भी मिला हुआ है। तीसरे चरण की नई कविता मे सही आधुनिकता का गहरा बोध दिखाई पडता है। पाश्चात्य देशो मे आधुनिकता के जितने नए नए आयाम इस युग के साहित्य और कला मे अभिव्यक्त हुए है उनमे से कई इस चरण की नई कविता मे भी दिखाई पडने लगे। इस समय नई कविता फिर एक ऐसे चौराहे पर आ खडी हुई है जहा उसकी कई धाराएँ भिन्न भिन्न दिशाओ मे जाती दिखाई पड रही हैं और उनमे आधुनिकता के विश्व व्यापी रूपो का प्रतिबिम्ब दिखाई पडता है। इसको नई कविता के विकास के तीसरे चरण की कविता कहा जा सकता है।

प्रथम चरण की नई कविता

स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय नई कविता का प्रारम्भ जिस रूप मे हुआ था उसे एक सम्मिलित मच की सज्ञा दी जा सकती है। इस मच पर 'तार सप्तक' के कवियो—अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारतभूषण अग्रवाल, मुक्तिबोध, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा और नेमिचन्द्र जैन के अतिरिक्त अन्य प्रगतिवादी कवि—जैसे नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, रागेय राघव, बालकृष्ण राव, डॉ० देवराज, शिवमगलसिंह 'सुमन', शमशेर, त्रिलोचन आदि भी एक साथ उतर थे। 'प्रतीक' तथा बाद मे 'नई कविता', 'निकष' आदि मे छपी सभी कविताओ को नई कविता ही कहा जाने लगा। इई पीढी के भी अनेक कवि जैसे धर्मवीर भारती, नरेश मेहता, सर्वेश्वर, दुष्यन्तकुमार, विजयदेव नारायण साही, जगदीश गुप्त, कुवरनारायण, लक्ष्मीकान्त वर्मा, राजेन्द्रकिशोर, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, रामदरस मिश्र आदि, जिन्होने रोमानी गीत-काव्य से काव्याभ्यास प्रारम्भ किया था, इस नई कविता के सामूहिक अभियान मे सम्मिलित हो गए। इस तरह प्रथम चरण की नई कविता की एक मात्र विशिष्टता नवीनता और ताजगी ही थी।

नये उपमानो और प्रतीको की खोज की प्रवृत्ति इस काल की नई कविता के सभी कवियो मे समान रूप से दिखाई पडती है। अन्यथा अनुभूति और मानसिक गठन की दृष्टि से इनमे कुछ कवि अब भी रोमाटिक थे, कुछ मे रहस्यवाद के बीज वर्तमान थे कुछ मे प्रगतिवादी अथवा प्रयोगवादी प्रवृत्ति प्रमुख थी जो बाद

मे भी बनी रही। पर इन्ही म कई ऐसे कवि भी थे जो द्वितीय और ततीय चरण की नई कविता के प्रमुख कवि माने गए। नई कविता के इस चरण के जो कवि दूसरे और तीसरे चरण की विकसित भाव धारा और शिल्प त त्र को पूरी तरह नही अपना सके, यहा उ ही मे से कुछ प्रमुख कवियो के सम्ब ध म विचार किया जायगा।

सप्तकीय कवि

अज्ञेय

अज्ञेय नई कविता के प्रवत्तको मे से है कि तु नई कविता के साथ कदम से कदम मिलाकर वे अ त तक नही चल सके। उनका व्यक्तित्व इतना अहवादी रहा है कि बाद मे उसने युग-बोध के बदलते हुए स्वरूप को पहचानना तथा आत्मसात करना स्वीकार नही किया। 'अहवाद' व्यक्तित्व की असाधारणता म विश्वास करता है, उसकी सामा यता और विशिष्टता मे नही। प्रयोगवादी कवि के रूप मे उ होने जो अपने को राहो का अ वेषी कहा था और बाद मे व्यक्तित्व की खोज का जो सिद्धा त उपस्थित किया, उसम प्रेरक तत्त्व उनका 'अह' ही था जो अपनी असाधारणता को प्रतिष्ठित करना चाहता था। अहवादी व्यक्ति सदा अपन को औरो से आगे या अलग रखना चाहता है। अज्ञेय की 'यह दीप अकेला' कविता का दीप सामा य दीप नही है। यद्यपि वह अपने अह के इस दीप का पक्ति मे विसर्जित और भक्ति को समर्पित कर देने का सकल्प करत हैं पर उस समय भी इस बात को नही भूलते कि उनका यह दीप 'गवभरा, मदमाता, [अद्वितीय, प्रकृत, स्वयभू ब्रह्म, अयुत' आदि-आदि है। व्यक्तिवाद का यह चरम रूप है जिसम कवि अपने से अतिरिक्त और किसी को बडा मानता ही नही वह स्वय ब्रह्म है, अद्वितीय है। ऐसा व्यक्ति भला समष्टि के प्रति क्या समर्पित होगा ? इस बात को उ होंने 'नदी के द्वीप' शीषक कविता मे और भी स्पष्ट कर दिया है। यहा भी वे सामाजिक जीवन की धारा से अपने को केवल सपक्त रखना चाहत ह, उसम डूबना नही चाहते क्योकि उनके विचार से—

> द्वीप हैं हम।
> यह नहीं है शाप
> यह प्रपनी नियति है
> हम नदी के पुत्र हैं

बठे नदी के क्रोड मे ।
वह वृहद भूखण्ड से हमको मिलाती है
और वह भूखण्ड अपना पिता है ।

यह कविता अज्ञेय की व्यक्तिवादी अहं भावना को ही नही व्यक्त करती, उनके नियतिवादी और रहस्यवादी दृष्टिकोण को भी स्पष्ट कर देती है । नदी से उनका अभिप्राय सामाजिक जीवन और विशाल भूखण्ड का अभिप्राय आध्यात्मिक सत्ता या भगवान से है । अज्ञेय मूलत रोमांटिक विद्रोह के कवि हैं और ऐसे कवि की अन्तिम परिणति है रहस्यवादी बन जाना । अज्ञेय की स्वच्छन्दतावादी (रोमांटिक) दृष्टि प्रयोग काल के प्रतिक्रिया प्रवाह मे भले हो थोडे समय के लिए कम हो गई हो पर नई कविता के प्रारम्भ के साथ वह पुन लौट आई। रोमांटिक प्रवृत्ति नई कविता की प्रवृत्ति नही है। नई कविता यथार्थवाद की कविता है। कवि यथार्थ जीवन की गहराई मे ज्यो ज्यो डूबेगा, उसकी रोमांटिक प्रवृत्ति त्यो त्यो कम होती जायगी । अज्ञेय मे यह बात नही मिलती । किसी 'एक' के प्रति उनका गहरा प्रेम उनके व्यक्तित्व का एक प्रमुख अंग बन गया है जिसे उन्होंने नाना रूपो मे अपनी अनेकानेक कविताओ मे व्यक्त किया है। प्रकृति के प्रति उनका अनुराग उन्हे एक प्रभाववादी चित्रकार के निकट ला खडा कर देता है। प्रेम की गहरी और तीखी अनुभूतियो का जितना चित्रण अज्ञेय के काव्य मे मिलता है उतना नई कविता के अन्य किसी कवि मे नही मिलता । उसी तरह प्रकृति के नये और कोमलतम दृश्य चित्रो की अभिव्यंजना मे भी वे अद्वितीय है । इस तरह की कविताओ मे उनकी अनुभूति की सचाई, गहराई और व्याप्ति तो खूब दिखाई पडती है किन्तु इनमे व्यक्त दृष्टिकोण आधुनिक जीवन के यथार्थ से मेल नही खाता । प्रेम और सौदर्य आधुनिक जीवन के सन्दर्भ मे खोखले शब्द-मात्र लगते है पर अज्ञेय मे उनके प्रति एक गहरा मोह है। यह मोह ही उन्हे उत्तरोत्तर यथार्थ और वैज्ञानिकता की ओर से हटाकर रहस्यात्मक अनुभूतियो के क्षेत्र की ओर ढकेलता गया है।

नई कविता आस्थामूलक काव्य प्रवृत्ति है किन्तु उसमे अहंवाद के लिए विशेष स्थान नही है । अत अज्ञेय का अहंवाद उन्हे समाज, जगत या आधुनिक विज्ञान के प्रति आस्थावान नही होने देता । अत अतीन्द्रिय अभौतिक रहस्यानुभूति का सहारा लेकर वे ब्रह्म मे अपनी आस्था टिका देते हैं। पर यह आस्था क्या विवेकपूर्ण भी है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विवेक एक सन्तुलित मान

मिक स्थिति है जिनमे भावना, तकना और परिगणना की एकागी वृत्तिया म ऊपर उठकर व्यक्ति मात्र सत्य का द्रष्टा होता है। अज्ञेय की कविताओं में ऐसे विवेक का अभाव है। उनम कही तो भावनाओं का उच्छन वग है तो दूसरी जगह घोर तार्किकता और बौद्धिक विवचना। विवेकशील द्रष्टा मन की तटस्थता इन दानो प्रकार की कविताओं म नही दिखाई पडती। इसीसे उनकी अनुभूतिया उनकी तर्क-बुद्धि की देन प्रतीत होती हैं। पर जहा उनका विवक जाग्रत है वहा उनकी भाव चेतना और बौद्धिक चेतना का सन्तलन दिखाई पडता है। पर ऐसे स्थल उनकी कविता म अधिक नहीं है। जहा ये दोना चेतनाएँ असन्तुलित ह वहा उनकी मौलिकता चामत्कारिक सूक्तियो के रूप मे अभिव्यक्त हुई है। ये सूक्तिया सूझ (फसी) की देन हाती हैं। अत वे शुद्ध काव्य नही हाती क्योकि उनका गहरी अनुभूति और सूक्ष्म अतर्दृष्टि से विशेष लगाव नही होता। अज्ञेय ने इस तरह की बहुत-सी सूक्तिया लिखी हैं। ऐसी कविताएँ नई कविता की परिभाषा म पूरी तरह समाविष्ट नही हो पाती।

गिरिजाकुमार माथुर

गिरिजाकुमार माथुर अस्वीकारी कवि नही है। वे समझौता और समन्वय क कवि हैं। उनकी आज तक की सभी कविताएँ यह प्रमाणित करती हैं कि व द्रष्टा कवि नही हैं न उन्हान परम्परा को पूणत अस्वीकार ही किया है। इसके विप रीत समझौते को जीन की निपट अनिवायता मानकर उन्होंने अनेक ऐसी रूढियो को भी स्वीकार कर लिया है जिन्हें नई कविता के कवि का अनिवायत अस्वी कार करना चाहिए। उनकी इस समझौतावादी प्रवृत्ति का कारण उनका मूलत रूमानी दृष्टिकाण है। प्रारम्भ मे वे छायावादी गीत लिखत थे। बाद मे प्रयोग-वादी हो जाने के बाद भी उनमे वही सहजवृत्तिमूलक उच्छल भावुकता वर्तमान थी। 'तार सप्तक' तथा 'नाश और निर्माण' की उनकी अनेक कविताएँ आसक्ति जन्य रूमानियत से भरी है।

बाद म सन १९५४ ५५ के बाद उन्हान आधुनिकता बोध का भी पकडने की कोशिश की, पर उनका यह प्रयत्न भी उनके अध्ययन और फैशन-वृत्ति का परि णाम मालूम पडता है। वस्तुत माथुर म वह आधुनिकता नहीं आ सकी जो आधुनिक जीवन के यथार्थ की आच म तपन से उत्पन्न होती है। उनकी ऐसी अनक आधुनिकतावादी कविताएँ हैं जिनम आधुनिक सभ्यता की विसगति

खोखलेपन, और मूल्यहीनता की ओर सकेत किया गया है अथवा आज की यात्रिक सभ्यता के उपकरणो और प्रभावो का विवत वणन किया गया है। यही नहीं आधुनिक पाश्चात्य चित्रकला की कुछ विशेषताओ को भी उन्होंने अपनी कविता मे लाने की कोशिश की है। पर इस प्रकार के उनके प्रयोग सफल नहीं हो गये हैं क्योंकि पाश्चात्य चित्रकला वाली अमूर्तता और प्रतीकात्मकता उनकी कविताओ म कहीं नहीं ह। प्रकृति चित्रण म अधिकतर उन्होंने भावुकतापूण भू-दृश्यांकन (लण्डस्केप चित्रण) ही किया है। नागरिक जीवन के चित्रो म भी उन्होंने अधिकतर कोरा रेखाकन ही किया है, असगतियो, विकृतियो और सवग्रासी ऊब की गहरी अभिव्यजना नहीं की है। इस तरह उनकी ऐसी कविताओ म घनवादी (क्यूबिस्ट) और अतियथाथवादी (सुररियलिस्ट) चित्रकला-जैसी गहरी प्रभावोत्पादकता नहीं आ सकी है।

गिरिजाकुमार माथुर नई कविता क सबसे अधिक कलावादी कवि हैं। शब्दो को गढने, काटने छाँटने और उनके सही प्रयोग म व बेजोड़ हैं। उनका ध्वनि बोध और रग बोध अत्यन्त तीव्र है जिससे उनकी कविताओ म सगीत-तत्त्व और चित्र कला का सुन्दर सामजस्य हुआ है। वे मुख्यत गीति-काव्य क कवि हैं। गीतात्मक कोमलता और रागात्मकता उनकी कविताओं की विशेषता और सीमा दोनो ही हैं। इस प्रवृत्ति के कारण घरेलू जीवन और मनोरम रोमाण्टिक वातावरण क चित्रण मे उन्हें जितनी सफलता मिलती है उतनी भयानक, कठोर, विराट और विरूप के चित्रण मे नहीं। ऐसे चित्रण के लिए न तो उनके पास उपयुक्त भाषा है, न शैली। इसी कारण व अन्त तक नई कविता के प्रथम चरण के ही कवि बने रह गए।

भारतभूषण अग्रवाल

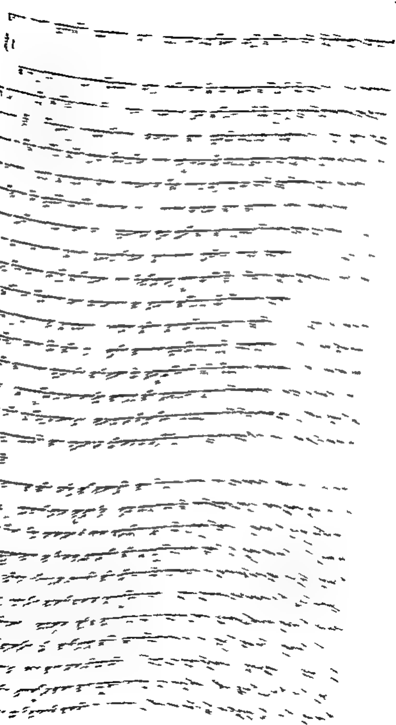
भारतभूषण अग्रवाल भी तार सप्तक के कवियो मे से हैं। अत उनकी सन १६४७ के बाद की कविताओ मे भी रूढियो और सामाजिक विकृतियो के प्रति विद्रोह के साथ साथ अनास्था, शका और मूल्यो के अन्वेषण की प्रयोगात्मक प्रवृत्ति काफी समय तक वतमान रही। किन्तु एक अथ म वे अन्य तारसप्तकीय कवियो से भिन्न हैं। सन् १६४७ के पूर्व ही उनम आधुनिकता की व प्रवृत्तिया आ गई थीं जो नई कविता क तीसरे चरण के कवियो मे विशेष रूप स उभरकर आई हैं। व्यथता, निराशा, अकेलापन निस्सगता आदि का बोध उनकी कविता पुस्तक

'मुक्तिमार्ग' की कविताओं मे ही, जो सन १९४७ के पूर्व की लिखी है, दिखाई पडता है। ये प्रवत्तियां आज की कविता मे बढ रही है और कुछ कवि और आलोचक इसे ही आधुनिकता बोध कहते है। भारतभूषण अग्रवाल ने इस नये भाववाद का भी बहुत पहले ही अपना लिया था। उनकी कविता-पुस्तक 'ओ अप्रस्तुत मन' (सन १९५८) मे, जिसमे उनके 'मुक्तिमार्ग' की भी सब कविताएँ सकलित है, कई कविताएँ ऐसी है।

यद्यपि भारतभूषण अग्रवाल अपने को 'निरा विलायती स्पज' कहते हैं, पर वस्तुत वे कोरे फोटोग्राफर या स्पज जसे नही है जो अपना, निज का, कुछ भी नही देता। भारतभूषण के पास कवि की दृष्टि है। उनके मन पर जो-जो प्रभाव पडे है, उन्होने उन्हे ईमानदारी से व्यक्त किया है। इसीलिए वे अपनी अनुभूतियो को सरल ढग से स्पष्टता से व्यक्त कर सके है। इन अनुभूतियो को व्यक्त करने के लिए उन्होने बिम्बो का प्रयोग भी अधिक नही किया है। प्रतीकात्मकता और खण्डित बिम्ब योजना भी उनमे बहुत कम है। ध्वनि और रग का बोध भी उनमे अधिक विकसित नही है। पर उनमे वह तटस्थता और निस्सगता अवश्य है जो आधुनिकतावादी कविता मे अवश्य होनी चाहिए। इस तटस्थता के कारण ही वे रोमानी भावनाओ से दूर रह सके है। उनका विवेक भी उन्हे वस्तु सत्य को स्वीकार करने के लिए बाध्य करता रहा है। इसीलिए प्रेम और सौन्दर्य की वास्तविकता को उन्होने कई कविताओ मे सफलतापूर्वक चित्रित किया है। यह वास्तविकता बोध उनमे उत्तरोत्तर बढता गया है।

अन्य सप्तकीय कवि

तीनो सप्तको के शेष कवियो मे से नरेश मेहता, हरिनारायण व्यास, शकुन्त माथुर, प्रयागनारायण त्रिपाठी और कीर्ति चौधरी भी नई कविता के प्रथम चरण की भाव-चेतना के ही कवि हैं। इन कवियो म आधुनिकता का वह स्तर नही गुजर सका है जो द्वितीय और तृतीय चरण की नई कविता के कवियो द्वारा उद्घाटित हुआ था। इनमे से नरेश मेहता औरो की अपेक्षा अधिक उल्लेखनीय हैं। वे साम्यवाद से विशेष प्रभावित थे जिससे उनकी अनेक कविताओ का स्वर प्रगतिवादी था। नई कविता के दौर मे वह स्वर बहुत दब गया। उनका प्रगतिवादी स्वर बाद मे बिलकुल भारतीय सस्कृतिवादी हो गया। भारतीय संस्कृति की चेतना उनमे पहले भी प्रमुख थी। उनकी दूसरे सप्तक की कविताओ मे वदिक प्रतीको



अन्ध आसक्ति उन्हें वस्तुओं के आन्तरिक रूपों और सम्बन्धों का तटस्थ दर्शन नहीं करने देती। उनके प्राण प्रेम के भूखे और सौन्दर्य के प्यासे हैं। इसलिए उनकी अधिकांश कविताओं में हल्कापन और सामान्यता है। क्लासिकल उदात्तता और बंधन उनमें कहीं नहीं है। भाषा भी बोलचाल के निकट की नहीं है। सुन्दर शब्दों के चयन की ओर कवि की विशेष रुचि है जिससे भाषा स्वाभाविक नहीं है। अलंकार योजना उनमें इतनी अधिक है कि ये कविताएँ छायावाद के निकट जा पहुँचती है। प्रतीक पद्धति का प्रयोग तो उन्होंने किया ही नहीं है। अनुभूतियों के वैविध्य, गहराई और सचाई का भी उनकी कविताओं में अभाव दिखाई पड़ता है। पर दृश्य चित्रण में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। इन्हीं चित्रों में इन कविताओं की ताजगी निहित है।

जगदीश गुप्त का काव्य विकास भी अज्ञेय के समान छायावादी आभिजात्य से नई कविता के आभिजात्य की दिशा में हुआ है। उनके भीतर भी सौन्दर्य और महत्ता का उपासक एक द्रष्टा चित्रकार बैठा है जो बराबर भीतर से बाहर का दृश्य चित्र अंकित करता और उन चित्रों के विषय में अपनी टिप्पणी भी देता रहता है। अज्ञेय के समान उन्हें भी रोमानी भावुकता से अन्त तक निष्कृति नहीं मिल सकी है। ऐसे व्यक्ति बाहर से भले ही बहुत गम्भीर और बौद्धिक दिखें, भीतर से बहुत भावुक और कोमल होते हैं। यह गलदश्रु भावुकता उनके प्रथम काव्य सङ्कलन 'नाव के पाँव' (सन १९५५) में बहुत अधिक है। दूसरे काव्य सङ्कलन 'शब्द दंश' (सन १९५९) में वह काफी कम हो गई है, पर उसकी जगह बौद्धिक विवेचना ने ले ली है। उसमें वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टि का समन्वय हुआ है; व्यंग्य और तार्किकता के साथ प्रेम की कोमल अनुभूतियों का सामंजस्य हुआ है और आधुनिकता का बोध उभरा है।

दूसरे चरण की नई कविता

जैसा पहले कहा जा चुका है दूसरे चरण की नई कविता में वैयक्तिक विवेक, आत्म सचेतनता, मानवतावादी स्वतन्त्रता, क्षण की अनुभूति की अद्वितीयता और व्यक्ति की लघुता या सामान्यता की प्रवृत्तियाँ प्रधान हैं। इस प्रकार की कविताएँ तार सप्तक के कवि गजानन माधव मुक्तिबोध और 'दूसरा सप्तक' के कवि शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती और रघुवीर सहाय सन १९५८ के पूर्व ही लिखने लग गए थे। 'तीसरा सप्तक' के कवियों में से सर्वेश्वरदयाल सक्सेना,

केदारनाथसिंह, कुवरनारायण और विजयदेवनारायण साही की कविताओ म य प्रवृत्तिया विशेष रूप स उभरकर सामने आई। इस काल की कविताओ म आधुनिक भाव-बोध अधिक स्पष्टता क साथ दिखाई पडने लगा। उनम आन्तरिक द्वन्द्व, रूढिया क प्रति विद्रोह वतमान यान्त्रिक सभ्यता की विसगतिया के प्रति आक्रोश, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य क आग्रह और नवीन जीवन मूल्या की उपलब्धि क लिए अकुलाहट की अभिव्यक्ति बहुत अधिक हुई है। उन पर पाश्चात्य मनोविश्लेपण शास्त्र और अस्तित्ववादी दशन का भी प्रभाव पडा है। उनम प्रतीकात्मकता खण्डित बिम्बो की योजना और चेतना प्रवाह की पद्धति का भरपूर उपयोग हुआ है जो मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव का द्योतक है। उनम दमित काम के उदात्तीकरण छायाभासो (फण्टेसी) के निर्माण, आदिम बिम्बो की योजना और पौराणिक प्रतीको के प्रयोग की जो प्रवृत्ति है वह भी फायड के बाद वाले मनोविश्लेपण शास्त्रियो क सिद्धान्तो के प्रभाव से पाश्चात्य साहित्य और कला म चलने वाले कलात्मक आन्दोलनो की अनुगूज ही है। अस्तित्ववादी दशन का प्रभाव इन कविताओ म व्यक्त अजनबीपन, एकाकीपन, आतक और विशृखलता की तीखी अनुभूतियो म दिखाई पडता है। इस तरह दूसरे चरण की नई कविता म आधुनिकता का बोध पूरी तरह समाविष्ट हो गया है।

शमशेरबहादुरसिंह

शमशेर का व्यक्तित्व द्विधा विभक्त है। एक तरफ तो वे घोर अन्तर्मुखी व्यक्तित्व की चेतना से ग्रस्त है दूसरी ओर वर्गवादी भावना के बाह्य दबाव से पीडित है। उनकी कविताओ मे य दोनो चेतनाएँ अलग-अलग दिखाई पडती है। उनम सामजस्य नही हो सका है। उनका अन्तर्मुखी कवि 'बठोस चादनी के महातल के मौन म चलता है, उन्होने शब्दो म 'अमरन मौन एक भाव है (और वह भाव हमारा है)', फिर भी व कहत है कि 'बात बोलेगी हम नही, भेद खोलेगी बात ही।' इस तरह की उनकी कविताएँ अन्तश्चेतना के गुह्य सम्वेदनो को बिम्बो के माध्यम से व्यक्त करती हैं। उन्हीका वे कहते है कि 'बात बोलेगी हम नहीं।' उनके दूसरे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उन कविताओ म हुई है जिनम या तो साम्यवादी और जनवादी भावो की अभिव्यजना हुई है या प्रेम और सौन्दर्य की हल्की फुलकी अनुभूतियो को सतही ढग से गजलो मे या मुक्त छन्द म व्यक्त किया गया है।

इस तरह शमशेरबहादुरसिंह के काव्य की भूमि कहीं अत्यन्त सतही और कहीं बहुत गहरी है। उनके काव्य का विकास ऊर्ध्वमुखी रूप में नहीं हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शमशेर को अभिव्यंजना का निजी मार्ग अभी तक नहीं मिल सका है। उनके जैसे प्रौढ कवि का कोई निश्चित मार्ग और निजी उपलब्धियाँ होनी चाहिए थीं पर ऐसा हो नहीं सका है।

इतना होते हुए भी शमशेर को नई कविता के दूसरे चरण का कवि मानने का कारण केवल उनका शिल्प तन्त्र है। अन्यथा उनकी कविता में न तो विचारों की रीढ है, न दृष्टिकोण की स्पष्टता। उनमें अनुभूतियों की गहराई तो है, पर विस्तार बिलकुल नहीं है। उनका ऐन्द्रिय-बोध बहुत कुछ छायावादी कवियों जैसा ही है जिससे उनकी आसक्ति-जन्य भावुकता छिपाए नहीं छिपती है यद्यपि उन्होंने उसे सर्वत्र बहुत ही सांकेतिक ढंग से व्यक्त किया है।

शमशेरबहादुरसिंह मुख्यतः प्रभाववादी कवि हैं। प्रतीकों के प्रयोग जहाँ अधिक हुए हैं वहाँ उनके प्रतीकवादी और कहीं कहीं अतियथार्थवादी रूप भी दिखाई पड़ते हैं पर अधिकतर उनकी कविता प्रभाववादी ही है। कुछ कविताओं में उन्होंने मुक्त आसंग या चेतना प्रवाह शैली का सफल प्रयोग किया है। इनमें खण्डित बिम्बों की जो उपचेतन मन से निःसृत हैं, अधिकता है। ऐसे बिम्बों द्वारा कवि ने छायाभासों (फण्टसी) का निर्माण किया है। छायाभासों का निर्माण इस चरण की कविता का एक प्रमुख लक्षण है। प्रतीकात्मकता और छायाभासों के कौशल के प्रयोग के कारण शमशेर की ऐसी कविताओं में अमूर्त चित्रकला के गुण आ गए हैं। किन्तु यह अमूर्तता इनकी सभी कविताओं में नहीं है। अनेक कविताओं में इन्होंने अतियथार्थवादी चित्रकला के विकृतीकरण (डिस्टार्शन) की शैली ही अपनाई है। जैसे

> जो कि सिकुड़ा हुआ बैठा था, वो पत्थर
> सजग सा होकर पसरने लगा
> आप से आप।
>
> —कुछ कविताएँ, पृष्ठ ३६

गजानन माधव मुक्तिबोध

मुक्तिबोध आधुनिकतावादी नई कविता के अन्यतम कवियों में से हैं। यद्यपि उन्होंने भी अन्य सभी प्रयोगवादी प्रगतिवादी कवियों की तरह छायावादी भूमि

पर ही काव्याभ्यास शुरू किया था किन्तु बाद मे उनके दृष्टिकोण, भाववाद और काव्य शिल्प म जिस सीमा तक परिवतन हुआ वसा उनकी पीढी के अय किसी कवि म नही हुआ। शमशेर की तरह उनके काव्य व्यक्तित्व के भी दो खण्ड है, एक खण्ड उनके बाह्य व्यक्तित्व का है और दूसरा आन्तरिक व्यक्तित्व का। इन दोनो म प्राय आदान प्रदान होता रहता था। फिर भी वे दोनो खण्ड कभी मिल कर एक नहीं हुए। उनका बाह्य व्यक्तित्व मार्क्सवादी सिद्धान्तो से प्रतिबद्ध था किन्तु आन्तरिक व्यक्तित्व सभी प्रकार के बाहरी दबावो और प्रलोभनो आसक्तियो और छलावो से मुक्त था। यह आन्तरिक व्यक्तित्व ही उनका असली व्यक्तित्व था। उनकी 'तार सप्तक' की कविताओ तथा बाद की भी कुछ कविताओ मे प्रगतिवादी विचारधारा और प्रयोगवाद की शका, अनास्था और प्रतिक्रिया-त्मक विद्रोह की प्रवृत्ति साथ साथ मिलती है किन्तु बाद की अधिकाश कविताए उनके आन्तरिक सघष, आत्मान्वेषण और आत्मसाक्षात्कार की कविताएँ ह। य कविताएँ स्थूल प्रगतिवादी और प्रयोगवादी भूमि से बिलकुल अलग हट गई है। उनकी प्रारम्भिक कविताओ म इलियट, स्पेण्डर और ऑडेन की कविताओ की प्रभाव छाया मिल सकती है पर परवर्ती कविताओ म उनकी निजी उपलब्धि क दशन होते हैं।

मुक्तिबोध की परवर्ती लम्बी कविताएँ यह व्यक्त करती हैं कि कवि का अन्तर घोर अधकार और कुहासे स भरा हुआ है और उसकी पर्तों का भेदन करता हुआ सत्य के साक्षात्कार के लिए आगे बढता जा रहा है। इन कविताओ मे व्यक्ति मन की गहरी घुटन, छटपटाहट, आत्मपीडन, घबराहट, आतक और अकेलपन की भयानक किन्तु दयनीय स्थितियो की अभिव्यक्ति हुई है। पर इसके बावजूद इन कविताओ मे निराशा, अनास्था, पराजय और आत्महीनता की प्रवृत्ति नही है। मुक्तिबोध एक एकाकी वीर या अजनबी की तरह मन की गहन गुफाओ बीहडो और वीरानो मे साहस और वीरता क साथ रोमाचक यात्रा करन और उन मानसिक छायाभासो के दश्य चित्र अकित करन चलते है।

अपन कथ्य को स्पष्ट करन के लिए मुक्तिबोध ने आश्चयजनक और रोमाचक छायाभासो का निमाण किया ह जिनमे भयावहता, मृत्यु आशका, उत्पीडन, असहनीय घुटन और दुर्बोध्य रहस्यमयता का वातावरण उत्पन्न किया गया है। य छायाभास आधुनिक जीवन की विसगतियो, क्रूरताओ और खोखलपन को व्यक्त करने के लिए निर्मित हुए हैं। इन छायाभासो म जो बिम्ब चित्रित हुए हैं व प्राय

सब ये सब प्रतीकात्मक भाषा के चिन्ह हैं, जैसे भूत प्रेत, देवालय, भुतहे मकान, तहखाने और खंडहर, भरव, पिशाच, ब्रह्मराक्षस, शापग्रस्त रूपान्तरीकृत मनुष्य, भूतों का जुलूस, भुतहे पेड़, जलाशय, बावड़ी आदि। यद्यपि आधुनिक समाज में व्यक्ति की टूटन, घुटन और भटकाव की अभिव्यक्ति करने के लिए ये सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीक हैं किन्तु इनसे यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि मुक्तिबोध इन अबौद्धिक और भ्रमपूर्ण तथ्यों में विश्वास करते हैं और इन विश्वासों को औरों तक फैलाना चाहते हैं। इस दृष्टि से ऐसे प्रतीकों का प्रयोग आधुनिक नहीं माना जा सकता। इतना होते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अंधकार, पीड़ा और घुटन मुक्तिबोध के लक्ष्य नहीं, साधन मात्र हैं। यद्यपि ये कवि की भोगी हुई निजी अनुभूतियाँ हैं किन्तु ये आज के प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति की अनुभूतियाँ भी हैं। इस तरह मुक्तिबोध ने आधुनिक जीवन की यथार्थ अनुभूतियों को अभिव्यक्त करके आधुनिकतावादी दृष्टिकोण के साथ साथ अपने सामाजिक दायित्व की भावना को भी अभिव्यक्ति दी है।

धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर और रघुवीर सहाय—ये तीनों एक वर्ग के कवि केवल इसी अर्थ में हैं कि ये क्रुद्ध नौजवान हैं जिनमें पराजय और असहायता का बोध बहुत तीव्र है। एक ओर तो इनमें रोमान्टिक चेतना बड़ी गहराई तक समाई हुई है दूसरी ओर सामाजिक चेतना इनमें छटपटाहट, विद्रोह, आक्रोश और व्यथता की अनुभूतियों को उद्दीप्त करती रहती है। आज का समूचा युग ही इन्हें अन्धा युग प्रतीत होता है जिसमें इनको नदी की तरह मजबूर होकर रहना पड़ता है तथा बिना मूठ की तलवारों और रथ के टूटे पहियों की सहायता से लड़ना पड़ता है। इन तीनों ही कवियों में क्रोध, घृणा और कटुता का भावबोध इस सीमा तक है कि ये दुनिया को गिजगिजाई और बजबजाई हुई वस्तु समझते हैं, अपने अग्रजों और गुरुजनों को गिद्ध समझते हैं और अपने को बौना पराजित, अकेला और अजनबी समझते हैं। इस साम्यता के बावजूद इन तीनों कवियों का अलग अलग व्यक्तित्व भी है। ये तीनों व्यक्तित्व एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं।

धर्मवीर भारती की प्रारम्भिक कविताओं पर वह रूमानियत, जो बच्चन की पीढ़ी के कवियों की निजी वस्तु है, छाई हुई है। बाद में वह एक गहरे सौन्दर्य-बोध और रागात्मकता में परिवर्तित हो गई है। उनके प्रथम काव्य संग्रह 'ठंडा

गोहा (सन १९५२) की अधिकतर कविताएँ कच्चे रोमास की अनुभूतिया से भरी है। किन्तु 'सात गीत वर्ष' (सन १९५९) की कविताओ म गहरे सौदर्य-बोध के साथ साथ व्यक्तित्व की खोज और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की भावना बलवती हो उठी है। भारती म वायरन जसा एक रोमाटिक विद्रोही वतमान है जो हर स्थिति म सघष करने का अभ्यासी है, जो समझता है कि प्रमथ्यु की तरह विवेक और सत्य की आग चुरा लाने के कारण उसे ब दी बना लिया गया है और उस अभिमन्यु की तरह रथ के टूटे पहिये से ही लडने के लिए मजबूर किया गया है। इस तरह भारती म समाज क प्रति असन्तोष और विद्रोह का भाव बहुत अधिक है। यद्यपि भारती अपनी पूरी पीढी को पराजित पीढी मानते हैं फिर भी उन्ह आस्था के उस आलम्बन की खोज है जिसे व प्रभु की सज्ञा देते है। वह आस्था ही पथ है जिसको स्वीकार करने पर पराजय, घुटन और टूटने के दु ख से निष्कृति मिल सकती है। इस तरह भारती मूलत आस्था और सामाजिक चेतना के कवि है। उनम मुक्तिबोध जसी अधकार ग्रस्तता और दहशत नही है। 'अन्धायुग (सन १९५४) म महाभारत कालीन स्थितियो, चरित्रो और घटनाओ के प्रतीक से वतमान सक्रान्ति-युगीन भारतीय समाज की मर्यादाहीनता, अनास्था, घुटन, दद और शकाओ पर गहरी चोट की गई है। इनम कवि की आस्था और नवीन मानव मूल्यो की खोज की अकुलाहट स्पष्ट दिखाई पडती है। भारती ने इसम सामाजिक नैतिकता के नये मानो के निर्माण का प्रश्न उठाया है। इस प्रकार 'अधायुग' एक वास्तविक युग काव्य है। 'कनुप्रिया (सन १९५९) मे युग की समस्याओ को एक भिन्न स्तर पर रखकर उभारा गया है। इसमे आज के युद्ध जजर, राजनीति पीडित अनास्थावादी विश्व मे घटित होने वाले नैतिक सघर्षों का, जो आस्था और अनास्था, घृणा और सौन्दयबोध, प्रेम और युद्ध की प्रवृत्तियो के बीच निरन्तर चल रहे है, राधाकृष्ण की प्रेम कथा के माध्यम से उपस्थित किया गया है।

सर्वेश्वर निम्न मध्यवग के प्रतिनिधि कवि है। यद्यपि इनकी कविताओ पर अज्ञेय का प्रभाव अधिक है जिससे उसमे वयक्तिक चेतना और अह भाव की अधिकता है, पर अज्ञेय जसा आभिजात्य इनमे नही है, न उनके अह म वसी उदग्रता ही है। अत निम्नमध्यवर्गीय जीवन के सघर्षों, दर्दों और रिक्तताओ की अभिव्यक्ति मे वे मुक्तिबोध के अधिक निकट दिखाई पडते है। इनमे भी मुक्ति बोध की तरह ही अजनबीपन और एकाकीपन का बोध बहुत तीव्र है। सर्वेश्वर

भी अपने को अँधेरे का मुसाफिर मानते हैं, वे महसूस करते हैं कि वे एक परकटे पछी की तरह असहाय हैं अपने ही चौखटा में बन्दी हैं और जब जब उड़ें हारकर बाहर निकलना चाहते हैं, सिर चौखटे से टकरा जाता है। इस प्रकार नैतिक वर्जनाओं, सामाजिक रूढ़ियों और राजनीतिक-आर्थिक वैषम्य का शिकार एक निम्न मध्यवर्गीय युवक यथार्थ के थपेड़े खाकर, जिन अनुभूतियों से होकर गुजरता है उन सबकी अभिव्यक्ति सर्वेश्वर ने सफलता से की है। उनमें असहायता, टूटन, अस्तित्व की व्यर्थता, सामाजिक खोखलेपन और आत्मपीड़न की चेतना प्रबुद्ध है और इस अर्थ में वे तीसरे चरण के अस्तित्ववाद से प्रभावित तथाकथित आधुनिकतावादी कवियों के अधिक निकट हैं। इतना होने पर भी सर्वेश्वर में सामाजिक चेतना बहुत प्रबल है।

रघुवीर सहाय ने अधिक कविताएँ नहीं लिखीं। उनकी कविताओं और कहानियों का एक ही संकलन 'सीढ़ियों पर धूप में' (सन् १९६०) प्रकाशित हुआ है जिसमें उनकी दूसरा सप्तक वाली कविताएँ भी सम्मिलित हैं। विद्रोह और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना इनमें भी बहुत अधिक है। पर उनकी सामाजिक चेतना तब कुछ विकृत सी प्रतीत होने लगती है जब वे दुनिया के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं

मुह बाये हुए लोग और आँख चुंधियाये हुए लोग
दुनिया एक बजबजाई हुई सी चीज हो गई है।

प्रसन्नता की बात इतनी ही है कि घृणा का यह भाव रघुवीर सहाय का मुख्य भाव नहीं है। उनका मुख्य भाव अजनबीपन का है जिससे वे प्रत्येक स्थिति में अपने को औरों से भिन्न रूप में पाते हैं। इसी कारण रघुवीर सहाय का अपना निजी व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है।

दूसरे चरण के दार्शनिक कवि

नई कविता के कवियों में बहुत कम ऐसे हैं जिनकी मानसिक संरचना में दार्शनिकता के तत्त्व निहित हैं। तीसरे सप्तक के कवियों में दार्शनिक दृष्टिकोण किसी सीमा तक विकसित हुआ है। उनमें से कुँवरनारायण और केदारनाथसिंह में यह दृष्टि सर्वाधिक विकसित है। यह दृष्टिकोण इन कवियों के निर्वैयक्तिक अवचेतन की देन है। सचेतन मन की बौद्धिक प्रक्रिया से जो दार्शनिकता उत्पन्न होती है वह काव्यात्मक नहीं होती, किन्तु निर्वैयक्तिक अवचेतन में जो कवि का

द्रष्टा मन होता है, नैसर्गिक शक्ति द्वारा सत्य की खोज और उपलब्धि के लिए जो सक्रियता होनी है उस ही काव्यगत दार्शनिक दृष्टिकोण समझना चाहिए।

कुंवरनारायण के प्रथम काव्य-संकलन 'चक्रव्यूह' (१९५६) में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण का मौलिक स्तर उद्घाटित हुआ है। इसमें कवि का चिन्तन पक्ष प्रबल है। वह एक जिज्ञासु के रूप में सत्य और असत्य के सम्बन्ध में शंकाएं करता, प्रश्न उठाता और जगत् और जीवन के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। वह भौतिक जगत के कार्य-कलाप में लिप्त रहता हुआ भी जिज्ञासाओं और प्रश्नों में उलझा रहता है, वे प्रश्न

> जो ऐहिक सुखों के तीव्रतम क्षण
> समाहित हो अचानक
> चौंक पड़ते किन्हीं सपनों से उत्सुक।

—चक्रव्यूह, पृष्ठ ३७

वह अपने दार्शनिक प्रश्नों से उलझा अपने अकेलेपन तथा परिस्थिति के सभी काँटों को स्वीकार करता है और 'ऊपर से ठग ठग अन्दर से जग जग' दुनिया का अनुमान करता है। उसे पूर्ण विश्वास है कि वह सत्य को पा लेगा, क्योंकि उसकी दृष्टि में कोई दूरी दूर नहीं होती, केवल अन्वेषक की पुकार अक्षम होने पर ही वह दूरी बनी रहती है। इस तरह वह जीवन, मृत्यु, सत्य आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार से तर्क वितर्क करता है।

केदारनाथसिंह की दार्शनिक दृष्टि भिन्न कोटि की है। यह दार्शनिकता आध्यात्मिक नहीं, वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक है। युग के सामूहिक अवचेतन मन या निर्वैयक्तिक व्यक्तित्व का सिद्धान्त केदारनाथसिंह की दार्शनिक दृष्टि में पूरी तरह चरितार्थ होता दिखाई पड़ता है। केदार शुद्ध निर्वैयक्तिक चेतना के कवि हैं। यह चेतना ऐसे खण्डित बिम्बों और छायाभासों की सृष्टि करती है जो तर्कबुद्धि को असंगत और अस्पष्ट प्रतीत होते हैं पर जिनका प्रतीकार्थ बहुत ही सूक्ष्म सत्यों और सन्दर्भों का उद्घाटन करता है। ये प्रतीकार्थ वैज्ञानिक दृष्टि से निरर्थक नहीं होते। किन्तु स्थूल बाह्य दृष्टि से केदार की कविताएँ अत्यन्त अस्पष्ट और दुरूह प्रतीत होती हैं। ये कविताएँ पूर्णतः अमूर्त और निराकृति-मूलक हैं। इनमें चेतना प्रवाह की अतियथार्थवादी काव्य पद्धति स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त हुई है। चेतना प्रवाह में केदार के मनोलोक के जो बिम्ब उभरते हैं वे बाह्यतः विश्लिष्ट और खण्डित हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वे निर्वैयक्तिक

अवचेतन के स्वाभाविक व्यापार प्रतीत होते हैं। उनके काव्य-संकलन 'अभी, बिलकुल अभी' (सन १९५९) की अधिकतर कविताएँ ऐसी ही हैं। इनमें प्रयुक्त बिम्ब प्रतीकात्मक नहीं, वास्तविक हैं पर उनके भीतर से जो अर्थ खुलता है वह प्रतीकात्मक है। यह अर्थ उस उच्चतर मानसिक स्थिति की ओर संकेत करता है जहाँ से भौतिक जगत एक स्वप्न जैसी वायवी वस्तु प्रतीत होता है, जहाँ तार्किक संगति के लिए कोई अवकाश नहीं है और जहाँ कवि देश काल की सीमाओं का अतिक्रमित करके शुद्ध या निर्वैयक्तिक या सामूहिक चेतना मात्र रह गया है। इस दिक्काल हीनता की स्थिति में कवि को अपने समग्र, अखण्डित व्यक्तित्व की उपलब्धि होती है।

तीसरे चरण की नई कविता

इस तीसरे चरण में पहुँचकर नई कविता कई भिन्न भिन्न दिशाओं में मुड़ती दिखाई पड़ती है। यह प्रवृत्ति अभी कुछ ही वर्षों से प्रारम्भ हुई है। बाह्य दृष्टि से ऐसा लगता है कि अब नई कविता विघटन की स्थिति में आ गई है। पर सच पूछा जाय तो यह विघटन की नहीं, विकास की स्थिति है।

इस चरण की नई कविता की सामान्य विशेषता स्थिति हीनता की है। इस प्रवृत्ति के उदय का कारण एक ओर आज की वैज्ञानिक और प्राविधिक उपलब्धियाँ हैं तथा दूसरी ओर निरन्तर बढ़ता हुआ मानव अस्तित्व के संकट का बोध है। विज्ञान के निरन्तर बढ़ते चरण ने जहाँ मानव की मुक्ति की अनन्त सम्भावनाओं के द्वार खोल दिए हैं वहीं सर्वनाश के एक से बढ़कर एक साधन भी प्रस्तुत कर दिए हैं। इसने आज की विश्वमानवता जीवन की सार्थकता और सर्वनाश के दुराहे पर पहुँच गई है। मानव जाति के ऊपर मँडराते हुए भयंकर आयुधों की छाया में यदि बुद्धिजीवी और संवेदनशील व्यक्ति मृत्युकामी और नियतिवादी हो जायें तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि वे अपने चारों ओर अनैतिक, पाखण्डपूर्ण और दहशत भरे वातावरण के बीच अपने को विवश बन्दी के रूप में पाते हैं। सामूहिक नाश और अनिश्चित भविष्य के आतंक और भय ने उनमें अकेलापन, ऊब और आत्मग्लानि व उदासी का गहरा और तीखा बोध उत्पन्न कर दिया है। किन्तु दूसरी ओर विज्ञान की सहायता से अस्तित्व की वास्तविकता और सार्थकता का बोध भी उत्पन्न हो रहा है और उस बोध के आधार पर ऐसे जीवन मूल्यों की खोज भी हो रही है जो आज की विषम

परिस्थिति में जीवन को जीने योग्य बना सकें। वस्तुतः यही समस्या आज के मानव की सबसे कठिन समस्या है।

वर्तमान नई कविता उपर्युक्त दोनों प्रवृत्तियों में विभक्त हो गई है। मुक्तिबोध ने जिस अंधकार और आतंक का वातावरण प्रतीक रूप में उपस्थित किया था, नई कविता की एक धारा उसे प्रतीक न मानकर वास्तविक मानने लगी है। इन कवियों ने भय, आतंक, ऊब और अकेलेपन के बोध को व्यक्ति के स्तर पर नहीं, समाज के स्तर पर घटित किया है। मुक्तिबोध, रघुवीरसहाय, सर्वेश्वर और कुंवरनारायण में भी ये प्रवृत्तियाँ थीं किन्तु उनमें वैसा आक्रोश, युयुत्सु भाव और असंयम नहीं था जैसा आज की इस प्रकार की कविताओं में दिखाई पड़ता है। इन कविताओं में काल्पनिक या बौद्धिक स्थिति हीनता नहीं, वास्तविक स्थिति हीनता की अभिव्यंजना हो रही है। आज निम्न मध्यवर्ग की स्थिति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बिगड़ चुकी है। देश की आर्थिक स्थिति जैसी है और औद्योगीकरण की वृद्धि के कारण नगरों की आबादी जिस तेजी से बढ़ रही है और जनसंख्या का जिस प्रकार स्थानान्तरण हो रहा है उसके कारण निम्न मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपने को नगरों की अपार भीड़ में, जो अधिकतर उखड़े लोगों की भीड़ है, अपने को खोया हुआ और डूबा हुआ पाता है। उसका घर, परिवार और व्यक्तित्व अस्तित्वहीन होता जा रहा है, अर्थात् मानव का अमानवीकरण हो रहा है। यही वह सामाजिक स्थितिहीनता है जिसके विविध रूप इन कविताओं में दिखाई पड़ते हैं। अस्तित्ववादी दर्शन के व्यापक प्रचार ने भी बुद्धिजीवियों, विशेष रूप से कवियों और कलाकारों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उन्हें व्यक्ति और समाज के बीच के सम्पर्क सूत्र कटे प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा कवि कहवा और चाय घरों तथा छोटी छोटी गोष्ठियों की निरर्थक और लम्बी बहसों के साथ परम्परा, सामाजिक मर्यादा, राष्ट्रीयता बोध सब कुछ को नकारता हुआ, अपने जीवन को निरर्थक और शून्य सिद्ध करना चाहता है। इन कवियों पर अमेरिका की बीटनीक कविता और बंगाल की भूखी पीढ़ी की कविता का भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। ये लोग मृत्यु कामना, अतृप्त काम और मनोनिमज्जकता की प्रवृत्तियों को खुलकर आक्रामक ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। इन कवियों में कैलाश वाजपेयी, श्रीकान्त वर्मा और राजकमल चौधरी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

परन्तु नई कविता की एक और भी नई धारा है जो, स्थितिहीनता को

स्वीकार करती हुई भी मूल्य हीनता को लक्ष्य नहीं मानती। इस धारा के कवि मानव की मुक्ति और सत्य की उपलब्धि म विश्वास करते हैं। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। यद्यपि समकालीन जीवन म व्याप्त सास्कृतिक सकट, आतक और विघटन का वे भी स्वीकार करते हैं किन्तु व उनक कारण व्याप्त अधकार से छन-कर आते हुए वैज्ञानिक उपलब्धियों के धुधले प्रकाश का भी दर्शत हैं।

इन कवियों म केदारनाथ सिंह, विपिन अग्रवाल, अशोक वाजपेयी और अजित कुमार के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। केदारनाथसिंह की पिछले कुछ वर्षों की कविताएँ उनके 'अभी, बिलकुल अभी' नामक काव्य सकलन से काफी भिन्न हैं। इस भिन्नता का कारण उनकी मानसिक परिपक्वता तथा समकालीनता का बोध है। यही स्थिति अजितकुमार की भी है। विपिन अग्रवाल म वैज्ञानिक दृष्टि पहले से वर्तमान रही है इधर और भी विकसित हो गई है। इन कवियों न अमूर्त चित्रों की रचना विशेष रूप से की है। यदि पाठकों का ये कविताएँ दुरूह और ऊटपटांग प्रतीत होती है तो इसका एक मात्र कारण यही है कि उनम अभी आधुनिकतम वैज्ञानिक दृष्टि विकसित नही हुई है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की उपलब्धि

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता के इस पर्यवेक्षण के उपरान्त यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक है कि इस काल की कविता की उपलब्धि क्या है? पिछले १६ १७ वर्षों मे हिन्दी मे जितना काव्य लिखा गया है वह परिमाण म छायावाद-युग से बहुत अधिक है पर क्या महत्त्व की दृष्टि स भी वह छायावादी काव्य से आगे है? छायावाद युग ने प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी-जैसे महान् कवियों को उत्पन्न किया। नई कविता के कवियों मे कोई भी काव्य व्यक्तित्व ऐसा नहीं है जिसे छायावादी बृहच्चतुष्टयी के कवियों की तुलना म रखा जा सकता हो। किन्तु यदि नई कविता का समष्टि रूप मे लिया जाय तो वह छायावादी काव्य की तुलना मे अधिक यथार्थवादी, आधुनिकतावादी और विषय-वैविध्य वाली प्रतीत होती है। नई कविता आज भी विकास की अवस्था मे ही है। अत आगामी दस या बीस वर्षों म उसका क्या रूप होगा, यह कहा नहीं जा सकता। पर इतना निश्चित है कि उसमे और भी गम्भीरता, ऊँचाई और व्यापकता आयगी और उसके कारण हिन्दी कविता ससार के उन देशों की कविता के समकक्ष रखी जा सकेगी जहा का साहित्य आधुनिकताबोध की दृष्टि स अत्यन्त विकसित माना जाता है।

नाटक और रगमच

सुरेश अवस्थी

जयशंकर प्रसाद की अन्तिम नाट्य-कृति 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रकाशन सन १९३३ में हुआ। इसके बाद वर्षों तक कोई महत्त्वपूर्ण नाटक नहीं रचा गया और न रंगमंच का ही विकास हुआ। जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' सन १९५१ में प्रकाशित हुआ और मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' सन १९५८ में। समसामयिक हिन्दी नाट्य साहित्य का सर्वेक्षण तथा मूल्यांकन सन १९४७ से आरम्भ करने का इसके सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता कि यह तिथि राष्ट्र-जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना की द्योतक है और इसका यह महत्त्व है कि इसके पश्चात देश में व्यापक रूप से जो सांस्कृतिक और कलात्मक नवजागरण एवं पुनरुत्थान की लहर आई, उसमें रंगमंच का भी नवोन्मेष हुआ और उसके व्यापक प्रसार के साथ-साथ नाटक साहित्य की भी पहले से अधिक माँग और रचना हुई, नाट्य प्रदर्शन की विविध कलाओं का विकास हुआ, रंगशालाएँ बनीं और दर्शक-समाज अधिक संगठित हुआ।

पूर्ववर्ती काल

इस अवधि के नाटक साहित्य और रंगमंच की उपलब्धियों एवं प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रस्तुत करने के पहले हमको पूर्ववर्ती काल—सन १९३३ (जब प्रसाद ने अपनी अन्तिम नाट्यकृति की रचना की) और १९४७ के बीच के काल—पर दृष्टिपात कर लेना चाहिए और यह देख लेना चाहिए कि इस काल का नाटकीय दाय क्या है? इसने समीक्षाधीन काल को कौन सी परम्पराएँ और नाट्य रचना के कौन-से नियम और व्यवहार दिए तथा रंगमंच का कौन सा स्वरूप और प्रदर्शन की कौन सी पद्धतियाँ दीं? किसी भी युग अथवा नाटककार के नाटक साहित्य का अध्ययन करने के लिए पूर्व परम्परा की जानकारी अत्यन्त आवश्यक होती है, क्योंकि नाटक साहित्य का ऐसा रूप है जो अन्य सभी रूपों की अपेक्षा अधिक परम्परानुगामी और रूढ़िपरक होता है, और वह रंगमंचीय प्रदर्शन की अवस्थाओं के अनुरूप शताब्दियों में विकसित होने वाले रचना-व्यवहारों और

पद्धतिया तथा दशकों द्वारा स्वीकृत रूढिया को सहज ही नही छोड पाता।

पूववर्ती काल मे एक तो ऐतिहासिक नाटका की रचना मे प्रसाद की नाटय रचनापद्धतिया और व्यवहारो का ही अनुसरण किया गया, और दूसरे, पश्चिम के यथार्थवादी नाट्य आन्दोलन के प्रभाव मे समस्या प्रधान सामाजिक नाटको की एक नई धारा का सूत्रपात हुआ। प्रसाद के अनुसरण मे हरिकृष्ण 'प्रेमी' उदयशकर भट्ट, गोविन्दवल्लभ पत, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', रामवक्ष बेनीपुरी, सीताराम चतुर्वेदी और चतुरसेन शास्त्री ने ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटको की रचना की। यह नाटय धारा अत्यन्त क्षीण और विघटित रूप मे आज भी वतमान है। इसका एक सीधा सा कारण यह है कि इन नाटका की पाठय पुस्तको के रूप म बहुत बडी माग ह। और जहा हिन्दी के नाटककार को नाटक के प्रदशन से पन्द्रह बीस रुपये भी नही मिल पाते, वहा इन पाठय नाटको से पर्याप्त धन रॉयल्टी के रूप मे मिल जाता है।

यथार्थवादी समस्या प्रधान नाटका की जिस दूसरी धारा का सूत्रपात पूव वर्ती काल म हुआ, उसकी प्रवत्तिया और प्रेरणाआ की सक्षिप्त पष्ठभूमि प्रस्तुत अध्ययन के लिए उपयोगी होगी। पहले कहा जा चुका है कि प्रसाद की अन्तिम नाट्य कृति 'ध्रुवस्वामिनी' का प्रकाशन १९३३ मे हुआ, जिसके साथ प्रसाद का नाटय रचना काल समाप्त हुआ। इसके दूसरे ही वष सन् १९३४ मे लक्ष्मीनारायण मिश्र का नाटक—'सिंदूर की होली'—समस्या नाटक के विशेषण के साथ प्रकाशित हुआ और उसीके साथ उस दूसरी नाटय धारा का सूत्रपात हुआ जो समीक्षाधीन अवधि की प्रमुख धारा है। साहित्यिक विधाआ की रूप और शलीगत प्रवत्तियो के विश्लेषण क लिए तिथियो का कोई महत्त्व नही होता, क्योकि किसी एक तिथि अथवा रचना के साथ किसी विधा का रूप और शली सहसा बदल नही जाती, किन्तु साहित्य समीक्षा म शायद यही सबसे स्पष्ट और सुगम माग है, जिसमे परिवतन का बोध अधिक तीव्रता से कराया जा सकता है।

यथार्थवादी आन्दोलन

१९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश मे पश्चिमी देशा मे रगमच और नाटय प्रदशन की अवस्थाओ मे कुछ ऐसे नये तत्त्व आ गए, जिन्होने नाटक के रूप विधान और उसकी रचना रूढिया को पूरी तरह बदल दिया और रगमच तथा नाटक वास्तविक अथ म 'आधुनिक' हो गए। यथार्थवादी आन्दोलन क प्रभाव म नाट्य

प्रदर्शन में उस भवन में दृश्यबंध (बॉक्स सेट) का विकास हुआ, जिसमें रंग मंच पर दीवारों और छत के साथ उसी प्रकार कमरा दिखाया जा सकता था, जैसा कि वह रंगशाला के बाहर होता है। रंगमंच पर यथार्थ जीवन का सत्याभास कराने का आग्रह सबसे पहले रंग सज्जा में आया और बाद में इसी नई प्रवृत्ति ने नाट्य लेखन की पद्धतियों को प्रभावित किया। बिजली के आविष्कार से नाट्य प्रदर्शन के लिए प्रकाश की सुविधाएँ बहुत बढ़ गई थीं। रंगमंच पर अभिनय स्थल में दूर दूर कोनों में खड़े हुए अभिनेताओं की मुख मुद्राओं को दर्शक सहज ही देख सकते थे। इसलिए रंगमंच का अग्रभाग (एप्रन) जो रंगशाला में दर्शकों के बीच तक जाता था और जो पुनर्जागरण काल के दो सौ वर्ष बाद तक अभिनेता के लिए आवश्यक और उपयोगी बना हुआ था (क्योंकि इसी मंच स्थल पर खड़े होकर अभिनेता अपनी मुख मुद्राओं को दरसा सकते थे) सहसा अनावश्यक हो गया। और इसलिए रंगमंच पीछे रंगमुख (प्रोसीनियम आर्च) तक काट दिया गया, यह रंगमुख रंगमंच के लिए एक प्रकार का फ्रेम बन गया।

आज का हर नाटककार इसी फ्रेम वाले रंगमंच (पिक्चर फ्रेम स्टेज) के लिए नाटकों की रचना कर रहा है और उसकी रचना पद्धतियाँ पिछले युगों के उन नाटककारों से भिन्न हैं जिन्होंने खुले प्लेटफार्म स्टेज के लिए नाटकों की रचना की थी। रंगमंच और प्रदर्शन पद्धतियों की विश्वव्यापी एकरूपता के कारण आज नाटक रचना पद्धति में भी बहुत कुछ एक रूपता आ गई है। विश्व की विभिन्न भाषाओं में लिखने वाले नाटककार आज जिस प्रकार समान पद्धतियों का अनुसरण कर रहे हैं और एक जैसा रूप विधान स्वीकार कर रहे हैं, वैसा विश्व के नाटक साहित्य के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ। हिन्दी की आधुनिक नाट्य-लेखन की पद्धतियों और रचना व्यवहारों को १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में पश्चिमी देशों में होने वाली इसी रंगमंचीय क्रांति और विश्वव्यापी नाट्य लेखन के संदर्भ में ठीक ठीक समझा जा सकता है।

रंगमंच और दृश्य सज्जा की इन्हीं नई यथार्थवादी प्रवृत्तियों ने उस सुगठित और वास्तविकता का आभास देने वाले नाट्य रूप को जन्म दिया जिसमें 'जीवन के ही खण्ड' प्रस्तुत किए जाने लगे। रंग सज्जाकारों और निर्देशकों के बाद जब नाटककारों ने रंगमंच के नए रूप और दृश्य सज्जा के नए साधनों और रूढ़ियों को स्वीकार किया तो पारंपरिक नाट्य रूप और रचना-व्यवहार बदलने लगे। नाटकों में स्वगत कथन कृत्रिम लगने लगे और व्यर्थ हो गए। लकड़ी और ईंटों के

बने ठोस दृश्य बन्ध (सट) में बार बार परिवर्तन करना कठिन और व्यय साध्य हो गया। भारी रूप बंधा के कारण स्थान अन्विति का पालन अनिवार्य हो गया। काल और कार्य की अन्वितियाँ भी यथार्थवादी नाट्य लेखन में फिर से प्रतिष्ठित हुई, जिनको आधी शताब्दी पूर्व नाटककारों ने त्याग दिया था। इस प्रकार से एक ऐसे सुबद्ध, सघटित नाट्य रूप का विकास हुआ जो केवल एक ही दृश्य-बंध पर प्रस्तुत किया जा सकता था अथवा जिसके लिए दो या तीन दृश्य परिवर्तनों की आवश्यकता होती थी। यही कारण है कि आधुनिक नाटकों में एक अथवा दो दृश्य बंधों और तीन अंकों की परिपाटी बन गई है। अंकों के बीच में जो अवकाश होता है उसमें नया दृश्य-बंध सजा लिया जाता है। कभी-कभी एक ही दृश्य-बंध में आंशिक परिवर्तन करके नए व्यापार और घटनास्थल का बोध करा दिया जाता है।

प्रसाद की कथा बहुल, बहुदृश्य बंधों वाली और अन्वितियों का उल्लंघन करने वाली नाट्य पद्धति तथा काव्यपूर्ण संवादों, स्वगत कथनों और गीतों को छोड़कर सन् १९३४ के आस पास हिन्दी नाटककार ने यथार्थवादी नाट्य रचना पद्धति को तो स्वीकार कर लिया किन्तु वह यथार्थवादी रंगमंच परंपरा के सर्वोत्तम तत्वों—वस्तु संग्रही, एकीकृत दृश्य बंध, नाटकीय अन्वितियों का अनुगमन, नाटक का सुबद्ध रूप विधान और सघटित कार्य-व्यापार को अर्जित और विकसित न कर सका। उसे कथा कहने और घटनाओं का जमघट लगाने का मोह बना रहा, और उसका कथानक आख्यान शैली में कालबद्ध क्रम से एक दिशा में बढ़ता रहा। वह नाट्य लेखन में पश्चावलोकन और पूर्व कथा उद्घाटन की युक्तियों द्वारा पात्रों के गत जीवन की घटनाओं और नाटकीय व्यापार के परिवेश को समेटते हुए कथानक को गहन और केन्द्रित न बना सका। उसके संवादों ने काव्य-तत्व तो खो दिया, किन्तु वे विचारप्रधान, तार्किक और वाक् विदग्ध न हो सके। यही कारण है कि प्रसाद के बाद का अधिकांश नाटक साहित्य नाटकीय और साहित्यिक गुणों में इतना दुर्बल है, और हमारा समसामयिक नाट्य लेखन एक प्रकार के शिल्पगत संकट से घिरा हुआ है।

ऐतिहासिक नाटक

हिन्दी में ऐतिहासिक नाटक बहुत कुछ पाठ्य पुस्तकों की माँग की पूर्ति के लिए लिखे जाते हैं। कभी कभी नाटककार यह समझकर भी ऐतिहासिक नाटक

की रचना में लग जाते हैं कि उनकी रचना सामाजिक नाटकों की अपेक्षा सरल है, क्योंकि उनके लिए नाटकीय कथा गढ़ने की आवश्यकता नहीं होती। हिंदी-नाट्य-साहित्य की यह स्थिति बड़ी विचित्र लगती है कि बहुत बड़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटक ही लिखे जाते हैं और उनमें से अधिकांश हीन कोटि की रचनाएँ हैं, और साथ ही चार छः जो श्रेष्ठ नाटक हैं—'स्कंदगुप्त', 'कोणार्क' और 'आषाढ़ का एक दिन'—वे सभी ऐतिहासिक हैं।

सभी देशों में नाट्य रचना के समुन्नत काल खण्डों में ऐतिहासिक नाटकों की रचना की गई है, चाहे ईसा पूर्व की शताब्दियों में यूनानी त्रासदियाँ हों और चाहे एलिज़ाबेथकालीन अंग्रेज़ी नाटक। पिछले १०-१५ वर्षों में तो पश्चिमी देशों में फिर से काफ़ी बड़ी संख्या में ऐतिहासिक नाटक लिखे गए हैं। फ्रांस, जर्मनी, इग्लैंड, अमरीका सभी देशों में प्राचीन कथानकों को नाटककारों ने लिया है और महान रचनाएँ की हैं। इन नाटकों में ऐतिहासिक कथानकों को, प्रायः उन कथानकों को, जिन पर पहले नाटक लिखे जा चुके हैं, नितांत नये रूप में आधुनिक जीवन मूल्यों और मान्यताओं के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है।

ऐतिहासिक नाटक कभी भी सशक्त और कलात्मक नहीं हो सकते, यदि उनमें ऐतिहासिक कथानक को नई युगसापेक्ष्य भंगिमाएँ नहीं दी गईं और पात्रों का तीव्र तथा स्पष्ट चरित्रांकन नहीं किया गया। रचनाकार और ऐतिहासिक पात्रों के बीच जो दूरी होती है, वही ऐतिहासिक नाटककार के सामने सबसे बड़ी कठिनाई होती है, और वह ऐतिहासिक पात्रों को 'अनैतिहासिक' और 'युगीन' बनाकर ही अपनी कृतियों को कलात्मक सार्थकता और शक्ति प्रदान कर सकता है।

हिंदी के अधिकांश ऐतिहासिक नाटकों में बहुत बड़ा कथाफलक लिया जाता है और अनेक घटनाएँ विभिन्न कालों और स्थानों में घटित होती हैं। प्रायः मुख्य कथानक के साथ ऐसे गौण और अप्रासंगिक कथानकों और घटनाओं का समावेश होता है, जो नाटक की मुख्य कथा को किसी प्रकार का योग नहीं देते। कथा का किसी नाटकीय योजना के अधीन चयन, संपादन और संगठन नहीं किया जाता, कथा कृत्रिम रूप से दृश्यों अंकों में विभाजित कर दी जाती है। यही कारण है कि इन नाटकों में एक प्रकार का बिखराव और असम्बद्धता रहती है। कथानक का

सचरण एक आयाम म होता है, नितात ऋजु और सपाट। वास्तव मे, सारी कथा स्थितियो की कल्पना ही वणनात्मक शली म की जाती है, रगमचीय और नाट कीय दष्टि का सवथा अभाव रहता है। कथा स्थितिया म न तो नाटकीय व्यापार ही गहन और तीव्र रूप से अभिव्यक्त होता है, और न प्रदशन म ही रगमच पर नाटकीय दष्टि से प्रभावशाली चित्र बनते हैं। एक बडी विचित्र बात यह लगती है कि यथाथवादी नाटय शली का रूप विधान स्वीकार करके भी इन नाटका म अन्विति और गठन का सवथा अभाव है और इनका सारा रूपबध शिथिल और उलझा हुआ है। जिन कुछ नाटका मे सीमित कथानक लिया जाता है और अन्वि तिया के पालन का निर्वाह किया जाता है तथा कथानक को एक सगन्ति रूपबध दिया जाता है, उनम भी प्राय कृत्रिम युक्तिया और असगत कथा-योजना से ही रूपबध की अन्विति और सगठना सम्भव होती है। कथानक की नाटकीय योजना की दष्टि से यह बात भी उल्लेखनीय है कि इन नाटको म विभिन्न घटनाओ का समनाटकीकरण नही होता, कुछ कथा स्थला का तो अति नाटकीय कर दिया जाता है और कुछ का नाटकीकरण आवश्यकता स कम होता है। इससे नाटक की गति और लय मायक और पुष्ट नही हो पाती और उसकी नाटकीय शक्ति क्षीण होती है।

इन नाटको के सवाद बोझिल, कृत्रिम और लयहीन होते हैं। उनमे किसी प्रकार की भावात्मक तीव्रता, सघनता और साथकता नही होती। सवाद कवल कथा कहने का ही काम करते हैं, वे न तो काय व्यापार को सघन और प्रखर करते हैं और न पात्रा का चरित्राकन ही तीव्र बनाते हैं। अधिकाश कथा स्थितियो म आवश्यकता से अधिक सवाद रख दिए जाते है और प्राय सवाद बहुत लम्बे होते हैं। सवादा को एक प्रकार की कृत्रिम नाटकीयता देन के विचार से नाटककारा ने कृत्रिम पद्धतिया अपना ली हैं। कोई तो सवाद के खण्डो और वाक्याशा को रुक रुककर दुहराता है, कोई वाक्य रचना का सामान्य क्रम बदल देता है और कोई पुरानी शली मे सवादो के अन्तिम वाक्य को अधूरा छोड देता है।

नाटका के रूपबध और शिल्प की अनक कमजोरिया के साथ साथ हिन्दी के अधिकाश ऐतिहासिक नाटका की सबसे बडी कमजोरी यह है कि वे ऐतिहासिक कथानका का न तो युग सापेक्ष्य नई भूमिकाएँ दे पाते है और न पात्रो का ऐसा चरित्राकन ही कर पाते हैं जो आधुनिक जीवन सदर्भों म वास्तविक और साथक हो सके। यही कारण है कि हिन्दी क अधिकाश ऐतिहासिक नाटक केवल नाटक

के माध्यम से ऐतिहासिक कथाएँ दोहराते हैं और उनका हिन्दी के रंगमंच के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उनकी सीमित सार्थकता केवल पाठ्य पुस्तकों के रूप में रह जाती है। प्रायः नाटककारों को इस बात की शिकायत रहती है कि उनके नाटकों का प्रदर्शन नहीं होता क्योंकि हिन्दी-रंगमंच साधनहीन और असमर्थ है। लेकिन वास्तव में स्थिति यह है कि इन नाटकों में रंगमंचीय सार्थकता का नितान्त अभाव है और कभी भी कोई बहुत साधनवान रंगमंच भी इनका प्रदर्शन करने की जोखिम नहीं उठा सकता। सभी देशों और सभी भाषाओं के श्रेष्ठ ऐतिहासिक नाटकों ने एक साथ पाठकों और दर्शकों को रस दिया है। दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी में यह एक ऐसी विरोधात्मक स्थिति उत्पन्न हो गई है कि ऐतिहासिक नाटकों का अस्तित्व केवल पुस्तकालयों और कक्षाओं में है। ३-४ दशकों से यह स्थिति ऐसी जड़ हो गई है कि वह न टूटती है और न नाटक को मुक्त होने देती है कि वह रंगशालाओं में दर्शकों तक पहुँच सके।

इस अवधि में सेठ गोविंददास, उदयशंकर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी', लक्ष्मी नारायण मिश्र, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' और श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी ने अनेक ऐतिहासिक नाटकों की रचना की। सेठ जी के नाटकों में 'शशिगुप्त', 'अशोक' और 'हर्ष' तथा प्रेमी के नाटकों में 'रक्तदान', 'शपथ' और 'विदा' उल्लेखनीय हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी 'चक्रव्यूह', 'दशाश्वमेध' और 'वितस्ता की लहरें' आदि ऐतिहासिक नाटक लिखे। इसी अवधि में बेनीपुरी ने 'अम्बपाली' और गोविंद वल्लभ पंत ने 'ययाति' की रचना की। सीताराम चतुर्वेदी, चतुरसेन शास्त्री और वृन्दावनलाल वर्मा ने भी ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में सबसे प्रौढ़ और सफल नाटक जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' है। यथार्थवादी नाट्य युग का यह पहला ऐतिहासिक नाटक है जिसके वस्तु विधान और चरित्र विकास में यथार्थवादी नाट्य-लेखन के सर्वोत्तम तत्वों का समावेश हुआ है। लेखक ने इस नाटक में मध्ययुगीन भाषा नाटकों की परंपरा में वैकल्पिक सूत्रधार और कथावाचकों का समावेश किया है और नाटक की दृश्य अंक योजना में उपक्रम, उपसंहार और उपकथन की व्यवस्था करके अन्वितियों का पालन करते हुए भी नाटकीय कथानक के विस्तार की रक्षा की है। पिछले १०-१२ वर्षों में 'कोणार्क' के कई सफल प्रदर्शन हो चुके हैं और शायद हिन्दी का यह पहला ऐसा नाटक है जिसने हिन्दी रंगमंच को इतना अधिक अनुप्राणित किया और उसे हल्के, कोरे मनोरंजन से उबारकर एक नई कलात्मक सार्थकता

प्रदान की। कथानक और चरित्र योजना की दृष्टि मे भी 'कोणाक' म गहरी कलात्मक अनुभूति है। इसी अवधि मे श्री माथुर न एक और एतिहासिक नाटक 'शारदीया' लिखा, जो शिल्प और साहित्यिक तत्वा की दृष्टि मे एक सफल रचना है। 'शारदीया' म भी पात्रो की गहरी, अनुभूतिपूण सजना की गई है और कथा की नाटकीय भगिमा हमारे आज के सदभ मे सार्थक बन जाती है। ऐतिहासिक नाटको की इस चचा के साथ ही दो और नाट्य कृतियां 'अधायुग' और 'आषाढ का एक दिन' की भी चचा की जा सकती है, यद्यपि य दोना ही इस नाट्य धारा मे विलग और सवथा भिन्न रचनाएँ है। 'अधायुग' श्रेष्ठ काव्य और समथ नाटक दोनो एक साथ है और दोना ही तत्व एक दूसरे को पोषित करते हैं। इसम महाभारत का कथानक नई वचारिक और सद्धान्तिक भगिमाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है, पात्रो की नितान्त मौलिक सकल्पनाएँ की गई हैं और उनको नये युग-सापेक्ष सम्बन्धो म देखा गया है। रूप विधान की दृष्टि से भी इसम नये प्रयोग किये गए है। नाटकीय योजना मे स्थापना, समापन और अन्तराल रखे गए है, अको को प्रतीकात्मक शीषक दिये गए ह और कथा स्थितियो पर टीकाएँ करने के लिए प्रहरी और कथागायक का विधान किया गया है। रचना के कई वर्षों बाद प्रदर्शित होकर, 'अधायुग' न हिन्दी रगमच को सवथा नवीन कलात्मकता प्रदान की। 'अधायुग' की रचना और प्रदशन शायद 'स्कदगुप्त' की रचना के बाद हिन्दी नाट्य जगत की सबसे महत्वपूण घटना है।

मोहन राकेश का 'आषाढ का एक दिन' 'स्कदगुप्त' के बाद पहला नाटक है जिसमे गम्भीर साहित्यिक गुणो के साथ-साथ तीव्र और सशक्त नाटकीय क्षमता भी है और जिसके द्वारा हिन्दी नाट्य-लेखन मे यथाथवादी आन्दोलन द्वारा निर्वासित काव्य-तत्व नाटक मे फिर से प्रतिष्ठित हुआ है। इस नाटक का रूप विधान तथा चरित्र योजना बहुत ही पुष्ट और नाटकीय है। इसमे पात्रो का चरित्र चित्रण गहरी अनुभूति से अनुप्राणित है जिससे उनकी नाटकीयता सच्ची और विश्वसनीय लगती है। 'आषाढ का एक दिन' की मल्लिका समूचे हिन्दी नाटक-साहित्य के कुछ इने गिने नारी पात्रो मे आती है। इसके कई सफल प्रदशन भी हुए हैं। हिन्दी का यह पहला समथ साहित्यिक धारा का नाटक है जिसने हिन्दी रगमच को नया कलात्मक स्तर प्रदान किया।

सामाजिक नाटक

हिंदी के यथार्थवादी सामाजिक नाटको का मूल्याकन करने पर कई प्रकार के विरोधाभास दिखाई देते है, जो नाटको को सभी दृष्टियो से कमजोर बनाते है। सबसे बडा विरोधाभास तो कथानक के स्तर पर ही है। ये नाटक ऊपरी तौर पर तो सामाजिक जागरूकता का परिचय देते हैं और जीवन तथा जगत की समस्याओ को बडी गम्भीरता से उठाते है। लेकिन उनके कलात्मक अभिप्राय और प्रणालिया अत्यन्त सतही और भावनात्मक है, और उनमे किसी प्रकार की गहरी कलात्मक अनुभूति और तीव्र मानवीय सवेदनशीलता का सर्वथा अभाव है। उनकी सामाजिक जीवन पद्धतिया की टीकाए और आलोचनाए अत्यन्त खोखली और प्राणहीन हैं। चाहे स्त्री पुरुष के सम्बन्धो की विषमताओ और जटिलताओ के कथानक हो, चाहे वर्ग सघर्ष और आर्थिक विषमताओ के, और चाहे प्रेम, त्याग और बलिदान की कथाएँ हो, सभी मे बडे ही थोथे और नकली आदर्श और कृत्रिम स्थितिया आरोपित लगती है, नाटकीय समस्या कथा के सघात और गहरे तनाव से उदभूत नही होती।

कथानक की ऐसी प्राणहीनता और कृत्रिमता के कारण ही इनके पात्र उथले, सपाट और मानवी सवदना मे क्षीण लगत हैं। व नाटकीय परिस्थितियों क सघात के साथ विकसित नही होते, उनके विकास की रेखाएँ जसे पहल स ही निर्धारित कर ली गई हो और फिर वे केवल कुछ व्यापारो का वहन और कुछ कथन मात्र करते हैं। और इस सबके पीछे कोई तीव्र दबाव और द्वन्द्व नही होता और न सच्ची प्रेरणाओ और हेतुओ की ही विवशता होती है। यही कारण है कि सामाजिक नाटको के पात्र इतने निष्प्राण है और स्थितियाँ नाटकीय शक्ति स क्षीण है। य पात्र अपने परिवेश से, सामाजिक पद्धतियो और आदर्शों स, किसी व्यक्ति अथवा वर्ग से लडत जूझते और टूटते खण्डित होत हुए दिखाई नही दत।

हिंदी के यथार्थवादी सामाजिक नाटक का दूसरा विरोधाभास शिल्प क स्तर पर है। हिंदी नाटककार न पश्चिमी यथार्थवादी आन्दोलन के प्रभाव म नाटक म अत्यन्त सतही तत्त्वा को स्वीकार किया और वह उस तीव्र और कल्पनापूर्ण यथार्थवाद से वचित रह गया जिसने इब्सन, शा और चेखव के नाटको को एसी शक्ति प्रदान की। हिंदी के नाटककार ने नई यथार्थवादी नाटक-पद्धतिया की बात तो बहुत की, लेकिन वह इस नई शली क नाटक और रगमच की प्रकृति और उसकी रचना पद्धतियो को ठीक ठीक नही समझ सका। यही कारण है कि उसने अत्यन्त

कल्पना विहीन और जड यथार्थवाद को अपना लिया जबकि इब्सन के नाटकों में अपार कल्पना थी और काव्य सौंदर्य है, शॉ के नाटकों मे विवाद शैली के तर्कपूर्ण संवादो की तीव्रता है और चेखव के नाटक तो गहरे भावात्मक वातावरण की सृष्टि म अभूतपूर्व हैं। यथार्थवाद की अधकचरी अवधारणा और कथानकों म किसी सच्चे मानवीय संदर्भ के अभाव के कारण इन नाटकों का शिल्प अत्यन्त कृत्रिम और कमजोर है। इनमे कथानक का विकास एक निर्धारित सपाट लीक पर होता है अथवा बहुत ही सतही नाटकीयता का आभास देने के लिए उनमे कुछ आकस्मिक, अनावश्यक और कृत्रिम मोड पैदा कर दिये जाते हैं। कथा स्थितियो का चयन, विन्यास और उनकी पूरी वस्तु योजना रंगमंच के अनुशासन और रूढियो को ध्यान मे रखकर नही की जाती।

इन नाटकों के यथार्थवादी रूप विधान के सम्बन्ध म एक विडम्बनापूर्ण तथ्य यह है कि वे ऊपरी तौर पर अभिनय और रंगमंच के लिए उपयुक्त लगते हैं लेकिन वास्तव मे उनकी दृश्य-अंक योजना और नाटककारो की रंगमंचीय कल्पना कुछ ऐसी दोषपूर्ण है कि उनके प्रदर्शन मे कई तरह की कठिनाइयां होती है। वास्तव मे, इन नाटको मे विभिन्न दृश्यो की कल्पना और पूरी दृश्य योजना पारसी पेशेवर रंगमंच मे प्रचलित चित्रित लिपटवा परदो को ध्यान मे रखकर की गई है। यही कारण है कि नाटक की अनेक स्थितियो और घटनाओं का क्रम, उनका पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी स्थानगत विशिष्टताएँ रंगमंच की दृष्टि से बहुत ही दोषपूर्ण हैं। वास्तव मे, हिन्दी मे नाटको की अभिनेयता के सम्बन्ध मे बडी भ्रान्त धारणा प्रचलित हो गई है। सामान्य रूप से यह समझा जाता है कि जो नाटक यथार्थवादी रूपबन्ध (सेट) पर खेला जा सके और जिसमे दृश्य और घटनास्थल न बदलते हो तथा गीत और स्वगत-संवाद न हो, वही अभिनेय नाटक है। नाटक की अभिनेयता के सम्बन्ध म ऐसी भ्रान्त धारणा का ही यह फल है कि आज तक प्रसाद के श्रेष्ठ नाटको के सम्बन्ध मे हमारे मन मे दुविधाएँ बनी हुई है, और पिछले दो दशकों से प्रसाद के नाटको की अभिनेयता को लेकर विवाद चल रहा है।

सामाजिक नाटको की इस दोषपूर्ण रंगमंच कल्पना का फल यह हुआ है कि लक्ष्मीनारायण मिश्र के दर्जनों नाटको मे से शायद ही किसी को आज तक रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया हो, जब कि पिछले १५ वर्षों मे हिन्दी रंगमंच के क्रिया-कलाप का बहुत अधिक विस्तार हुआ है। बहुत कुछ यही बात अश्क के बारे मे कही जा सकती है। हालाँकि विडंबना यह है कि अश्क के नाटक रंगमंचीय समझे

को उसकी समग्रता मे नही देख पाते हैं, इससे नाटकों की शक्ति खण्डित हो जाती है और सभावनाएँ क्षीण हो जाती है। उनकी पात्र कल्पना भी नाटकीय होती है, और वे प्राय बडे रोचक नाटकीय पात्रो की सृष्टि करते है। लेकिन नाटक की समूची पात्रयोजना और उनके चरित्र चित्रण म प्राय प्रेरणाओ और हेतुओ का अभाव रहता है और पात्र अविश्वसनीय और कृत्रिम लगने लगते है।

अनुवाद और रूपान्तरण

इस अवधि मे नाटको के अनुवाद तथा कहानी और उपन्यासो के नाटकीकरण का काय भी हुआ है। इस सम्बन्ध मे सबसे पहली बात तो यह है कि जहा पिछले दशको म हिन्दी म कवल बगला के ही नाटको के अनुवाद किये गए थे, वहा इस अवधि मे अन्य भारतीय भाषाओ, जसे मराठी गुजराती, पजाबी, तेलुगु और मलयालम के भी कुछ नाटक हिन्दी मे अनूदित किये गए। बगला मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कई नाटको—डाकघर, राजा, मुक्तधारा रक्तकरवी के नये अनुवाद प्रकाशित हुए। मराठी के प्रसिद्ध नाटककार मामा वरेरकर के कई नाटक जैसे 'अपूव बगाल,' 'भूमि कन्या सीता', 'भगवान देखता रहा' आदि हिन्दी म आ चुके हैं। दूसरे मराठी नाटककारो के भी कुछ नाटक अनूदित हुए ह। इनम पी० एल० देशपाडे का कस्तूरी मृग सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ। अत्रे का एक नाटक 'विवाह बधन' नाम से हिन्दी म प्रकाशित हुआ और बहुत बार प्रदर्शित भी हुआ है। गुजराती मे कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी क पुरदरपराजय, 'ध्रुव स्वामिनी दवी आदि नाटको का अनुवाद हुआ है। मलयालम नाटककार तप्पिलभासी के नाटक 'पजी और 'उत्थान' अनूदित हुए ह। पजाबी म परितोष गार्गी का नाटक छलावा अनूदित हुआ है।

अग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाओ के भी कुछ नाटक अनूदित हुए हैं। शिव दानसिंह चौहान और श्रीमती विजय चौहान ने शॉ के दो नाटको 'डॉक्टस डाइलेमा और 'मिसेज वारेंस प्रोफेशन' का अनुवाद 'डाक्टर की उलझन' और मिसेज वारेन नाम म किया है। काव्य नाटको के दो बहुत ही सुन्दर अनुवाद हुए हैं, जिनमे मूल के काव्य-तत्त्व और नाटकीय शक्ति दोनो की रक्षा हुई है। बालकृष्ण राव न मिल्टन के 'सम्सन एगानिस्टीज का 'विगत न समसन' नाम से अनुवाद किया है और भारत भूषण अग्रवाल न 'प्रोमिथियस बाउण्ड का अनुवाद 'बन्दी प्रमथ' नाम से किया, जो 'कल्पना' पत्रिका मे धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ

है। डॉ० रांगेय राघव ने शेक्सपियर के प्राय सभी नाटकों के अनुवाद कर डाले हैं, पर उनका कोई महत्त्व नहीं है। अंग्रेजी नाटकों के अनुवादों में डा० हरिवंश-राय बच्चन द्वारा शेक्सपियर के दो नाटकों 'मैकबेथ' और 'आथेलो' का पद्यात्मक अनुवाद विशेष रूप में उल्लेखनीय है। इन अनुवादों में मूल की अर्थनिष्ठा का पूरा निर्वाह हुआ है, और दोनों का दिल्ली में सफल प्रदर्शन हो चुका है। इस अवधि में संस्कृत के कुछ नाटकों के भी नये अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। इनमें मोहन राकेश का 'मृच्छकटिक' उल्लेखनीय है। रांगेय राघव ने संस्कृत के भी कई नाटकों का अनुवाद किया है, पर वे बहुत ही साधारण हैं।

नाटकों के अनुवाद का कार्य बहुत अच्छा नहीं है, और परिमाण की दृष्टि से भी बहुत कम है। वास्तव में नाटकों के अनुवाद कार्य को हम जब तक मौलिक लेखन की प्रतिष्ठा नहीं देते और इसे मौलिक लेखन की एक अनुपूरक क्रिया मानते रहेंगे, तब तक वह कभी भी संतोषजनक नहीं हो सकता। विभिन्न भारतीय भाषाओं में अथवा संस्कृत और अंग्रेजी में किये जाने वाले इन सभी अनुवादों में प्राय मूल की नाटकीय शक्ति और उसकी अभिनेयता क्षीण हो जाती है। अनूदित नाटकों में सबसे बड़ा दोष यह है कि मूल नाटक के संवादों के लय खण्ड अनुवाद में विघटित हो जाते हैं।

एक यह भी दुर्भाग्य की बात है कि दूसरी भाषाओं से अनूदित होकर ये नाटक हिन्दी रंगमंच का अंग नहीं बन पाते। यही कारण है कि न तो हम अनूदित नाटकों की नाट्य शक्ति और अभिनेयता का ठीक ठीक परीक्षण ही कर पाते हैं और न नाटकों के अनुवाद की विशिष्ट कला का ही विकास हो पाता है। अनुवादक की कल्पना में अभिनेता और दर्शक समाज न रहकर केवल पाठक वर्ग रहता है। जब तक नाटकों के अनुवाद का काम इस दृष्टि और इस प्रयोजन से नहीं किया जाता कि उनको रंगमंच पर प्रदर्शित करना है तब तक अनूदित नाटक कभी भी अच्छे नहीं होंगे और उनसे नाटक साहित्य और रंगमंच का किसी प्रकार से कोई हित नहीं हो सकता।

नाटकों के अनुवाद के प्रसंग में हम विदेशी भाषाओं के नाटकों के रूपान्तरण की भी चर्चा कर सकते हैं। जहाँ दूसरी कुछ भारतीय भाषाओं में अच्छे अभिनेय नाटकों की कमी को पूरा करने के लिए अनुवादों के अतिरिक्त कुछ अंग्रेजी नाटकों के सफल रूपान्तर किये गए हैं, वहां हिन्दी में यह कार्य बहुत ही कम हुआ है, और जो कुछ थोड़ा हुआ भी है वह नितान्त महत्त्वहीन है। इन रूपान्तरणों में जिन

भिन्न पात्रो और नाटकीय परिस्थितियो की सृष्टि की जाती है, वे प्राय भारतीय सामाजिक जीवन के सदर्भ मे स्वाभाविक और सगत नहीं होते, और इसलिए उनकी कोई कलात्मक सार्थकता नही होती।

इसी प्रसग मे उपन्यासो के नाटकीकरण की चर्चा भी की जा सकती है। प्रेमचन्द के उपन्यासो 'गोदान','गबन' और 'रगभूमि' का नाटकीकरण हुआ है और वे प्रकाशित हुए हैं। विष्णु प्रभाकर ने 'गोदान' का नाटकीकरण 'होरी' नाम से और 'गबन' का 'चन्द्रहार' नाम से किया। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' के भी दो-तीन नाटकीकरण हुए हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि श्रेष्ठ उपन्यासो के नाटकीकरण का कार्य हमने आरम्भ कर दिया है और नाटको के अनुवाद तथा रूपान्तर के समान ही नाटकीकरण द्वारा भी नाटको की कमी पूरी की जा रही है, किन्तु अभी तक हमने उपन्यासो के नाटकीकरण की विशिष्ट कला और शैली का विकास नही किया है।

रगमच नाटक

आज हिन्दी मे बहुत बडी सख्या मे ऐसे नाटक लिखे जा रहे हैं जिनकी रचना केवल प्रदर्शन के लिए होती है। इनको प्राय 'रगमच नाटक' कहा जाता है और इन्हे साहित्यिक नाटक धारा से भिन्न माना जाता है। नाटक का ऐसा कृत्रिम विभाजन हिन्दी की विरोधात्मक नाट्य स्थिति का ही परिचायक है। ये नाटक प्राय ऐसे लोगो के लिखे हुए होते हैं जो नाट्य-सस्थाओ के ही उत्साही कार्यकर्त्ता होते है और जो अभिनेता निर्देशक के रूप मे नाट्य सस्था से सम्बद्ध रहते हैं। इनमे से कुछ नाटक प्रकाशित भी होते हैं, लेकिन अधिकाश केवल प्रदर्शन मे ही प्रयोग मे लाए जाते हैं। वसे तो हमको इस प्रवृत्ति का स्वागत करना चाहिए क्योकि नाटककार का रगशाला से सम्बद्ध रहना बहुत आवश्यक है, किन्तु इसमे कही ऐसा न हो कि जो श्रेष्ठ रचनाकार है वे रगमच से निर्वासित हो जायें और हमारा रगमच उनकी कृतियो से वचित रह जाय।

इस धारा के नाटको मे कई प्रकार के शिल्पगत दोष रहते है, जो प्रदर्शन को भी कमजोर और कलाहीन बनाते है। नाटको के वस्तु निर्माण मे शिथिलता रहती है और व्यापार मे ऐसा अनर्गल फलाव होता है कि वह बराबर नाटक के मुख्य व्यापार से दूर हट जाता है। नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि बहुत ही पुरानी घिसी पिटी युक्तियो से की जाती है। एक प्रवृत्ति यह भी है कि नाटककार अनावश्यक

और गौण महत्त्व के काय व्यापार पर काफी देर के लिए ठहर जाता है और पात्र अनगल और निष्प्रयोजन वार्तालाप मे लग जाते है। प्राय पात्रो को एसी स्थितिया मे बहुत अधिक सवाद दे दिए जाते है जहा कुछ सवाद ही नाटकीय दृष्टि से अधिक प्रभावशाली हो सकते ह। नाटकीय पात्रो म समुचित अनुपात मे सवादो का वितरण नही किया जाता। गौण कथानको के कुछ विशेष प्रकार के 'टाइप' पात्रो को ही नाटककार अधिक सवाद दते हैं, जिससे कि वे नाटक मे हास परिहास की सष्टि कर सकें। नाटककार अपने नाटको मे 'टाइप' पात्रो को रखने के प्रलोभन का सवरण नही कर पाते, और प्राय वे अपने नाटको की सफलता के लिए इन्ही पर निभर करते है। इसका परिणाम यह होता ह कि सामान्य पात्रो की अवहलना होती है और उनका चित्रण भी कमजोर रह जाता है।

रगमच के लिए उपयुक्त और प्रदर्शन के ही लिए लिखे जाने वाले नाटको मे हम 'पथ्वी थियेटर' के नाटको 'आहुति', 'पसा', 'दीवार', 'कलाकार' और 'पठान' आदि को ले सकते हैं। दिल्ली की एक सक्रिय नाट्य सस्था थ्री आट स क्लब' के अभिनेता और निर्देशक रमेश मेहता ने इसी परम्परा मे कई नाटक लिखे है, जिनम 'डाग', 'जमाना' और 'अडर सेक्रेटरी' बहुत लोकप्रिय है। विनोद रस्तोगी का इसी धारा का नाटक 'नये हाथ' बहुत ख्याति पा चुका है। सवदानद के नाटक 'भूमिजा', 'चेतसिंह' और 'सिराजुद्दौला' इसी धारा के नाटक हैं, जिनका प्रदशन सफलता क साथ हुआ है। सवदानद के नाटक इस धारा के नाटको म साहित्यिक गुणो म सबस अधिक सम्पन्न ह। गोविन्दवल्लभ पत, विमला रैना, वीरेन्द्रनारायण, रेवतीसरन शर्मा तथा कई और लेखको ने इसी धारा के नाटक लिखे है।

इतने बडे रगमच आन्दोलन के होने पर भी हिन्दी मे शायद नाटक ही अन्य विधाओ की तुलना म सबसे कम लिखे जा रह हैं और उनका स्तर भी अन्य साहित्य रूपो की कृतियो की अपेक्षा हीन है। वास्तव म, हिन्दी की ही यह स्थिति नही है। सभी भाषाओ म नाट्य लेखन साहित्य के दूसरे सभी रूपो की अपक्षा निम्न कोटि का और अल्प उत्पादन वाला है। भारतीय रगमच के दो दशको क नवोत्थान काल ने श्रेष्ठ कोटि के नाटक के उदय का अभी तक कोई आश्वासन नही दिया।

इस विरोधपूण स्थिति से हमारे मन म कई प्रकार के प्रश्न उठते है। हमारी भाषाओ का नाटक साहित्य परिमाण और गुण दोनो दष्टियो स हीन कोटि का क्यो है? वह हमारे आधुनिक जीवन की गम्भीर नाटकीय अभिव्यक्ति क्यो नही

और गौण महत्व के काय व्यापार पर काफी देर के लिए ठहर जाता है और पात्र अनगल और निष्प्रयोजन वार्तालाप म लग जाते है। प्राय पात्रा को एमी स्थितिया मे बडु अधिक मवाद दे दिए जाते है जबकि कुछ मवाद ही नाटकीय दष्टि से अधिक प्रभावशाली हो सकते ह। नाटकीय पात्रा मे समुचित अनुपात मे सवादा का वितरण नही किया जाता। गौण कथानका के कुछ विशेष प्रकार के 'टाइप' पात्रा को ही नाटककार अधिक सवाद देते हैं, जिससे कि वे नाटक म हास परिहास की सष्टि कर सकें। नाटककार अपने नाटको मे 'टाइप' पात्रा का रखने के प्रलोभन का सवरण नही कर पाते, और प्राय वे अपने नाटका की सफलता के लिए इन्ही पर निभर करते ह। इसका परिणाम यह होता ह कि सामान्य पात्रा की अवहेलना होती है और उनका चित्रण भी कमजोर रह जाता है।

रगमच के लिए उपयुक्त और प्रदशन के ही लिए लिखे जाने वाले नाटका मे हम 'पृथ्वी थिएटर' के नाटका 'आहुति', 'पसा', 'दीवार', 'कलाकार' और 'पठान' आदि को ले सकते हैं। दिल्ली की एक सक्रिय नाट्य सस्था श्री आट स क्लब' के अभिनता और निर्देशक रमेश मेहता ने इसी परम्परा मे कई नाटक लिखे हैं, जिनमे 'ढाग', 'जमाना' और 'अडर सेक्रेटरी' बहुत लाकप्रिय ह। विनोद रस्तोगी का इसी धारा का नाटक 'नये हाथ' बहुत ख्याति पा चुका है। सवदानद के नाटक 'भूमिजा', 'चेतसिंह' और 'सिराजुद्दौला' इसी धारा के नाटक है, जिनका प्रदशन सफलता के साथ हुआ है। सवदानद के नाटक इस धारा के नाटका मे साहित्यिक गुणा मे सबसे अधिक सम्पन्न ह। गोविन्दवल्लभ पत, विमला रना, वीरेन्द्रनारायण, रेवतीसरन शमा तथा कई और लेखका ने इसी धारा के नाटक लिखे है।

इतने बडे रगमच आदोलन के होने पर भी हिन्दी मे शायद नाटक ही अन्य विधाआ की तुलना म सबसे कम लिखे जा रहे है और उनका स्तर भी अन्य साहित्य रूपो की कृतियों की अपेक्षा हीन है। वास्तव म, हिन्दी की ही यह स्थिति नही है। सभी भाषाआ मे नाट्य लेखन साहित्य के दूसरे सभी रूपा की अपक्षा निम्न कोटि का और अल्प उत्पादन वाला है। भारतीय रगमच के दो दशका के नवोत्थान काल न श्रेष्ठ कोटि के नाटक के उदय का अभी तक कोई आश्वासन नहीं दिया।

इस विरोधपूण स्थिति स हमारे मन मे कई प्रकार के प्रश्न उठते है। हमारी भाषाआ का नाटक साहित्य परिमाण और गुण दोनो दष्टिया से हीन कोटि का क्यो है ? वह हमारे आधुनिक जीवन की गम्भीर नाटकीय अभिव्यक्ति क्यो नही

भिन्न पात्रा और नाटकीय परिस्थितियो की सृष्टि की जाती है, वे प्राय भारतीय सामाजिक जीवन के सदभ मे स्वाभाविक और सगत नही होत, और इसलिए उनकी कोई कलात्मक साथकता नही होती।

इसी प्रसग मे उपन्यासो के नाटकीकरण की चर्चा भी की जा सकती है। प्रेमचन्द के उपन्यासो गोदान ,'गबन' और 'रगभूमि का नाटकीकरण हुआ है और वे प्रकाशित हुए हैं। विष्णु प्रभाकर ने 'गोदान का नाटकीकरण 'हारी' नाम से और गबन का 'चन्द्रहार नाम से किया। भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास चित्रलेखा' के भी दो तीन नाटकीकरण हुए है। यह पसन्नता की बात है कि श्रेष्ठ उपन्यासो के नाटकीकरण का काय हमने आरम्भ कर दिया है और नाटको के अनुवाद तथा रूपान्तर के समान ही नाटकीकरण द्वारा भी नाटको की कमी पूरी की जा रही है किन्तु अभी तक हमने उपन्यासो के नाटकीकरण की विशिष्ट कला और शैली का विकास नही किया है।

रगमच नाटक

आज हिन्दी मे बहुत बडी सख्या मे ऐसे नाटक लिखे जा रहे है जिनकी रचना केवल प्रदशन के लिए होती है। इनको प्राय रगमच नाटक कहा जाता है और इन्हे साहित्यिक नाटक धारा से भिन्न माना जाता है। नाटक का एसा कृत्रिम विभाजन हिन्दी की विरोधात्मक नाट्य स्थिति का ही परिचायक है। ये नाटक प्राय एसे लोगो के लिखे हुए होते हैं जो नाट्य सस्थाओ के ही उत्साही कायकर्ता होते है और जो अभिनेता निर्देशक के रूप मे नाट्य सस्था से सम्बद्ध रहते है। इनमे से कुछ नाटक प्रकाशित भी होत हैं, लेकिन अधिकाश केवल प्रदशन मे ही प्रयोग मे लाए जाते हैं। वसे तो हमको इस प्रवत्ति का स्वागत करना चाहिए क्योकि नाटककार का रगशाला स सम्बद्ध रहना बहुत आवश्यक है, किन्तु इसमे कही एसा न हो कि जो श्रेष्ठ रचनाकार हो वे रगमच से निर्वासित हो जाय और हमारा रगमच उनकी कृतियो से वचित रह जाय।

इस धारा के नाटको मे कई प्रकार के शिल्पगत दोष रहत ह, जो प्रदशन को भी कमजोर और कलाहीन बनाते हैं। नाटको के वस्तु निर्माण म शिथिलता रहती है और व्यापार म एसा अनगल फलाव होता है कि वह बराबर नाटक के मुख्य व्यापार से दूर हट जाता है। नाटकीय अन्तद्वन्द्व की सष्टि बहुत ही पुरानी घिसी-पिटी युक्तियो से की जाती है। एक प्रवत्ति यह भी है कि नाटककार अनावश्यक

और गौण महत्त्व के काय व्यापार पर काफी देर के लिए ठहर जाता है और पात्र अनगल और निष्प्रयोजन वार्तालाप म लग जाते है। प्राय पात्रा को ऐसी स्थितिया म बहुत अधिक सवाद दे दिये जाते हैं जब कुछ सवाद ही नाटकीय दृष्टि से अधिक प्रभावशाली हो सकते है। नाटकीय पात्रा म समुचित अनुपात म सवादा का वितरण नही किया जाता। गौण कथानको के कुछ विशेष प्रकार के 'टाइप' पात्रा को ही नाटककार अधिक सवाद देते है, जिससे कि व नाटक म हास परिहास की सष्टि कर सकें। नाटककार अपने नाटको म 'टाइप' पात्रा को रखने के प्रलोभन का सवरण नही कर पाते, और प्राय वे अपने नाटका की सफलता के लिए इन्ही पर निभर करते ह। इसका परिणाम यह होता ह कि सामान्य पात्रा की अवहेलना होती है और उनका चित्रण भी कमजोर रह जाता है।

रगमच के लिए उपयुक्त और प्रदशन के ही लिए लिखे जाने वाले नाटका म हम 'पथ्वी थिएटर' के नाटका 'आहुति', 'पसा', 'दीवार' 'कलाकार' और 'पठान' आदि का ले सकते हैं। दिल्ली की एक सक्रिय नाट्य सस्था श्री आट स क्लब के अभिनेता और निर्देशक रमेश मेहता ने इसी परम्परा मे कई नाटक लिखे है जिनम 'ढाग', 'जमाना' और 'अडर सेक्रटरी' बहुत लोकप्रिय हैं। विनोद रस्तोगी का इसी धारा का नाटक 'नये हाथ' बहुत ख्याति पा चुका है। सवदानद के नाटक 'भूमिजा' 'चतसिंह' और 'सिराजुद्दौला' इसी धारा के नाटक है, जिनका प्रदशन सफलता के साथ हुआ है। सवदानद के नाटक इस धारा के नाटका म साहित्यिक गुणा म सबस अधिक सम्पन्न ह। गोविन्दवल्लभ पत विमला रना, वीरेन्द्रनारायण रेवतीसरन शर्मा तथा कई और लेखका ने इसी धारा के नाटक लिखे है।

इतन बडे रगमच आदोलन के होने पर भी हिन्दी म शायद नाटक ही अन्य विधाओ की तुलना म सबसे कम लिखे जा रहे है और उनका स्तर भी अन्य साहित्य रूपा की कृतिया की अपेक्षा हीन है। वास्तव म, हिन्दी की ही यह स्थिति नही है। सभी भाषाओ मे नाट्य लेखन साहित्य के दूसरे सभी रूपा की अपेक्षा निम्न कोटि का और अल्प उत्पादन वाला है। भारतीय रगमच के दो दशको के नवोत्थान काल न श्रेष्ठ कोटि के नाटक के उदय का अभी तक कोई आश्वासन नही दिया।

इस विरोधपूर्ण स्थिति स हमारे मन म कई प्रकार के प्रश्न उठते है। हमारी भाषाओ का नाटक साहित्य परिमाण और गुण दोनो दृष्टियो स हीन कोटि का क्यो है? वह हमारे आधुनिक जीवन की गम्भीर नाटकीय अभिव्यक्ति क्यो नही

कर पा रहा ? हम आज भी विदेशी नाटकों के अनुवादों और रूपान्तरों पर ही क्यों निर्भर कर रहे हैं ? क्या यह स्थिति नितान्त अनिवार्य और अटल ? इस स्थिति के कोई बड़े ऐतिहासिक कारण है अथवा यह केवल हमारे नाटककारों की असमर्थता है ?

इस अन्तर्विरोध का सबसे बड़ा कारण शायद यह है कि पश्चिमी नाटक साहित्य से रचना के नियमों, व्यवहारों और शैलीगत तत्वों के साथ हमने पश्चिम के रंगमंच के रूप और उसकी रूढ़ियों को भी स्वीकार कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दो विभिन्न परंपराओं और परस्पर विरोधी प्रवृत्ति वाली कला रूढ़ियों में संघर्ष हुआ। इसने उस भारतीय नाटक के स्वरूप को विघटित कर दिया जो स्वयं १९वीं शताब्दी के मध्य में अपने उद्भव के समय प्राचीन संस्कृत नाट्य परम्परा और मध्ययुगीन नाट्य परम्परा से विच्छिन्न हो चुका था। फलस्वरूप हमारे नाट्य लेखन में एक ऐसी गतिरोध की स्थिति पैदा हो गई है कि रंगमंच और उसकी विविध आनुषंगिक कलाएँ तो विकसित हो रही हैं, किन्तु हमारा नाटक साहित्य प्रगति नहीं कर रहा है। जब तक नया नाटककार नाट्य-कला के पारंपरिक दाय का नवोन्वेषण तथा पश्चिमी नाट्य परंपरा से प्राप्त तत्वों का और कलात्मक आत्मसात् करके किसी नये नाट्य रूप और कला रूढ़ियों का विकास नहीं करता तब तक शायद भारतीय भाषाओं में श्रेष्ठ नाटक साहित्य का उदय संभव नहीं है।

एकांकी नाटक

छोटे छोटे कस्बों के अव्यावसायिक नाट्य दलों, कालेजों और पाठ्य पुस्तकों की माँग की पूर्ति के लिए हिन्दी में बहुत बड़ी संख्या में एकांकी नाटकों की रचना हो रही है। इस अवधि में एकांकी-लेखन में विषय वस्तु की दृष्टि से विस्तार और विविधता आई है और नाटकीय अनुभूति पहले से अधिक गहन हुई है। इसके साथ ही एकांकी का रचना शिल्प भी अधिक प्रौढ़ हुआ है और कुछ बहुत ही रोचक शिल्पगत प्रयोग हुए हैं। किन्तु अब भी रूढ़ कथानकों और रूढ़ पात्रों को लेकर ही अधिक संख्या में और अधिक सफल एकांकी लिखे जा रहे हैं, गंभीर कथानकों को लेकर सम्पन्न एकांकियों की रचना नहीं हो रही। कुल मिलाकर हमारा एकांकी साहित्य किताबी नाटक साहित्य है और वह केवल पाठ्य पुस्तकों की माँग की पूर्ति करता है, अथवा छोटे छोटे कस्बों और नगरों में नितान्त साधनहीन नाट्य-

सस्थाओ और कालेजो मे अत्यन्त सामान्य और सीमित रगमचीय क्रिया कलाप या जीवित रहता है। हिन्दी एकाकी साहित्य की एक बडी विचित्र बात यह है कि पहले चरण मे अधिक अच्छे नाटक लिखे गए। इसका सबसे बडा प्रमाण भुवनेश्वर के सन् ३०-३८ के बीच लिखे गए नाटक हैं।

इस अवधि मे डा० रामकुमार वर्मा सेठगोविन्ददास, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशकर भट्ट विष्णु प्रभाकर, श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी, सद्गुरुशरण अवस्थी और हरिकृष्ण प्रेमी आदि पुराने खेवे के नाटककार एकाकी नाटको की रचना करते रहे। जिन कुछ और नये लेखको ने एकाकी नाटक लिखे उनमे डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, सत्येन्द्र शरत्, डॉ० धर्मवीर भारती मोहन राकेश, देवराज दिनेश और रेवती सरन शर्मा उल्लेखनीय है। बडे नाटको के समान ऐसे एकाकी नाटक भी बहुत बडी सख्या मे लिखे जा रहे हैं जो 'साहित्यिक धारा' के एकाकियो से भिन्न माने जाते हैं, और जिनमे से अधिकाश का केवल प्रदर्शन होता है, कुछ प्रकाशित भी होते हैं। इस धारा मे विनोद रस्तोगी, विमला रैना और विमला लूथरा आदि अनेक एकाकी लेखक है।

पुराने खेवे के नाटककारो के कई एकाकी सकलन प्रकाशित हुए। लेकिन उनमे न तो कोई श्रेष्ठ कलात्मक उपलब्धि है, और न शिल्प के स्तर पर ही कोई विकास दिखाई देता है, यद्यपि इन्ही लेखको के एकाकी पाठ्यक्रमो मे निर्धारित एकाकी सकलनो मे सम्मिलित किये जाते हैं। इस खेवे के लेखको मे भुवनेश्वर, डॉ० रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर और विष्णु प्रभाकर की ही रचनाओ मे कलात्मक प्रौढता है, और एकाकी साहित्य को उनका योगदान स्थायी मूल्य रखता है।

भुवनेश्वर का स्वतत्रता के बाद कोई एकाकी सकलन प्रकाशित नही हुआ, केवल पत्र पत्रिकाओ मे ही कुछ एकाकी छपे, जिनमे 'ताबे के कीडे' और 'आजादी की नींद' प्रसिद्ध हैं। स्त्री पुरुष के सम्बन्धो की सामान्य स्थितियो को लेकर भुवनेश्वर ने बडे ही सशक्त एकाकी लिखे। उनके सवादो मे तीव्र नाटकीयता और गभीर काव्य तत्त्व रहता है। उनके आरभिक नाटको का सग्रह 'कारवा' सन् १९३५ मे प्रकाशित हुआ था, जिसके नाटक 'स्ट्राइक' और 'ऊसर' वस्तु योजना और शिल्प मे आज भी आधुनिक सवेदनाओ के सबसे निकट है। वास्तव मे जैसा समर्थ शिल्प भुवनेश्वर के एकाकी नाटको का है, वैसा और किसी एकाकी लेखक का

नहीं है।

एकांकीकारों में डा० रामकुमार वर्मा ने शायद सबसे अधिक संख्या में ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक लिखे हैं और शिल्पगत प्रयोग भी किये हैं। उनके नाटक बहुत लोकप्रिय हैं और उनका व्यापक रूप में प्रदर्शन भी होता है। उनके ऐतिहासिक नाटकों के कथानक सघन और प्रखर हैं और उनके संवाद बड़े ही ओजपूर्ण और काव्यमय होते हैं। उन्होंने 'चारुमित्रा' जैसा श्रेष्ठ नाटक दिया है। उनके सामाजिक नाटक जीवन की सामान्य स्थितियों पर आधारित होते हैं, वे मानवीय सम्बन्धों के तीव्र संघातों और गहन स्तरों को उद्घाटित नहीं करते। इस अवधि में उनके एकांकियों के कई संकलन प्रकाशित हुए जिनमें 'रजत रश्मि', 'दीपदान', 'रिमझिम' और 'मयूर पंख' आदि हैं।

अश्क एकांकी के कुशल लेखक हैं और उनके एकांकी साहित्य में कथानक और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से बहुत अधिक विविधता है। उनके प्रहसनमूलक एकांकी अधिक सफल और लोकप्रिय हैं। उनमें बड़ा पैना व्यंग्य और उन्मुक्त हास्य रहता है। इन नाटकों की कथा स्थितियाँ बहुत रोचक होती हैं और पात्र कल्पना बड़ी स्पष्ट और नाटकीय होती है। यही कारण है कि प्रदर्शन में इन नाटकों की संभावनाएँ और बढ़ जाती हैं। अश्क के एकांकी सुगठित होते हैं और उनमें ऐसी गति होती है जो नाटकीयता को और प्रखर बनाती है। इस अवधि में उनके कई एकांकी संकलन प्रकाशित हुए, जिनमें 'परदा उठाओ परदा गिराओ' और 'साहब को जुकाम है' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर के एकांकी नाटकों का एक संग्रह 'भोर का सपना' है। श्री माथुर भी एकांकी लिखने में बहुत कुशल हैं। वे स्थितियों की बड़ी नाटकीय अवधारणा करते हैं। उनके संवाद छोटे, चुस्त और सुगठित होते हैं। इस क्षेत्र के नाटककारों में विष्णु प्रभाकर ने इधर कुछ वर्षों में विविध रूपों और शैलियों में एकांकी नाटक लिखे हैं। उनके कई संकलन प्रकाशित हुए हैं, जिनमें 'क्या वह दोषी था?', 'प्रकाश और परछाईं' तथा 'बारह एकांकी' उल्लेखनीय हैं। उनके नाटकों का शिल्प बहुत ही सुथरा और प्रौढ़ है, और पात्रों का तीव्र अन्तर्द्वन्द्व नाटकों को गहरी कलात्मक शक्ति प्रदान करता है।

नये खेवे के नाटककारों में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने काफी बड़ी संख्या में एकांकी लिखे हैं और शिल्पगत प्रयोग भी किये हैं। उनके एकांकियों में रंगमंचीय कल्पना स्पष्ट है और पात्रों का चरित्रांकन भी तीव्र रेखाओं में किया गया है।

यही कारण है कि उनके एकाकिया मे सफल प्रदशन हुए है। 'ताजमहल क आमू', पवत के पीछे' और 'नाटक बहुरगी' आदि उनके कई सकलन निकले है। इस क्षेत्र के लेखको म भारतभूषण अग्रवाल के एकाकी नाटको का एक सग्रह 'और खाई बढती गई' है। इसमे सम्मिलित 'महाभारत की साँझ' एक बहुत सफल और मार्मिक रचना है। डॉ० धर्मवीर भारती के एकाकी नाटको का सकलन 'नदी प्यासी थी' बहुत विख्यात है, और उसम सकलित सभी नाटक बडी सफलता के साथ रगमच पर खेल जा चुके हैं। उनके नाटको मे गहरी मानवीय सवेदनशीलता है। नरेश मेहता के एकाकी नाटको के सकलन 'सनोवर के फूल' और 'पिछली रात की बरफ' हैं। इनम से अधिकाश नाटक रेडियो पर प्रसारित हुए है। नरेश मेहता के नाटको मे सवाद बडे काव्यपूर्ण हैं और स्थितिया बहुत नाटकीय।

रेडियो नाटक

रेडियो स्टेशनो की माग पूरी करने के लिए आज बहुत बडी सख्या मे रेडियो नाटक लिखे जा रहे है। विहित रेडियो नाटको के साथ ही अन्य रेडियो नाटय-रूपो का भी विकास हुआ है। किन्तु रेडियो नाटय साहित्य का कोई समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना कठिन है, क्योकि रेडियो नाटक बहुत कम प्रकाशित हुए हैं, और जो कुछ हुए भी है उनमें रग निर्देश जोडकर लेखको ने उनको रगमच नाटको के रूप म प्रकाशित किया है। इसके अतिरिक्त विहित मौलिक रेडियो नाटक अच्छी कोटि के बहुत कम लिखे गए है।

हिन्दी नाटककार ने जिस प्रकार से साहित्यिक नाटय लेखन म रगमच के माध्यम के प्रति उदासीन रहकर उसकी आवश्यकताओ और अनुशासनो को समझने और स्वीकार करनेसे इन्कार किया, उसी प्रकार रेडियो नाटय लेखन मेभी नाटक के इस नये माध्यम तथा उसकी आवश्यकताओ और अनुशासनो के प्रति वह उदासीन रहा। यही कारण है कि रेडियो अपने ३० ३५ वर्षो के इतिहास म भी विशेषकर इधर के १५ १६ वर्षों मे जब से हिन्दी रचनाओ को रेडियो मे समुचित स्थान प्राप्त हुआ है, श्रेष्ठ नाटक-साहित्य का निर्माण नहीं कर सका है। रेडियो नाटक साहित्यिक गुणो और रचना शिल्प दोनो ही दृष्टियो से हीन कोटि के हैं। ऐसे नाटककार नहीं है, जिन्होने इस नये नाटय माध्यम और उसके शिल्प गत सिद्धान्तो और व्यवहारो को समझा हो और दो चार भी श्रेष्ठ रचनाएँ की हो। जिन कुछ लेखको ने रेडियो के लिए सफल नाटको की रचना की है उनमे

उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, रामकुमार वर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, गिरिजाकुमार माथुर, चिरंजीत, डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, देवराज दिनेश और रेवतीसरन शर्मा के नाम उल्लेखनीय है।

विहित रेडियो नाटकों की अपेक्षा अन्य प्रकार के रेडियो नाटक—जैसे संगीत रूपक, काव्य रूपक, झलकियाँ आदि बहुत बड़ी संख्या में लिखे गए हैं, और इनमें शिल्प और कला की दृष्टि से इस अवधि में नई उपलब्धियाँ हुई हैं। चिरंजीत धारावाहिक रेडियो रूपक के सफल रचयिता हैं। उनकी रूपक माला 'नया नगर' बहुत प्रसिद्ध हुई है। सभी रेडियो स्टेशनों में इन विविध नाट्य रूपों के अपने स्थानीय लेखक होते हैं, इनमें से कुछ ने इस नाट्य माध्यम और उसकी रूढ़ियों को समझा है और अच्छी रचनाएँ की हैं।

कहानियों और उपन्यासों के सफल नाटकीकरण भी इस बीच बहुत हुए हैं, और इनमें रेडियो नाट्यशिल्प का अच्छा विकास हुआ है। कुछ कहानियों जैसे 'कफन' और 'शतरंज के खिलाड़ी' तथा कुछ उपन्यासों जैसे—'गोदान' 'रंगभूमि' और 'चित्रलेखा' के अच्छे रेडियो नाटकीकरण हुए हैं। रेडियो रूपकों में सबसे सफल रूपक प्रकार काव्य रूपक है, जिसमें साहित्यिक तत्त्व अधिक मुखर हैं और जिसमें इस माध्यम के विशिष्ट व्यवहारों का अच्छा विकास हुआ है।

सुमित्रानन्दन पंत, उदयशंकर भट्ट, भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता और सिद्धनाथ कुमार ने रेडियो काव्य रूपक लिखे हैं। पंत के काव्य रूपों के दो संकलन—'रजत शिखर' और 'शिल्पी' प्रकाशित हुए हैं। इन काव्य रूपकों में कभी तो ऐतिहासिक और पौराणिक कथानकों को नई अर्थव्यंजनाओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है, कभी किसी भाव अथवा विचार को कथानक का आधार बनाया जाता है, और कभी राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक घटनाओं और आन्दोलनों पर काव्य रूपकों की रचना की जाती है। अधिकांश काव्य रूपकों की नाटकीय योजना क्षीण है और उनका काव्य-तत्त्व भी बहुत ऊँचे स्तर का नहीं है।

इन रूपकों ने रचना के कुछ विशिष्ट नियमों और व्यवहारों का विकास किया है। इससे इनके शिल्प में प्रौढ़ता आई है। रचना के अनेक व्यवहारों और रूढ़ियों में एक यह है कि इनमें वाचक और वाचिका के रूप में कथा गायकों का विधान किया गया है। कथा-गायन काव्य रूपकों का अभिन्न अंग बन गया है, और उसका प्राविधिक रूप तथा उसके नाटकीय प्रयोजन भी स्थिर हो गए हैं। वह नाटकीय

कथा तथा पात्रो का परिचय और उनके सम्बन्ध मे आवश्यक सूचनाएँ देता है। नाटक मे व्यापार खण्डो और दृश्यो को भी वह जोडता है। वाचक अपने कथनो और वक्तव्यो मे बहुधा नाटकीय कथा के भावात्मक और दार्शनिक पक्षो पर भी अपनी व्याख्याएँ और टीका टिप्पणियाँ प्रस्तुत करता है। कभी-कभी वह अधिक सक्रिय रूप से नाटय-व्यापार मे नियोजित हो जाता है और ऐसा लगता है जैसे कि वह कथा के हर मोड और हर महत्त्वपूर्ण स्थिति मे उपस्थित है और श्रोताओ की ओर से उनकी प्रतिक्रियाएँ प्रस्तुत कर रहा है।

काव्य रूपको मे कोरस या समवेत गान का प्रयोग भी एक शिल्पगत रूढि बन गया है, और यह रचना विधान का नियमन करने मे महत्त्वपूर्ण योग देता है। हिन्दी नाटको मे कोरस की लबी परपरा है। रेडियो काव्य रूपको का समवेत गान चाहे सीधे इस परपरा से सम्बद्ध न हो, किन्तु उसके कलागत प्रयोजन पिछली परपरा, विशेषकर लोक परपरा, के ही समान है। समवेत-गान द्वारा नाटकीय कथा के मूल भावो और विचारो का पुनर्कथन होता है, अथवा उनकी व्याख्याएँ प्रस्तुत की जाती हैं। इन पुनर्कथनो और व्याख्याओ द्वारा रूपको का काव्य और नाटय तत्त्व अधिक गहन होता है। इसके अतिरिक्त समवेत-गान रूपको मे नाटकीय कथा को विश्राम देते हैं, जहाँ कथा कुछ देर के लिए ठहरकर नई गतियो और नई दिशाओ मे मुडती है। समवेत गान कभी तो नाटकीय कथा को सक्षेप मे प्रस्तुत करते हैं, दोहराते है और इस प्रकार कथा को सगठित करने मे योग देते हैं।

इन काव्य रूपको का वस्तु विधान बहुत ही सरल होता है। कवि अपना कथा तन्य, कथा-वाचन, समवेत-गान, सगीत खण्डो और पात्रो के सवादो की एक विशिष्ट योजना द्वारा सगठित करते हैं। काव्य रूपको मे कुछ तो ऐसे हैं, जिनमे रग निर्देश के रूप मे केवल कुछ ध्वनि प्रभावो और सगीत खण्डो के स्वरूप का ही सकेत किया गया है। किन्तु कुछ मे प्रकाशित रूप मे रगमच नाटको के समान ही विस्तृत रगनिर्देश दिए गए है, जिनमे घटनास्थल की पूरी दृश्य वर्णना की गई है।

काव्य रूपको के सवादो मे विविध प्रकार के छन्दो और सगीत लयो का प्रयोग किया गया है। किन्तु अभी तक सवादो मे नाटकीय कथोपकथन की सहजता और शक्ति नही आई है। कभी तो सवाद काव्य और सगीत की दृष्टि से कमजोर होते हैं, और कभी उनमे नाटकोचित लय और उक्ति वैचित्र्य का अभाव रहता है। सवादो के छद विधान और उनकी लय योजना मे कोई नए प्रयोग भी नही हो रहे।

नाट्य-समीक्षा

इस अवधि मे कई ऐसे नाटय समीक्षा ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनके द्वारा हिंदी-नाटक सम्बन्धी बहुत सी नई और उपयोगी सामग्री सामने आई है। कुछ ग्रंथो को छोडकर, जो कि या तो स्फुट लेखो के सकलन है या समीक्षा-पुस्तकें अधिकाश ग्रंथ शोध प्रबंध हैं। इस अवधि म ८ १० नाट ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं और शायद इससे दूनी सख्या म अप्रकाशित पडे होग।

समीक्षा पुस्तको मे कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह का 'मध्यकालीन हिन्दी नाटय परपरा' उल्लेखनीय है। कुंवर चन्द्रप्रकाश ने अपनी पुस्तक म एक बहुत ही महत्व पूण विषय उठाया है, और उन मध्ययुगीन नाटकीय तत्वा और रूढिया की चर्चा की है जिनका भारतेंदु के नाटय साहित्य के निर्माण म बहुत बडा योग है। वास्तव म मध्ययुगीन नाटकीय तत्वो, रूढिया और व्यवहारा की खोज और आरंभिक हिंदी नाटक के निर्माण म उसके योग के मूल्याकन का बहुत ही महत्वपूण काम अभी होना बाकी है। डॉ० सोमनाथ गुप्त की पुस्तक—पूव भारतेंदु नाटक साहित्य' मे भारतेंदु के पहले की नाटय-कृतियो का परिचय दिया गया है और उनके कुछ अश प्रस्तुत किये गए है। पूव भारतेंदु नाटय परपरा का यह परिचय कई दृष्टियो से उपयोगी है। डॉ० श्याम परमार की पुस्तक 'लोकधर्मी नाटय परपरा' मे हिंदी क्षेत्र के विविध लोक नाटय रूपा विशेषकर मध्य प्रदेश के 'माच' नाटक का परिचयात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

शोध ग्रंथो मे डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिंदी नाटक साहित्य का इतिहास' और डॉ० दशरथ ओझा का 'हिंदी नाटक उदभव और विकास' उल्लेखनीय है। डा० गुप्त के ग्रंथ का महत्व इस दृष्टि से विशेष है कि पहली बार उसके द्वारा समूचे हिन्दी नाटक साहित्य का काल क्रमानुसार परिचय प्रस्तुत किया गया। डॉ० ओझा का शोध ग्रंथ भी हिंदी नाटक साहित्य का परिचयात्मक इतिहास प्रस्तुत करता है। इस ग्रंथ मे भारतेंदु के पहले के चार पाच शताब्दियो के नाटक साहित्य की उस धारा का उदघाटन किया गया है जिसके सम्बन्ध मे अब तक बहुत कम जानकारी थी।

इन ग्रंथो मे पर्याप्त तथ्यात्मक सामग्री तो है किन्तु किसी निश्चित विवेचनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव म इनका महत्व कम हो गया है। विभिन्न काल खण्डो के नाटक साहित्य के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कलात्मक सम्बन्ध सूत्रो और

एक युग की नाट्य-रचना, पद्धतियां और व्यवहारों के दूसरे युग की रचना पद्धतियों और व्यवहारों के साथ होने वाले सहज सम्बंध को इनमें उद्घाटित नहीं किया गया है। यही कारण है कि इन ग्रंथों से हिंदी नाटक की परंपराओं और प्रवृत्तियों, नाट्य लेखन की पद्धतियों और नाट्य रूपों के विकास का कोई अखण्ड और सर्वांगीण चित्र निर्मित नहीं होता। वास्तव में, हिंदी नाटक साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की बहुत बड़ी आवश्यकता है, जिसमें उपलब्ध तथ्यों और सामग्री को किसी स्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टि से संगठित किया जाय, जिससे कि उसके निर्माण और विकास में संस्कृत और मध्ययुगीन नाट्य परंपरा, लोक नाट्य परंपरा तथा अंग्रेजी नाटक और रंगमंच की परंपराओं के योग का ठीक ठीक उद्घाटित किया जा सके।

अन्य शोध ग्रंथ हिंदी के ऐतिहासिक और पौराणिक नाटकों, प्रसाद और भारतेंदु के नाटकों अथवा समस्त नाट्य साहित्य के अध्ययन से सम्बंधित हैं। इन ग्रंथों में न तो अनुसंधान की दृष्टि से ही नए तथ्यों का समावेश है, और न नाटक साहित्य का ही आलोचनात्मक विश्लेषण है। कथानक और पात्रों के नितांत वर्णनात्मक परिचयों से ये शोध ग्रंथ भरे हुए हैं, और इनमें पुराने ही तथ्य, धारणाएं और मत दोहराए गए हैं। ये ग्रंथ इस प्रकार से शोध-परिपाटी से जकड़े हुए हैं कि नाटक और रंगमंच के नए उन्मेष और नाट्य समीक्षा की नई दृष्टियों से ये बिलकुल अछूते रह गए हैं।

इस अवधि में नाट्य समीक्षा में कुछ विविधता अवश्य आई है और शुद्ध साहित्यिक विश्लेषण के अतिरिक्त उसने नाट्य प्रदर्शन और रंग शिल्प का विषय भी अपनाया है। यह विविधता और विषय विस्तार अभी बहुत सीमित है और उसका स्तर भी नितांत साधारण है, फिर भी यह एक शुभ लक्षण है। राजकुमार की पुस्तक 'नाटक और रंगमंच', जिसमें प्रदर्शन की विविध रंगमंचीय कलाओं का परिचय है, और चंद्रशेखर भट्ट की 'नाट्य पद्धति द्वारा शिक्षण' ऐसी ही समीक्षा पुस्तकें हैं। डा० रघुवंश की पुस्तक 'नाट्यकला' में भी प्रदर्शन कला के विविध पक्षों पर लेख हैं। हरिश्चंद्र खन्ना की 'रेडियोनाटक' और सिद्धनाथ कुमार की 'रेडियो नाट्य शिल्प' इस विषय की अच्छी समीक्षा पुस्तकें हैं।

इसी प्रसंग में नाट्य प्रदर्शनों की उन समीक्षाओं का उल्लेख भी आवश्यक है जो इस बीच 'कल्पना' 'कृति' 'नाटोदय' और 'धर्मयुग' में प्रकाशित होती रही हैं। हिंदी में पहली बार नाटकों के प्रदर्शनों की समीक्षाएं प्राविधिक रूप से की गई

एक ही पुस्तक—'भारतीय नाट्य साहित्य' है, जिसका सपादन डॉ० नगेन्द्र ने किया है।

समसामयिक हिन्दी-नाट्यालोचना की इन उपलब्धियो और प्रवृत्तियो की चर्चा के बाद उसके सैद्धान्तिक पक्ष और उसकी प्रवृत्ति का सक्षिप्त विवेचन प्रासगिक होगा। हिन्दी मे नाट्यालोचना की जो पद्धति अपनाई जाती है उसे हम वर्णनात्मक साहित्यिक आलोचना कह सकते है। इस आलोचना शैली मे नाटको की कथावस्तु, पात्रो के चरित्र चित्रण और नाटक के विचार और भाव पक्ष का तो गभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु नाटक के रूप विधान, उसके रचना नियमो और व्यवहारो, प्रदर्शन की दृष्टि से उसके गुण दोषो तथा नाट्य रूप को प्रभावित करने वाली रगमचीय परिस्थितियो और रूढियोका विवेचन नहीहोता।

ऐसी स्थिति मे हिन्दी नाट्यालोचना नितान्त एकागी हो गई है और वह बहुत सीमित विवेचन क्षेत्र मे और सीमित शब्दावली के साथ अपने को बराबर दोहरा रही है और उससे नये नाटककार का कोई पथ प्रदर्शन नही हो रहा। यही कारण है कि नाटक के क्षेत्र मे रचनात्मक और समीक्षात्मक कार्य कलाप मे बराबर खाई बढती जा रही है और वे एक दूसरे को शक्ति नही दे पा रहे है। यह स्थिति इसलिए और भी अधिक घातक है क्योकि नाटक एक ऐसी विधा है, जिसमे समीक्षा किसी अन्य साहित्यिक विधा की अपेक्षा कही अधिक रचनात्मक कृतित्व को प्रभावित करती है।

हिन्दी नाट्यालोचना मे एक बडा भारी अन्तर्विरोध आरम्भ से ही यह आ गया कि आधुनिक नाटक साहित्य का मूल्याकन करने मे न तो वह अपने को प्राचीन नाट्य समीक्षा सिद्धान्तो से सम्बद्ध कर सकी और न पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तो को स्वीकार करके उनके समन्वय से वह किसी स्वतन्त्र और विशिष्ट नाट्य सिद्धान्त शास्त्र का ही निर्माण कर सकी। यही कारण है कि आज तक हिन्दी की कोई ऐसी एकीकृत और मौलिक समीक्षा पद्धति का निर्माण नही हो सका, जिससे कि हम उसी प्रकार हिन्दी-नाट्य शास्त्र के कुछ नितान्त स्थूल तत्त्वो और सिद्धान्तो की चर्चा कर सकते जिस प्रकार कि हिन्दी काव्य शास्त्र की चर्चा की जाती है। हमने अपने नाटक साहित्य का मूल्याकन करने के लिए कभी तो प्राचीन सिद्धान्त अपनाये और कभी पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तो और कला मूल्यो के आधार पर उसका परीक्षण किया। इसी स्थिति के कारण हमारे बहुत बडे नाटक साहित्य का आज तक ठीक ठीक मूल्याकन नही हो सका है।

हैं। इन टिप्पणियो और समीक्षाओ द्वारा हिन्दी मे रगमचीय समीक्षा की परपरा का निर्माण हो रहा है। इन प्रदर्शन समीक्षाओ के अतिरिक्त साहित्यिक पत्रिकाओ मे रग शिल्प के विविध पक्षो पर लेख भी प्रकाशित हुए है। इन समीक्षाओ और लेखो द्वारा कितने ही नये विचारो और नई नाट्य सकल्पनाओ को व्यक्त करने वाले पारिभाषिक शब्दो का समावेश हिन्दी नाटयालोचना मे पहली बार हुआ है और विवेचना का क्षेत्र गहन और विस्तृत हुआ है।

इस प्रकार की समीक्षाओ और लेखो के लेखको मे नेमिचन्द्र जैन का नाम उल्लेखनीय है। नेमिचन्द्र जैन ने नाटक की रचना प्रक्रिया तथा नाटक साहित्य का गभीर विश्लेषण प्रस्तुत करके हिन्दी की नई नाटयालोचना को समुन्नत किया है। वीरेन्द्र नारायण ने 'कल्पना' मे प्रकाशित एक पूरी लेख माला मे 'स्कन्दगुप्त' के प्रदर्शन का प्राविधिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। हिन्दी मे इस प्रकार का नाटय विवेचन सर्वथा नया है। किन्तु आज भी यह शोचनीय स्थिति बनी हुई है कि हिन्दी के बहुत बडे और व्यापक नाटकीय क्रियाकलाप की चर्चा और समीक्षा हिन्दी के दैनिक और साप्ताहिक पत्रो मे नही होती।

इस अवधि की हिन्दी नाटयालोचना की एक उल्लेखनीय बात यह है कि संस्कृत के नाटय लक्षण ग्रथो के अनुवाद तथा उनकी व्याख्याएँ प्रकाशित हुई। डा० नगेन्द्र के सपादन मे प्रकाशित होनेवाले ग्रथ 'हिन्दी नाटय-दर्पण' तथा 'हिन्दी अभिनव भारती' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने इन ग्रथो की बहुत विस्तृत व्याख्याएँ की है और नये निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। इन ग्रथो द्वारा संस्कृत नाटय लक्षण ग्रथो की बहुमूल्य सामग्री हिन्दी पाठक के लिए सुलभ हुई है और वह अपनी नाटय परपरा के प्रति सजग हुआ है।

रग शिल्प के विविध पक्षो—रगसज्जा, प्रकाश योजना, रगमच-व्यवस्था तथा निर्देशन कला आदि से सम्बन्धित पुस्तको का अभाव आज भी बना हुआ है जबकि रगमच का बहुत अधिक विस्तार हुआ है और इस प्रकार के साहित्य की आज बहुत अधिक आवश्यकता है। आलोचना साहित्य के अभावो मे हम इस बात का भी जिक्र कर सकते हैं कि हिन्दी मे संस्कृत रगमच और नाटको की समीक्षा सम्बन्धी एक भी अच्छा ग्रथ नही है यहाँ तक कि संस्कृत नाटको से सम्बन्धित प्रसिद्ध और प्रामाणिक अग्रेजी ग्रथो के अनुवाद तक नही हैं। इसी प्रकार विभिन्न भारतीय भाषाओ के रगमच और नाटक-साहित्य का परिचय और मूल्याकन करने वाली नाट्य-समीक्षा पुस्तको का भी सर्वथा अभाव है। इस विषय को केवल

एक ही पुस्तक— भारतीय नाट्य-साहित्य है, जिसका सम्पादन डा० नगेन्द्र ने किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-नाटकालोचना की इन उपलब्धियों और प्रवृत्तियों की चर्चा के बाद उसके सर्वांगीण पक्ष और उसकी प्रकृति का संक्षिप्त विवेचन प्रासंगिक होगा। हिन्दी में नाटकालोचना की जो पद्धति अपनाई जाती है उसे हम पठनात्मक साहित्यिक आलोचना कह सकते हैं। इस आलोचना-शैली में नाटकों की कथावस्तु, पात्रों के चरित्र-चित्रण और नाटक में विचार और भाव पक्ष का तो गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु नाटक के रूप विधान, उसके रचना नियमों और व्यवहारों, प्रदर्शन की दृष्टि से उसके गुण-दोषों तथा नाट्य रूप को प्रभावित करने वाली रंगमंचीय परिस्थितियों और रूढ़ियों का विवेचन नहीं होता।

ऐसी स्थिति में हिन्दी-नाट्यालोचना नितान्त एकांगी हो गई है और वह बहुत सीमित विचार-क्षेत्र में और सीमित शब्दावली के साथ अपने को बराबर दोहरा रही है और उससे नये नाटककार का कोई पथ प्रदर्शन नहीं हो रहा। यही कारण है कि नाटक के क्षेत्र में रचनात्मक और समीक्षात्मक कार्य-कलाप में बराबर खाई बढ़ती जा रही है और वे एक दूसरे को शक्ति नहीं दे पा रहे हैं। यह स्थिति इसलिए और भी अधिक घातक है क्योंकि नाटक एक ऐसी विधा है, जिसमें समीक्षा किसी अन्य साहित्यिक विधा की अपेक्षा कहीं अधिक रचनात्मक कृतित्व को प्रभावित करती है।

हिन्दी नाट्यालोचना में एक बड़ा भारी अन्तर्विरोध आरम्भ से ही यह आ गया कि आधुनिक नाटक साहित्य का मूल्यांकन करने में न तो वह अपने को प्राचीन नाट्य-समीक्षा सिद्धान्तों से सम्बद्ध कर सकी और न पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तों को स्वीकार करके उनके समन्वय से वह किसी स्वतन्त्र और विशिष्ट नाट्य सिद्धान्त शास्त्र का ही निर्माण कर सकी। यही कारण है कि आज तक हिन्दी की कोई ऐसी एकीकृत और मौलिक समीक्षा पद्धति का निर्माण नहीं हो सका, जिससे कि हम उसी प्रकार हिन्दी-नाट्य शास्त्र के कुछ निश्चित व स्थूल तत्वों और सिद्धान्तों की चर्चा कर सकते जिस प्रकार कि हिन्दी काव्य शास्त्र की चर्चा की जाती है। हमने अपने नाटक साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए कभी तो प्राचीन सिद्धान्त अपनाये और कभी पश्चिमी नाट्य सिद्धान्तों और कला मूल्यों के आधार पर उसका परीक्षण किया। इसी स्थिति के कारण हमारे बहुत बड़े नाटक साहित्य का आज तक ठीक ठीक मूल्यांकन नहीं हो सका है।

रंगमंच

हिंदी रंगमंच आज भी अव्यावसायिक रंगमंच ही है, यद्यपि उसका पहले से बहुत अधिक विस्तार हुआ है और वह पहले से अधिक संगठित भी है, तथा कुछ बड़े नगरों में नाट्य-दल धीरे धीरे अर्द्ध व्यावसायिक रूप भी ले रहे हैं। इस अव्यावसायिक रंगमंच का क्षेत्र आज इतना विस्तृत हो गया है कि धीरे धीरे वह अखिल भारतीय स्तर पर विकसित हो रहा है। आज हिंदी भाषी क्षेत्र में ही नहीं अनेक अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन हो रहे हैं। अहिन्दी भाषी क्षेत्रों के प्रमुख नगरों में ऐसी नाट्य संस्थाएँ हैं जो दो-दो तीन तीन भाषाओं में नाटकों के प्रदर्शन करती हैं, जिनमें से एक भाषा हिंदी होती है। लेकिन किसी भी भाषा और देश का रंगमंच तब तक प्रौढ़ और सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक कि वह व्यावसायिक रूप में विकसित और संगठित न हो। यह खेद की बात है कि हिन्दी का एक मात्र व्यावसायिक नाट्य दल—'पृथ्वी थियेटर' सोलह वर्षों तक देश भर में नाट्य प्रदर्शन करने के बाद १९६० में बंद हो गया। 'पृथ्वी थियेटर' का हिन्दी के रंगमंच के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा, क्योंकि इसी नाट्य-दल ने पारसी कंपनियों के रंगमंच के अवसान के बाद हिंदी रंगमंच का नवोत्थान किया और जनता में नाटक की रुचि जगाकर एक बहुत बड़े दर्शक-समाज का निर्माण किया। अपने सोलह वर्षों के इतिहास में इस दल ने कोई दो हजार नाट्य प्रदर्शन किये, जिनमें 'पठान' और 'दीवार'-जैसे सशक्त और कलापूर्ण नाटकों के प्रदर्शन भी थे। और जब यह बंद हुआ तो यह दल एक अहिंदी-भाषी क्षेत्र महाराष्ट्र के बम्बई में नाटकों के प्रदर्शन कर रहा था।

रंगमंच के नवोत्थान और विकास में आज कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका उल्लेख नाटक-साहित्य के इस विवेचन में प्रासंगिक होगा। इस संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि आज हिंदी के नये नाटकों को प्रायः प्रदर्शन का सुयोग मिल जाता है जबकि इसके पहले के महत्त्वपूर्ण नाटक भी प्रदर्शन से वंचित रह गये और उनकी अभिनेयता आज तक संदिग्ध बनी हुई है। नया नाटककार भी आज रंगशाला के निकट आ रहा है और उसीको अपने रचनात्मक कार्य का क्षेत्र बना रहा है और उसकी कला रूढ़ियों से परिचित हो रहा है क्योंकि वह जानता है कि उसकी कृति का आनन्द सामूहिक रूप से एक रंगशाला में बैठे हुए दर्शकों को लेना है और उसकी कृति की पूर्णाभिव्यक्ति भी रंगशालाओं में ही अभिनेताओं

के द्वारा होगी। आज हिन्दी का नाट्य प्रदर्शन अधिक प्रौढ है, और उसकी पद्धतियाँ पहले से अधिक कलात्मक हो गई हैं। विहित गद्य नाटकों के साथ-साथ हिन्दी रगमच मे नृत्य नाटको का प्रचलन और विकास भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसी प्रकार से सस्कृत नाटको के अनुवादो और रूपातरो के प्रदर्शन भी आज हिन्दी रगमच को प्राचीन परपरा से सबद्ध कर रहे है।

पिछले १० १२ वर्षों मे हिन्दी रगमच मे नृत्य-नाटको का बडी तेजी के साथ विकास और प्रचलन हुआ है। ग्वालियर की 'लिटिल बले ट्रुप' बबई की 'बले यूनिट' तथा दिल्ली की 'भारतीय कला केन्द्र' और 'बले सेण्टर' ऐसी नृत्य सस्थाएँ हैं, जिनके प्रदर्शन देश भर मे बडी सफलता के साथ हो रहे है। 'लिटिल बले ट्रुप' ने अपने प्रसिद्ध नृत्य नाटक 'पचतत्र' के प्रदर्शन अनेक पश्चिमी देशो मे भी कर चुका है, और उसकी अतर्राष्ट्रीय ख्याति है। भारतीय कला केन्द्र की 'रामलीला' बहुत ही सराहनीय प्रदर्शन है।

इन नृत्य नाटको मे प्रदर्शन के अनेक व्यवहार और रूढिया लोक नाट्य परपरा से ली गई हैं। कोरस और कथावाचको का प्रयोग और दर्शको के देखते हुए रग-कर्मियो अथवा स्वय पात्रो द्वारा दृश्य सज्जा-सामग्री का रखना-उठाना आदि रूढिया लोक नाट्य परपरा से ही आई हैं। इसी प्रकार इन नाटको मे पात्रो की वेष भूषा और सज्जा की बहुत सी सामग्री लोक-परपरा से ली गई है। इनके नृत्य और सगीत मे भी लोक सगीत और नृत्य का ही कलात्मक और नाटय-गर्भित उपयोग किया गया है। यही नही इनके प्रदर्शन के लिए रगमच के स्वरूप और रग शिल्प के अनेक तत्वो के रूप-निर्धारण मे भी लोक रगमच का उपयोग किया गया है। यह खेद की बात है कि इन नृत्य नाटको के अनेक पक्ष बहुत ही सम्पन्न और सबल होने पर भी इनका कथा अग, दृश्य विधान और साहित्य अश प्राय कमजोर रहते हैं। श्रेष्ठ कवियो को अभी तक इनका सहयोग नही मिला।

रगमच की एक और नई प्रवृत्ति यह है कि पिछले कुछ वर्षो मे सस्कृत नाटकों के अनुवादो और रूपा तरो के प्रदर्शन किये गए है। दिल्ली म ही दो-तीन नाट्य-सस्थाओ ने कई सस्कृत नाटको के प्रदर्शन किये है। इन प्रदर्शनो मे कुछ मे तो पारपरिक यथार्थवादी प्रदर्शन शैली अपनाई गई है, कुछ मे नई और प्रयोगशील। हबीब तनवीर ने कई सस्कृत नाटको के सशक्त और प्रयोगात्मक प्रदर्शन किए हैं। यह नितान्त आवश्यक है कि रगमच के इस नव-जागरण काल मे हम अपनी प्राचीन परपराओ से परिचित हो और उनके साथ नया और जीवत सबध

स्थापित करे। अपनी नाट्य परपराओ का पुर्निर्माण करके ही हम पश्चिमी-पर-परा को भी अधिक कलात्मक आत्मसात् कर सकेंगे और तभी भारतीय रगमच का वतमान गतिरोध टूटेगा और वह प्रगति करेगा।

रग-शिल्प

आधुनिक प्रदशनो मे रग शिल्प का विकास हुआ है और कुछ प्रवत्तिया स्पष्ट और स्थिर हो गई हैं। नाट्य प्रदशना मे रग सज्जा अधिक से-अधिक यथाय परक होती जा रही है और उसम घटनास्थल के विस्तत प्रतिनिधान के लिए रग मच पर विविध उपकरण जुटाए जाते हैं। घटनास्थला के प्रतिनिधान की शैली और सामग्री इतनी रूढ हो गई है कि नाटकीय कथानको मे प्र य एक ही प्रकार के घटनास्थलो की कल्पना की जाती है। रग सज्जा मे नया और प्रयोगात्मक काय बहुत कम हो रहा है।

रग शिल्प के सम्ब ध म दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि दृश्य निर्माण के साथ साथ दूसरे पक्षा, विशेषकर प्रकाश व्यवस्था पर पहले से अधिक ध्यान दिया जा रहा है। प्रदशन कला को प्रकाश व्यवस्था पहले से अधि क योगदान द रही है और धीरे धीरे उसका कलात्मक स्तर भी ऊँचा होता जा रहा है, किन्तु जहा एक ओर प्रकाश व्यवस्था का प्रयोग कलात्मक और नाटकीय हो गया है, वही दूसरी ओर यह प्रवृत्ति भी पाई जाती है कि प्राय नाटकीय दृश्य मे चमत्कारिता की सृष्टि के लिए उसका उपयोग किया जाता है। प्रकाश-व्यवस्था अपने कलात्मक प्रयोगो में तो नाटकीय कथा क वातावरण की सष्टि करने और अनेक स्थितिया के भाव पक्ष को पुष्ट और गहन करने म योग दे रही है, और अपने चमत्कारी प्रयोगो म नाटकीय कला की स्वाभाविकता को नष्ट कर रही है और उसम अतिनाटकीयता के तत्वा का समावश कर रही है।

रग शिल्प के इन साधना के साथ साथ दृश्य निर्माण के लिए प्राय नेपथ्य से अनक प्रकार के ध्वनि प्रभावो का प्रयोग किया जाता है। इन ध्वनि प्रभावो के प्रयोग म भी दो प्रवृत्तियाँ दिखाई देती है, एक तो, यह कि पहले की अपेक्षा ध्वनि प्रभावा का प्रयोग अधिक साथक और नाटकीय होने लगा है, और उचित कथा-स्थल, अवधि तथा साधनो क सम्ब ध मे निर्देशको का निणय पहले स अधिक कलात्मक होता है दूसरी यह कि इन ध्वनि प्रभावा द्वारा [illegible] की वास्तविकता का बडा ही अनपढ [illegible] करदें [illegible]

ध्वनि प्रभाव नाटकीय स्थिति और वातावरण मे सहायक होने के स्थान पर बाधक होते हैं।

रग शिल्प के अलग-अलग तत्त्वा और पक्षो मे ता इस अवधि मे महत्त्वपूर्ण उन्नति हुई है और उनका कलात्मक स्वरूप धीरे धीरे निश्चित हो रहा है, किन्तु रग शिल्प के इन सारे तत्त्वो और पक्षो को निर्देशक प्रदर्शन के किसी एक निश्चित भाव और शैली के अनुसार समन्वित नही कर पा रहे हैं। इसका एक दुष्परिणाम यह हो रहा है कि रग शिल्प द्वारा नाटक को जो शक्ति मिलनी चाहिए वह नही मिल रही, प्राय इनके विघटित स्वरूप के कारण नाटक को क्षति ही उठानी पडती है।

अभिनय

हिन्दी नाट्य प्रदर्शनो मे बहुत समय तक अभिनय शैली अनिश्चित अवस्था से गुजरकर अब एक निश्चित रूप ले रही है। कई वर्षों तक आशिक रूप से रीतिबद्ध तथा आशिक रूप से यथार्थमूलक रहकर अब उसने अपने लिए स्वाभाविक और यथार्थमूलक शैली अपना ली है। सामान्यत अभिनय का स्तर ऊँचा है, और हमारे अभिनेताओ मे अच्छी अभिनय कला का गुण विद्यमान है। किन्तु अभिनेताओ के प्रशिक्षण का समुचित प्रबन्ध न होने और अभिनेताओ के व्यावसायिक कलाकार न बन सकने के कारण अभिनय कला का विकास नही हो पा रहा।

अभिनय की मुख्य प्रवृत्तियो मे से एक यह है कि 'टाइप' पात्रो का अभिनय सामान्यत अच्छा होता है। नाटककार तथा निर्देशक दोनो ही ऐसे पात्रो पर अधिक जोर देते हैं और अपनी सफलता के लिए इन्ही पर निर्भर करते हैं। किन्तु, इसमे नाटक के दूसरे पात्रो की अवहेलना होती है और अभिनेताओ द्वारा उनका पूरा पूरा चित्रण नही हो पाता। इसका एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि प्रदर्शन मे एक प्रकार का असतुलन आ जाता है।

नाटको मे सवाद निवेदन के सम्बन्ध मे एक सामान्य दोष यह है कि उनमे पर्याप्त उतार चढाव और स्वर वैचित्र्य नही रहता। अभिनेता अपनी आवाज को दूर तक फेंक सकने मे असमर्थ रहते है। इसके अतिरिक्त, नाटकीय स्थितियो के अनुकूल सवादो की लय और गति मे भी समुचित परिवर्तन नही किया जाता। अधिकाश पात्र नितान्त भावुकता और आवेशपूर्ण शैली मे बोलते हैं और सब-के

सब प्राय एक ही लय बध अपनाते हैं, जिससे सवादो मे किसी प्रकार का सुरुचि-पूण रग और लय का सौदय नही आ पाता। त्रासदी पात्र तो एक विशेष प्रकार की भावुकतापूण शली मे बोलते हैं, और कामदी पात्र ऊँची अतिरजित आवाज़ मे बोलत है। प्राय दोना ही कोटि के पात्र अतिरजित और आवश्यकता से अधिक मुद्राएँ करते हैं।

अभिनय मे सवाद निवेदन और अग-सचालन का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध दोष पूण रहता है, उसमे पूरा सामजस्य नही रहता। पात्रो के सवाद निवेदन और अग सचालन मे कुछ व्यवधान होत हैं, और अभिनेता विना किसी अथ और प्रयोजन के ही इन व्यवधाना को पूरा करने के लिए रगमच पर चलत हैं, ठहर जाते हैं और मुद्राएँ प्रदर्शित करते हैं। मुद्राओ और सवाद निवेदन का यह सबध इतना शिथिल हो गया है कि जब नाटकीय सवाद के साथ बडे ही भावाविष्ट मुद्रा विधान की आवश्यकता होती है, तो अभिनता अनवत मुद्राएँ करते हैं और इनकी कमी पूरी करने के लिए अपने सवाद ऊँची ऊँची आवाजो मे बोलते है, और जब सवाद बहुत ही साधारण स्थितिया के होत हैं और किसी प्रकार की मुद्राओं की आवश्यकता नही होती तो प्राय अभिनेता अतिरजित मुद्राएँ करत है।

रगमच पर पात्रो का गति विधान और उनका समूहन भी सुरुचिपूण नही होता। पात्रा के समूहन मे न तो चित्रमयता होती है और न नाटकीय प्रभाव शीलता ही रहती है। पात्रा का एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना, दृश्य की वस्तुआ को उठाना और रखना, तथा दूसरे समकक्षी अभिनता की ओर बढना या उससे पीछे हटना—ये सभी प्राय स्वाभाविक और नाटकीय नहीं होत।

अभिनताओ की गतिया और समूहन के अतिरिक्त उनके प्रवेश और प्रस्थान भी प्राय कमज़ोर और अस्वाभाविक होते हैं। अभिनेता रगमच पर इस प्रकार आते हैं जसे कि वे नाटकीय कथा की परिस्थितिया की अनिवायता के कारण नहीं, वल्कि किसी दूसर दवाव से आ गए हा। और इसी प्रकार व रगमच का छोडकर एसे चले जाते हैं जसे कि वे केवल अपने सवाद बोलने ही आय थे और उनका आना पूरी नाटकीय कथा स किसी प्रकार सम्बन्धित नहीं है। प्राय बडी गभीर नाटकीय स्थितिया मे पात्रा क प्रवेश और प्रस्थान कमज़ोर और अस्वाभाविक लगत हैं और उनस प्रदशन की सारी शक्ति खण्डित हो जाती है।

अभिनय के सम्बन्ध म एक बात यह है कि हमारे अभिनेता सवाद निवदन के विरामा और मौन रहने की स्थितिया का पूरा पूरा लाभ नही उठात। वे शायद

यह सोचते हैं कि रगमच पर उनकी उपयोगिता इसी बात म है कि वे या तो बरा बर बोलत रह या मुद्राओ का प्रदशन करते हुए बराबर चलते रह। अनेक स्थि तियो मे हमारे अभिनेता विराम और मौन द्वारा ऐसी गभीर अथ व्यजनाएँ नही दे पाते जैसी कि कभी कभी सवादो द्वारा भी नही दी जा सकती।

अभिनय मे विराम और मौन की सभावनाओ का पूरा पूरा लाभ न उठान की जिम्मेदारी अभिनेता के अतिरिक्त निर्देशक और नाटककार पर भी है। कभी-कभी नाटककार पात्रा को ऐसी स्थितिया मे नाटकीय सवाद दे दते हैं, जबकि शायद बहुत लम्बे नाटकीय सवाद की अपेक्षा विराम अथवा मौन का अथ और प्रभाव कही अधिक हो सकता है। और निर्देशक नाटका के कुछ एसे आवश्यक सवादा का छोडकर अभिनेताओ के लिए विराम और मौन की सभावनाएँ नही तैयार करते।

निर्देशन

पिछले एक दशक मे रगमच मे निर्देशक का स्थान बहुत महत्त्वपूण हो गया है, और धीरे धीर विदशो के समान वही प्रदशन मे प्रधान पद ग्रहण करता जा रहा है। किन्तु नाटककार और अभिनताआ के साथ निर्देशक के सम्बन्धो का स्वरूप अभी तक ठीक-ठीक निर्धारित नही हो सका। ऐसा लगता है कि अभी तक निर्देशक के प्रयोजना और कार्यों के सम्बन्ध मे हमारी धारणाएँ निश्चित नही हो सकी, और जैस कि स्वय निर्देशक नाटय प्रदशन मे अपने महत्त्वपूण स्थान के प्रति अभी तक पूरी तरह सजग नही हुआ। हमारे निर्देशको का नाटक के साहित्यिक पक्ष का कला बोध भी प्राय ऊँचे स्तर का नही होता, और व नाटक की स्थितिया, व्यापारा और पात्रो को रगमच के अनुरूप नये दश्य चित्रो मे उतारन म असमथ रहते हैं।

निर्देशक इस सम्बन्ध म ठीक-ठीक निणय नही कर पात कि नाटक की किन स्थितिया पर अधिक ज़ोर देना है और उनको उभारना है तथा किन स्थितिया का चित्रण सहज रूप मे करना है। नाटककारो के समान वे भी नाटक की गौण स्थितियो और 'टाइप' पात्रो पर अधिक ज़ोर देन हैं जिससे कि प्रदशन मे प्रहसन मूलक प्रभाव आ सकें। वे नाटका म इस प्रकार के छोट मोटे परिवतन भी नही कर पाते कि नाटक रगमच पर अधिक प्रभावशाली हो जाय और उसकी दश्यता बढ जाय।

एक दोष नाट्य प्रदर्शनों में यह रहता है कि पूरे प्रदर्शन में एक शिथिलता और असम्बद्धता रहती है, क्योंकि प्रदर्शन के विविध तत्त्वों और पक्षों को किसी एक निश्चित योजना अथवा शैली के अन्तर्गत संघटित नहीं किया जाता। नाटकों की गति भी प्रायः दोषपूर्ण रहती है। अधिकांश प्रदर्शनों में गति बहुत ही मद्धिम रखी जाती है, जिससे दर्शक की रुचि घटने लगती है। गति बिना किसी वास्तविक कारण के एक अंक में दूसरे अंक में अनावश्यक ही बदलती रहती है।

आज हिन्दी रंगमंच के अनेक अभावों में शायद सबसे बड़ा अभाव यही है कि हिन्दी रंगमंच को कोई बड़ा प्रतिभाशाली निर्देशक अभी तक नहीं मिला। और यही कारण है कि आज तक प्रसाद के नाटकों के सफल प्रदर्शन नहीं हो सके और इस विवाद का अन्त नहीं हो सका कि प्रसाद के नाटक अभिनेय है या नहीं। कुशल निर्देशक के अभाव में ही आज तक हम भारतेन्दु और उनके युग के समस्त श्रेष्ठ नाटक साहित्य को अपनी रंगमंच परंपरा का अंग नहीं बना सके। कुछ अन्य भारतीय भाषाओं, जैसे बंगला और मराठी के रंगमंच की समृद्धि का बहुत बड़ा कारण यह है कि उन्हें कुशल निर्देशक मिले हुए हैं तथा उनके पास निश्चित और संगठित दर्शक समाज है।

यह हर्ष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों में कलकत्ता की 'अनामिका' संस्था के निर्देशक श्यामानंद जालान और प्रयाग के 'नाट्य-केन्द्र' के निर्देशक डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल ने इस क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। जालान के 'नये हाथ' और 'आषाढ़ का एक दिन' के प्रदर्शन उच्चकोटि के है। दिल्ली में हबीब तनवीर ने कुछ पुराने पारसी नाटकों और संस्कृत नाटकों के हिन्दी अनुवादों के कुछ रोचक प्रयोगात्मक प्रदर्शन किये हैं। इधर कुछ वर्षों से अंग्रेजी नाटकों के प्रसिद्ध निर्देशक, श्री अलकाजी, जो इस समय दिल्ली के 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' के निर्देशक हैं, हिन्दी नाटकों के प्रदर्शन की ओर झुके हैं। उन्होंने 'आषाढ़ का एक दिन' और 'अन्धा युग' के बड़े ही सशक्त प्रदर्शन किये हैं। 'अंधा युग' का प्रदर्शन तो हिन्दी रंगमंच की सबसे बड़ी उपलब्धि है और उसने उसको इन प्रदर्शनों द्वारा हिन्दी में पहली बार प्रदर्शन की एक सशक्त कलात्मक शैली के विकास का आश्वासन हो रहा है और वह जड़ और घुटनभरी यथार्थवादिता से मुक्त हो रहा है।

उपन्यास

रणवीर रांग्रा

जीवन और जगत के समान उपन्यास भी उत्तरोत्तर बहुमुखी एवं जटिल होता गया है। मानव की परिस्थितियों के साथ उसकी मनोवृत्तियों का संघर्ष दिखा देने से ही आज के उपन्यासकार का काम नहीं चलता। निरंतर बदलते हुए बाहरी और भीतरी परिवेश में प्राप्त अनुभवों के फलस्वरूप इस संघर्ष में जो रूपांतर घटित होता है, उपन्यासकार को उसे भी चित्रित करना होता है। उपन्यास आज मानव की अपनी परिस्थितियों के साथ उसके संबंध की, अपने परिपार्श्व के प्रति उसके दृष्टिकोण के उत्तरोत्तर विकास की, अभिव्यक्ति बन गया है। हिन्दी उपन्यास इस प्रक्रिया का अपवाद नहीं।

देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता तो बहुत बाद में मिली, पर हिन्दी का साहित्यकार उससे डेढ़ दो दशक पहले ही अपनी मानसिक मुक्ति की घोषणा कर चुका था। समाज को सब कुछ मानकर चलने वाली द्विवेदी कालीन प्रवृत्ति के विरुद्ध उसने विद्रोह का झंडा गाड़ दिया था और बड़ी निर्भयता से उस पर प्रहार करने लगा था। समाज की अंध परंपराओं, उसके कृत्रिम मूल्यों और निरर्थक मान मर्यादाओं से व्यक्ति की आत्मा को मुक्त कराने के लिए वह जी जान से जुट गया था। धर्म के पाप पुण्य, समाज के विधि निषेध तथा राजनीति के भय प्रलोभन से ऊपर उठकर वह साहित्य सृजन के माध्यम से व्यक्ति मन की खोज में व्यक्ति मानस की गहराइयों में उतरने लगा था। सामाजिक स्वार्थों का बंधकर उस समय व्यक्ति की आत्मा एक ओर हिन्दी कविता में छायावाद की अजस्र धारा बन फूट निकली तो दूसरी ओर कथा साहित्य में जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' ने सामाजिक मूल्यों की कृत्रिमता पर करारी चोट की। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' में इन मूल्यों की गहरी खुदाई करके मूल नैतिकता की खोज शुरू हुई। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' तक पहुँचते पहुँचते तो साहित्यकार सामाजिक नैतिकता से भी ऊपर उठकर विज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के सहारे मानव मन में कार्य-कारण के सूत्र ढूँढ़ने लग गया था।

हिन्दी के साहित्यकार की मानस मुक्ति की यह यात्रा जितनी साहसिक थी उतनी ही उद्बोधक भी। समाज पर से साहित्यकार का जो विश्वास उठ गया था उसका यह अर्थ नहीं कि वह जीवन के प्रति भी आस्था खो बैठा था, बल्कि जीवन

में उसकी आस्था बढ गई थी और वह व्यक्ति की शक्ति को पहचानने लगा था। उसे विश्वास हो गया था कि व्यक्ति समाज की मूलभूत इकाई है, समाज का उत्थान और पतन, विकास और ह्रास व्यक्ति निरपेक्ष नही हो सकता। समाज का सत्य पाना हो, जीवन की थाह लेनी हो, तो व्यक्ति के सत्य को पाना होगा, सामाजिक विकृतियों का निदान भी व्यक्ति मानस मे ढूढना होगा। समाज को सुधारने की बात उसके लिए निरर्थक हो गई थी। व्यक्ति के परिष्कार मे भी उस रुचि नही रही थी, क्योकि वह मानता था कि व्यक्ति अपने को समझने लगे, अपनी प्रकृति विकृति को पहचानने लगे तो उतना ही बहुत है।

इस प्रकार, साहित्यकार की आस्था समाज से हटकर व्यक्ति मे स्थापित हो गई और उसका लिखना अपने को पाने की ओर प्रवत्त हुआ। लिखना उसके लिए एक मजबूरी बन गया, लिखे बिना उसे कल नही पडती थी। रचना प्रक्रिया म अपनी आत्मा के साक्षात्कार से उसे जो सतुष्टि मिलती थी, वही उसका चरम प्राप्य था। उसकी तुलना म वह शारीरिक सुख सुविधा तथा आर्थिक प्रलोभन और पद प्रतिष्ठा को कुछ भी नही गिनता था। सत्य के प्रति उसम एक लगन थी, एक सनक थी। उसकी लगन को, उसकी सनक को, युग आदर की दृष्टि स देखता था। आदर के साथ कई बार आतक का भाव भी जुड जाता था जो साहित्यकार को अच्छा ही लगता था।

नया परिप्रेक्ष्य

सन् १९४७ मे देश स्वतन्त्र हुआ। स्वतन्त्रता हमे समझौते के रूप मे मिली और मिली भी अप्रत्याशित ही। अप्रत्याशित इसलिए कि जब तक हम अपने सिद्धान्तो पर दृढ रहे, आजादी हमसे दूर रही, पर सहसा ज्यो ही हमने अपने आदर्शो और विश्वासो के साथ समझौता करने का फसला किया, हमे तत्काल आजादी मिल गई। उस समय ऐसा लग रहा था कि यह अवसर खो दिया तो न जाने स्वतन्त्रता कब मिले और देश जो शताब्दियो से दासता की चक्की म पिस रहा है उसकी यातनाओ का अन्त फिर न जाने कब और कैसे हो।

इस प्रकार स्वतन्त्रता तो मिल गई, पर वह बहुत महँगी पडी। उसे पाने के लिए हमे उन सब उपलब्धियो की बलि देनी पडी जो हमने स्वाधीनता-सग्राम के दीर्घकालीन अनुशासन तप और त्याग से पाई थी। भारत की अखडता का स्वप्न बिखर गया, देश स्वतन्त्र होने से पहले ही खडित हो गया। एकता हमारे सघर्ष

की धुरी थी। देश के विभाजन से एकता की नींव हिल गई और फूट के तत्वों को बढ़ावा मिला। अहिंसा हमारा मूलमन्त्र था, पर देखते देखते हिंसा का नग्न नर्तन होने लगा और अहिंसा बेचारी असहाय खड़ी ताकती रही।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का समय इतना भयानक था कि हम उसकी ताब न ला सके। आजादी हम हार मान लेने पर मिली थी, पर हम उसे अपनी विजय मान बैठे। खंडित भारत को स्वीकार करके भी राग हम अखंडता के ही अलापते रहे, हिंसा की ओर झुककर भी नारा हम अहिंसा का लगाते रहे। इस प्रकार, आत्मप्रवंचना का युग शुरू हुआ।

आजादी के लिए राष्ट्रीय स्तर पर जो समझौता हुआ था व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर भी उसका सीधा और गहरा प्रभाव पड़ा। स्वतन्त्रता मिलते ही तप और त्याग के जीवन को विराम मिल गया—एक तरह से दोनों को व्यर्थ सिद्ध करते हुए, क्योंकि अंततः समझौता ही करना था तो इतने बलिदानों की क्या जरूरत थी। यों भी एकनिष्ठ साधना की आवश्यकता न रही थी। आजादी का लक्ष्य पूरा हो चुका था और अन्य कोई लक्ष्य सामने था नहीं। समाजवादी जीवन पद्धति की बात कानों में पड़ जरूर रही थी, पर उसमें लोगों के सामने कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता था। और फिर जनता को लगता था कि स्वतन्त्रता-संग्राम में उसने अपनी भूमिका निष्ठापूर्वक निभा दी, अब यह काम सरकार का है। लक्ष्य के अभाव में राष्ट्र की शक्ति केन्द्र-च्युत होने लगी। व्यक्ति भी समाज से कटकर अपने में सिमटने लगा। अपने हिताहित की सोचता समझता वह आत्मकेन्द्रित होता गया। धीरे धीरे व्यक्तिहित राष्ट्रहित से ऊपर उठने लगा।

देश के विभाजन के बाद अस्तित्व का संघर्ष बहुत विकट हो गया। रोटी कपड़े और मकान की समस्या इतनी कठिन हो गई कि जीवन और जगत् के अन्य सभी प्रश्न पृष्ठभूमि में चले गए। विभाजन के समय की मार-काट, लूट-मार और जबरदस्ती तथा नारी के घोर अपमान के रूप में मानव ने पशुता का जो नग्न नर्तन देखा था उससे मानवता पर से उसका विश्वास उठ गया। धर्म और नैतिकता उसके लिए महत्त्व खो बैठे। यहीं से ही मूल्यों का विघटन आरम्भ हुआ।

स्वार्थ की भावना ने जोर पकड़ा तो हम अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गए और कर्तव्य के प्रति उदासीन। परिणाम यह हुआ कि अधिकारों की

माग का स्वर जितना तेज और तीखा होता गया, अधिकार उतने ही महँगे और दुर्लभ होते गए। हमने इतिहास के इस सत्य के प्रति आँखें मूंद लीं कि अधिकार सदा कर्त्तव्य की गैल चलकर ही मिलते हैं। कर्त्तव्य की उपेक्षा करके जोर-जबर दस्ती से अधिकार पा भी लिये जायँ तो वे टिकते नहीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले हममें अपने कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा और दूसरों के अधिकार के प्रति आदर का भाव था, पर अब हर कोई अपने अधिकारों और दूसरों के कर्त्तव्यों की दुहाई देने लगा। अपने को छोड़कर बाकी सब की आलोचना में रस लेने लगा। इससे जीवन में कटुता, कुंठा और घुटन भरती गई।

देश के औद्योगीकरण का काम सरकारी स्तर पर पूरी गति से चला तो सरकार और उद्योगपतियों का, सत्ता और धन का, गठबन्धन हो गया। धन तो पहले ही मुँहजोर था। सत्ता का समर्थन मिलते ही वह अजेय हो गया। नैतिक मूल्यों का विघटन हो ही गया था, पुरातन मूल्यों का लोप हो रहा था, बदले में नए मूल्य बन नहीं रहे थे, अस्तित्व का संघर्ष विकट था ही। तब व्यक्ति को अपने त्राण का एक ही मार्ग दिखता था और वह था धन। जीवन के इस अस्तित्व-संग्राम में व्यक्ति ने दर दर की ठोकरें खाकर, घाट घाट का पानी पीकर यह अनुभव पा लिया था कि दुनिया में धन ही सब कुछ है, धन जीवन का सबसे बड़ा वरदान है और धन का अभाव है सबसे बड़ा अभिशाप। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्य अर्थ में सिमिट आए और आर्थिक मूल्य ही एक मात्र जीवन मूल्य बन गए।

२

प्रवृत्ति-विकास

आत्म प्रवंचना का यह युग, मानव मूल्यों के निर्मम विघटन और जीवन व्यापी कटुता कुंठा को लिये, अपनी सम्पूर्ण प्रकृति विकृति के साथ हिन्दी उपन्यास में प्रतिबिम्बित तो हुआ ही, उसे नया रंग, रूप और आकार भी देता रहा।

देश के विभाजन के परिणाम स्वरूप अराजकता की जो आँधी चली, निरीह प्राणियों का जो रक्तपात हुआ, उसमें साहित्यकारों का—विशेषतः उपन्यासकारों का आसन डोल गया। उनकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और वह व्यक्ति मानस की गहराइयों से उबरकर पुनः समाज में लौट आया—समाज के प्रति आक्रोश से भरकर। वह चिर तन सत्य का अन्वेषण छोड़, तात्कालिक यथार्थ की ओर उन्मुख हुआ, शाश्वत प्रश्नों को भूलकर वर्तमान समस्याओं में प्रवृत्त हुआ और

वस्तुपरक होने लगा। जो व्यक्ति निष्ठ ही रहे, वस्तु निष्ठ न हो सके, उनका लेखन रुक गया—कम से कम उपन्यास के माध्यम से तो रुक ही गया। जनेन्द्र और अज्ञेय की औपन्यासिक कृतियों में एक लम्बा अंतराल इस बात का प्रमाण है। इलाचन्द्र जोशी व्यक्ति मानस की गहराइयों से अपेक्षया जल्दी निकल आए और उन्होंने 'मुक्ति पथ' के रूप में एक संतुलित कृति दी। अमृतलाल नागर जैसे अनेक उपन्यासकार समय की नब्ज पहचानते हुए व्यक्ति पर समाज के नृशंस अत्याचारों के विरुद्ध कटिबद्ध हो गए और उन्होंने 'बूँद और समुद्र' आदि कृतियों में व्यक्ति और समाज के अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध का चित्रण करते हुए दोनों के सामंजस्य पर बल दिया है। उनके अलावा कविता और नाटक की सीमाओं को लांघकर उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि कई और लेखक भी सामाजिक उपन्यास की धारा में आ मिले।

यशपाल ने—कुछ देर से ही सही—अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'झूठा सच' में विभाजन की विभीषिका और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज और संस्कृति की दुःखद परिणति का निर्मम एवं सांगोपांग चित्रण किया। यशपाल के अतिरिक्त, नए परिप्रेक्ष्य में मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर रांगेय राघव, नागार्जुन, अमृतराय, राजेन्द्र यादव आदि अनेक नई प्रतिभाएँ भी उपन्यास के क्षेत्र में आईं, जिनसे समाजवादी धारा में फिर से जान आ गई। इस बीच एक और उल्लेखनीय घटना हुई। विभाजन की हृदय विदारक परिस्थितियां झेलते समय साहित्यकार के भीतर जो मानस मंथन हुआ उसके परिणामस्वरूप उसकी सैद्धान्तिक कट्टरता के तीखे कोने उत्तरोत्तर घिसते गए और जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण अधिक संयत एवं व्यावहारिक होता गया। यशपाल का परवर्ती लेखन और इस धारा की अन्य कृतियां इसका प्रमाण हैं।

समय पाकर व्यक्ति निष्ठ उपन्यासकारों की कृतियां भी प्रकाश में आने लगीं, उदाहरणार्थ—'सुखदा', 'नदी के द्वीप', 'जयवर्धन' आदि। उनके माध्यम से वे व्यक्ति मानस की गहराइयां नापते हुए मानव की चिरंतन समस्याओं से जूझने लगे, पर ये कृतियां उनकी पहली रचनाओं जितनी दुरूह न रही थीं, उन्हें समझने के लिए बहुत अधिक आयास की अपेक्षा न रही थी। जनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी अज्ञेय आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों के साथ अब डा० देवराज, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे आदि भी आ मिले थे।

साहित्यकार पर वर्तमान की जकड़ इतनी मजबूत होती जा रही थी कि

अतीत मे विचरने वाले ऐतिहासिक उपन्यास के प्रति विशेष उत्साह न रहा। फिर भी चतुरसेनशास्त्री की 'वशाली की नगरवधू', व दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी', यशपाल की 'अमिता' आदि सशक्त रचनाओ के रूप म नए प्रयोग बरबस पाठको का ध्यान आकृष्ट करते रहे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब देश की एकाग्रता भग हुई, एकता की अपेक्षा अनेकता की प्रवृत्ति बढी और हर किसी का ध्यान अपने प्रदेश, जाति वग, धम सस्कृति पर आ टिका, तब हिन्दी साहित्य मे आचलिक उपन्यास का उदय हुआ, जिसका चरमोद्देश्य था—किसी विशेष अचल अथवा प्रदेश को लेकर उसके जन जीवन का यथाथ एव वनानिक चित्र प्रस्तुत करना। नागाजुन ने अपने उपन्यास 'बलचनमा' से शुरुआत की तो फणीश्वरनाथ रेणु 'मला आचल' और 'परती परि कथा' की रचना द्वारा उसे विकास की ओर ले बढे। शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', भैरवप्रसाद गुप्त, शलेश मटियानी आदि कई और उपन्यासकार भी उनके साथ आ मिले।

स्वतन्त्र भारत म नर नारी के सम्बन्धो ने भी नया मोड लिया। विवाह ने अब धार्मिक अनुष्ठान न रहकर स्त्री पुरुष मे बराबरी के स्तर पर होने वाले सम झौते का रूप धारण कर लिया। देश के विभाजन की आँधी मे नारी को जो झेलना पडा था उसने उसकी आखें खोल दी थी। उसने अच्छी तरह देख लिया था कि व्यक्ति और समाज की विकृतियो का सबसे अधिक शिकार उसे ही बनना पडता है। अत अपने परिपाश्व के प्रति अब वह सजग हो गई और जीवन के प्रत्यक क्षेत्र मे पुरुष के साथ कधे से कधा भिडाकर—मिलाकर नही—चलने की माग करने लगी। सभ्यता ने उसकी स्वतन्त्रता को स्वीकारा। कानून ने उसे बराबरी का हक दिया। आधुनिक शिक्षा दीक्षा ने उसमे स्वाभिमान का भाव भरा। पर इन सबको वह अपने व्यक्तित्व म खपा न पाई। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने नारी की शारीरिक बडियो तो काट दी, पर उसके भीतर गहरे जमे सदियो की दासता क सस्कार उसकी आत्मा को जकडे रहे और वह लाख छटपटाने पर भी उनसे मुक्त न हो पा रही थी। सस्कारो मे वह प्राचीना ही रही, पर आधुनिकता को उसन फशन के रूप मे ओढ लिया। इस प्रकार, द्वत ने उसके व्यक्तित्व को खडित कर दिया।

नारी के इस द्वत ने साहित्यकार को आकृष्ट किया। इलाचन्द्र जोशी क 'सुबह के भूले', उदयशकर भट्ट के 'सागर, लहरें और मनुष्य' और 'डा० शेफाली',

जैनेन्द्र के 'सुखदा' और 'विवर्त', माचवे के 'द्वाभा' आदि उपन्यासों ने इस विषय को गहराई से लिया। समाज सेक्स और अर्थ की सम्मिलित विकृतियाँ नारी का शोषण करके उसे कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है, इसका चित्रण यशपाल के 'मनुष्य के रूप' और भगवती बाबू के 'आखिरी दाँव' में हुआ। देश के विभाजन की पृष्ठ-भूमि में नारी के भीषण शोषण, और फिर नवजागरण का सांगोपांग चित्रण यश-पाल ने अपने वृहद् उपन्यास 'झूठा सच' में किया। गृहस्थी पर बढ़ता हुआ आर्थिक बोझ, स्वतन्त्रता की कामना और नागरिक जीवन की चकाचौंध आदि मिलकर नारी को नौकरी के क्षेत्र में ले आए। पर गृहस्थी की जिम्मेदारी उसकी ज्यों की त्यों बनी रही और यह एक अतिरिक्त दायित्व उस पर आ पड़ा। पहले उसका शोषण घर में होता था अब बाहर भी होने लगा, यद्यपि अब वह उतनी निरीह न रही थी। पर जो पूरी ईमानदारी से दोनों ही दायित्व निभाना चाहती थी वह दो पाटों के बीच पिसने लगी। नौकरी पेशा नारी की समस्याओं को लेकर रजनी पनिकर, उषा प्रियम्वदा, मीरा महादेवन आदि कई लेखिकाएँ भी उपन्यास के क्षेत्र में आईं।

साहित्य के संदर्भ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है साहित्य-सृजन का 'वाङ्मय तप' के आकाश से उतरकर व्यवसाय की कठोर धरती पर आ टिकना और इस आधार को दृढ़ता से पकड़ लेना। जब धन ही शील, शक्ति और सौंदर्य से लेकर ज्ञान, विज्ञान और प्रतिभा सब कुछ का प्रतीक बन बैठा, तब साहित्यकार धन के भाव-अभाव से ऊपर उठकर कोरे यश के सहारे लेखनी चलाता रहता, यह कैसे हो सकता था? साहित्य सृजन व्यवसाय बना तो व्यवसाय के सभी नियम उस पर लागू हुए। व्यवसाय को बढ़ाने के लिए साहित्य-कार को कई बार ऐसे हथकंडे भी अपनाने पड़े जिनका साहित्य से दूर का भी सम्बन्ध न था। माँग और पूर्ति का चक्र चला तो साहित्यकार को 'आर्डर' पर भी माल तैयार करना पड़ा और ऐसा माल तैयार करना पड़ा जो कम से कम समय में अधिक से अधिक मात्रा में निकले और आकर्षक भी हो। इससे साहित्य में ऋजुता तो आई पर उसके साथ सस्तापन भी आया। मौलिकता और फैशन के फेर में नए नए टक्नीकों का प्रयोग किया गया। गहन अनुभूति की कमी ने टक-नीक का मोह और भी बढ़ा दिया। इससे उपन्यास का शिल्प विकास तेजी से होने लगा और उसकी शिल्पगत उपलब्धियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गईं।

अब हम हिंदी उपन्यास की मुख्य प्रवृत्तियाँ—सामाजिक, समाजवादी, मनो

धनात्मक, ऐतिहासिक और आंचलिक उपन्यास—के प्रमुख उपन्यासकारों और उनकी रचनाओं का संक्षिप्त विवेचन विश्लेषण प्रस्तुत करेंगे।

सामाजिक उपन्यास

सामाजिक उद्देश्य को लेकर उपन्यास रचने की प्रेमचन्द परम्परा अभी सूखी नहीं थी, बल्कि देश के विभाजन के समय की भयंकर अराजकता ने लेखक को अपने परिपार्श्व के प्रति और भी सजग कर दिया। उसकी अन्तर्मुखता भंग हो गई और वह सामाजिक उद्देश्य को लेकर नए जोश में लिखने लगा। पर अब उसका बल सामाजिक विघटन के फलस्वरूप व्यक्ति और समाज के बीच की दिनादिन बढ़ती हुई खाई को पाटने पर था। वह स्पष्ट देख रहा था कि परिणाम की चिन्ता छोड़, व्यक्ति समाज के जुए को उतार फेंकने के लिए कटिबद्ध हो गया है, जो दोनों के लिए अनिष्टकर है। इसलिए अपनी कृतियों के माध्यम से उपन्यासकार व्यक्ति और समाज के सामंजस्य की ओर बढ़ा। एक ओर उसने पुरातन मूल्यों, जर्जर परंपराओं और व्यर्थ के विधि निषेधों के कारण जीवन के सभी क्षेत्रों में पिस रहे व्यक्ति, विशेषत नारी, की दुर्दशा का करुण चित्र उभारा और समाज को उसकी स्वार्थांधता के लिए फटकारा, तथा दूसरी ओर व्यक्ति के हर किसी से कटकर आत्मकेन्द्रित होते जाने के कुपरिणामों का चित्रण किया। इन उपन्यासकारों का दृष्टिकोण मूलत मानवतावादी रहा है। वे व्यक्ति के भीतर के मानव को जगाकर, उसे व्यक्तिगत हानि-लाभ से ऊपर उठाकर समष्टि के हित चिन्तन में प्रवृत्त करना चाहते थे। वे कोई पूर्वाग्रह या पूर्व निश्चित सिद्धान्त लेकर नहीं चले थे, न ही वे किसी विशेष प्रकार के समाजवाद के समर्थक थे। उनकी रचनाओं में हर प्रकार की संकीर्णता पर कसकर प्रहार हुए और मानवोचित उदारता को प्रश्रय मिला।

इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ ये हैं

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्द की परम्परा के उपन्यासकार माने जाते हैं। वे उपन्यास को कहानी का विकसित रूप मानते हैं और यह अनिवार्य समझते हैं कि उसका आधार एक पुष्ट और सुन्दर कहानी हो। वर्मा जी के उपन्यासों में निहित सामाजिक उद्देश्य और पुष्ट कथानक दोनों के कारण उन्हें 'प्रेमचन्द का संशोधित

संस्करण भी कहा गया है।

'आखिरी दाँव' वर्मा जी का स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद का उल्लेखनीय उपन्यास है। उसकी समस्या है—धन के पिशाच द्वारा उत्पन्न विकृति। उपन्यास का नायक रामेश्वर धनी बनने की चेष्टा में अपनी समस्त नकदी तथा चल और अचल सम्पत्ति जुए में हारकर गाँव छोड़ने के लिए विवश हो जाता है। नायिका चमेली अपने धन और यौवन दोनों पर आँख रखने वाले रतनू के झाँसे में आकर, घर से गहने कपड़े-नकदी चुराकर, उसके साथ बम्बई भाग जाती है। वहाँ रतनू उसका माल चट करके उससे वेश्या-वृत्ति कराना चाहता है और वह वहाँ से जान छुड़ाने के प्रयत्न में पुलिस के चक्कर में पड़ जाती है, वहाँ से रामेश्वर उसे पहचानकर छुड़ा लाता है और दोनों का जीवन एक दम्पति के रूप में आरम्भ होता है। दोनों कुछ देर अपनी मेहनत की कमाई से पेट भरकर निश्चिन्त और स्नेहपूर्ण जीवन बिताते हैं, पर इसी बीच लेखक सेठ शिवकुमार और शीतलप्रसाद के रूप में धन के पिशाचों का निर्माण कर देता है, जिन्हें चमेली रामेश्वर को बचाने के लिए पहले अपना शरीर और बाद में आत्मा भी बेचने के लिए विवश हो जाती है। एक बार जब वे दोनों एक दूसरे को बचाने के प्रयत्न में धन के पिशाच के हत्थे चढ़ गए तो लाख ज़ोर मारने पर भी उसके चंगुल से छुटकारा न पा सके।

शैली के मुक्त प्रवाह के कारण इस उपन्यास में पाठकों को पकड़े रखने की क्षमता तो है, पर पात्रों के चरित्र विकास में अनेक असंगतियाँ रह गई हैं। वही चमेली जिसने एक रात पहले सेठ शीतलप्रसाद को जली कटी सुनाकर उसे अपने घर से बाहर निकाल दिया था "तुम प्रेम की बात मत करो—वासना के कीड़े। तुम क्या जानो कि प्रेम क्या होता है—यह रुपया पाने के लिए तुम अपनी आत्मा तक धन के पिशाच के हाथ बेच चुके हो। तुम घृणित हो, तुम नीच हो, तुम शैतान हो' अगले दिन सेठ शिवकुमार के सुझाव देने पर उसे स्टूडियो में निमन्त्रित करने के लिए तैयार हो जाती है। इन दोनों परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाओं में संगति बठाने के लिए लेखक कहता है कि उस रात रामेश्वर के उसे छोड़कर चले जाने के बाद वह आपे में न थी और इसलिए यह न समझ पाती थी कि किस आदमी से क्या बात कहनी चाहिए। पर अगले दिन 'सवेरे जब वह सोकर उठी, वह काफी स्वस्थ हो गई थी। उसकी स्मृति में यह घटना एक दुःस्वप्न मात्र थी। पर क्या रात वाली घटना इतने कम महत्त्व की थी कि सवेरे तक उसके मन पर से उसका समस्त प्रभाव जाता रहा होगा?' अपने जीवन की असंगतियों को

परपरागत रूढियो से उसे कोई वास्ता नही। पिछली दो पीढियों द्वारा त्याग और तपस्या से पाली पोसी सयुक्त परिवार-व्यवस्था को वह एक ही झटके म काट देता है। यौन नैतिकता का उसके निकट कोई मूल्य नही। इस क्षेत्र म वह बन्धन मुक्त आनन्दवादी दृष्टिकोण अपनाता है। गगाप्रसाद के चरित्र मे लेखक ने उच्च-वग की नतिक उच्छ खलता को उभारा है। चौथी पीढी तक पहुचते पहुँचते यह राजभक्त घराना राजद्रोह म प्रवृत्त हो जाता है। ज्ञानप्रकाश दो पीढियो के बीच की कडी है जो स्वतन्त्रता के प्रति भारतीय चेतना को विदशी शासन के प्रति विद्रोह म विकसित कर दता है। उसके पुत्र नवलकिशोर मे दश के लिए वहद तडप है और दश को दासता से मुक्त करवाने के लिए वह हर प्रकार के त्याग को उद्यत है। जिस राजभक्त ज्वालाप्रसाद और उसके पिता मुशी शिवलाल के निकट जेल जाना घोर अपराध था, उन्हीका प्रपौत्र जेल यात्रा को अपने जीवन की सिद्धि समझता है। स्वतन्त्रता की यह चेतना जगाने के साथ ही 'भूले बिसरे चित्र' की कहानी समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार 'भूले बिसरे चित्र' चार पीढियो के चित्रण द्वारा भारतीय समाज और राजनीति के पिछले पचास वष का इतिहास प्रस्तुत करता है। प्रेमचन्द के बाद बदलते हुए समाज को, बदलते हुए जीवन मूल्यो को, पकडने का यह पहला और स्तुत्य प्रयास है। पर उपन्यास के रूप मे यह रचना पुष्ट नही कही जा सकती। उपन्यास मे चार पीढियो की, चार युगो की, अलग अलग कहानी है और प्रत्येक का अलग अलग नायक है। इसलिए उपन्यास का कथानक बिखर गया है और पूरी रचना मे अन्विति नही आ पाई। छिनकी, ज्वालाप्रसाद, ज्ञान-प्रकाश आदि अनेक जीवन्त पात्रो के बावजूद उपन्यास का सामूहिक प्रभाव अमिट नही रहता।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

भगवतीप्रसाद वाजपेयी उन उपन्यासकारो मे से हैं जो किसी आदश या विचारधारा से बँधकर नही चले। प्रेमचन्द की तरह उन्होने भी व्यापक सामाजिक पृष्ठभूमि को अपनाया है। उनके पात्र समाज से कटे कटे नही रहते, पर वे समाज के होकर उसम पूरी तरह खो भी नही पाते। समाज मे रहकर ही वे व्यक्ति की मान्यता और स्वतन्त्रता के लिए लडते हैं, समाज की रूढ परम्पराओ और पुरातन मूल्यो के प्रति विद्रोह करते है। मध्यवग के मन मे पैठकर वाजपेयी ने प्रेम

और विवाह की समस्या को उठाते हुए उस वर्ग की कुठाओं और आकांक्षाओं का चित्रण किया है। *यही दो समस्याएँ ऐसी है जहां व्यक्ति की समाज से सीधी टक्कर* हो जाती है। वाजपेयी का कथन है कि "मैं सत्य की सुंदरता का पुजारी हूँ। पुरुष और स्त्री मे परस्पर आकर्षण ही प्रेम के स्वरूप को निर्धारित करता है। प्रेम कभी विकृत नही होता, वह सदैव एकरस रहता है।"

वाजपेयी के स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के उपन्यासो मे 'चलते चलते' और 'विश्वास का बल' विशेष उल्लेखनीय हैं। उनकी मुख्य समस्या भी प्रेम और विवाह मे वैमनस्य है। ये दोनो रचनाएँ जिस निष्कर्ष तक पहुँचती हैं उसे 'विश्वास के बल' की वन्दना के शब्दो मे यो रखा जा सकता है 'हर विवाहिता नारी विवश प्यार देती है, हर विवाहित पुरुष विवश प्यार ही पाता है निर्मल प्यार केवल वह नारी दे सकती है जो प्रेयसी हो।' इसलिए दोनो रचनाओ मे नर-नारी के विवाहेतर सम्बन्धो, परस्पर आकर्षण विकर्षण और कामासक्ति की प्रभुता है। जीवन की राह मे चलते चलते 'चलते चलते' के नायक राजेन्द्र के रास्ते मे अनेक अतृप्त नारियाँ आई—छोटी भाभी जो विवाहित है, लाजो जो विधवा है, अचला जो परित्यक्ता है मन की चचल हीरा, अभावग्रस्त जमना और वनमाली। वह किसी से बचकर नही चलता। जहाँ तक जिसका सग रहता है वह उसे भोगता है—अनासक्त भाव से। आसक्त वह केवल छोटी भाभी मे है जिसको भाई मरते समय अपने आप उसे सौंप जाता है। राजेन्द्र की बडी भाभी का रामलाल से प्यार है। उसने अपने पति को दूसरी शादी कराने का इसीलिए आग्रह किया था कि वह रामलाल के लिए मुक्त हो जायगी। इसी प्रकार, परिस्थितियो का लाभ उठाकर राजेन्द्र का पिता भी पूरे परिवार की उपेक्षा करके अपनी प्रेयसी के साथ दूर जाकर घर बसा लेता है। 'विश्वास का बल' का भवानी बाबू छोटी साली रमा से प्यार करता है और उसीके पीछे अपनी गृहस्थी को बरबाद कर लेता है। बाद मे रमा का राजीव से विवाह होता है पर उन दोनो की अधिक नही पटती और वे दोनों औरो के लिए मुक्त हो जाते है। अत मे भवानी बाबू फिर दोनो का मेल करा देता है।

इन रचनाओ मे भावुकता और कामुकता का, या कहे सस्ते रोमास का, बोलबाला रहता है। वाजपेयी कहते हैं 'प्रेम विकृत नही होता', पर इन उपन्यासो मे वह विकृति को प्राप्त हो जाता है। पात्र सामाजिक मर्यादा तोड रूढ विधि-निषेधो की अवज्ञा करके परपुरुष परस्त्री मे आसक्त तो रहते हैं, पर वे खुलकर

समाज से टक्कर नहीं लेते, उससे लुक्त छिपते ही अपना प्रेम प्रसंग चलाते रहते हैं। इसस विकृति अपने आप ही आ घुसती है। उनमे अपराध भावना भर जाती है और वे रोते भींकते, सडते कुढते अपना जीवन काट देते हैं। लेखक चाहता तो उनसे समाज के प्रति खुला विद्रोह करवा देता, भले ही वे उस टक्कर में नष्ट हो जाते, या फिर गहरे मानसिक स्तर पर उनकी कुठाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण करता। पर उसने दोनों में से एक भी दिशा नहीं पकडी।

उपेन्द्रनाथ अश्क

उपन्यासकार के रूप में उपेन्द्रनाथ अश्क की ख्याति मुख्यत 'गिरती दीवारें' के कारण है जिसमे उन्होंने नायक चेतन के रूप में निम्न मध्यवर्ग के युवक के जीवन व्यापी संघर्ष का चित्रण किया है। प्रेमचन्द के बाद कुछ लेखक तो सेक्स सम्बन्धी कुठाओं की खोज में मानव मन की अतल गहराइयों में खो गए और कुछ समाजवादी दर्शन के आधार पर उसकी प्रत्येक समस्या का निदान बाह्य परिवेश में मुख्यत आर्थिक विषमताओं में, ढूढने लगे। अश्क ने अपनी रचनाओं में अर्थ और सेक्स दोनों का ताना बाना बुनकर निम्नमध्यवर्ग के जीवन की प्रकृति विकृति का चित्रण करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया कि उस वर्ग का युवक किस प्रकार इन दो पाटों के बीच पिसता चला जाता है और उसके चरित्र का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध होकर नाना प्रकार की विकृतियों को प्राप्त होता है। युग परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक रूढियाँ और परम्पराओं की दीवारों के गिरते जाने से व्यक्ति को अपनी बेबसी का एहसास इतनी तीव्रता से हो रहा है कि उसके लिए जीवन असह्य हो उठा है। व्यक्ति की चेतना उसके लिए अभिशाप बन गई है। 'गिरती दीवारें' के चेतन की तरह 'गर्म राख' का जगमोहन और 'बडी बडी आखें' का संगीत इसी बेबसी के शिकार हैं। 'गिरती दीवारें' की नीला की तरह इसी उदासी और निराशा से घिरी हैं 'गर्म राख' की सत्या और 'बडी-बडी आखें' की वाणी। 'गर्म राख' का उपन्यासत्व 'गिरती दीवारें' की अपेक्षा पुष्ट है 'गिरती दीवारें' में बिखराव अधिक है। पर गर्म राख में प्रेम का वही पुराना त्रिकोण है—सत्या जगमोहन को चाहती है, जगमोहन दुरो को चाहता है और दुरो हरीश को चाहती है और हरीश है अहनिष्ठ।

अश्क के पात्र ढुलमुल हैं, पग पग पर वे जीवन से समझौता करते चले जाते हैं। पर एक सीमा तक ही। अश्क की यह धारणा उनके जीवन में रम गई है

"समझौता जीवन की शर्त सही, पर जीवन में कुछ तो ऐसा हो जहाँ आदमी किसी से समझौता न कर सके।" अपने भीतर तक वे समझौता नहीं कर पाते। इसीलिए वे जीवन भर घुलते रहते हैं। समाज से टक्कर लेने का दम उनमें है नहीं। संघर्ष की आग में एक एक करके उनके सभी अरमान भस्म हो जाते हैं। पर उनकी व्यक्ति चेतना अरमानों की राख का गम लिए रखती है, उसे ठंडी नहीं होने देती। 'बड़ी बड़ी आँखें' में व्यक्ति चेतना की यही उष्णता नायक संगीत में प्राण फूंक सकती थी। उसे लगता है "वाणी की उन बड़ी बड़ी आँखों का—उन गहरी भोली आँखों का प्रताप था जो सदा कुछ अजीब सी श्रद्धा से मुझे देखती थीं। हर प्रेम के तल में कहीं जरूर वासना की हल्की धारा होती है, लेकिन ऐसा प्रेम भी है जो गिराता नहीं, उठाता है।" पर न जाने क्यों लेखक नायक नायिका के इस स्वस्थ प्रेम को विकसित नहीं होने देता।

अमृतलाल नागर

सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखने वाले उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का अपना स्थान है। प्रेमचन्द की तरह वे भी समाज के प्रति व्यक्ति के दायित्व पर बल देते हैं, पर व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकारते हुए ही वे व्यक्ति और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मानते हैं। उनकी धारणा है कि समाज के संगठन में व्यक्ति का हित निहित है और व्यक्ति के स्वस्थ विकास में ही समाज का कल्याण है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद नागर जी के चार उपन्यास निकल चुके हैं—'सेठ बांकेमल', 'बूंद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे' और 'सुहाग के नूपुर'। पर 'बूंद और समुद्र' तथा 'सुहाग के नूपुर' उनकी विशेष रूप से उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'सेठ बांकेमल' में दो मित्रों के जीवन के कड़वे मीठे अनुभवों के सहारे समाज में हो रहे अत्याचार पर व्यंग्य कसा गया है और नायक के चरित्र विकास के माध्यम से रूढ़ नैतिक मूल्यों पर निर्मम प्रहार किया गया है। 'शतरंज के मोहरे' और 'सुहाग के नूपुर' की चर्चा ऐतिहासिक उपन्यास में की जायगी।

'बूंद और समुद्र' में नागर ने मध्यवर्गीय नागरिक जीवन का आधार बनाकर व्यक्ति और समाज के सामंजस्य पर बल दिया है। उपन्यास में बूंद प्रतीक है व्यक्ति का और समुद्र समष्टि यानी समाज का। समाज-व्यवस्था में व्यक्ति के महत्व को स्वीकारते हुए लेखक समाज के विघटन की समस्या को इन शब्दों में प्रस्तुत करता है "हर बूंद का महत्व है, क्योंकि वही तो अनन्त सागर है, एक बूंद

भी व्यर्थ क्यों जाय, उसका सदुपयोग करो। पर कैसे हो यह सदुपयोग? कैसे वह बूँद अपने को महासागर अनुभव करे? इस विशाल जन सागर में वह नितान्त अकेली है।" हर व्यक्ति ने अपने चारों ओर संकीर्ण स्वार्थों की दीवारें खड़ी कर ली हैं और वह बाकी सबसे कटकर अकेला रह गया है। ऐसी स्थिति में समाज का सगठन क्योंकर हो और सामाजिक जीवन कैसे चले? उपन्यास में इसका समाधान यों मिलता है "मनुष्य का आत्म विश्वास जागना चाहिए। उसके जीवन में आस्था जागनी चाहिए।" तभी वह दूसरे के सुख दुःख में अपना सुख दुःख मान सकेगा और उसमें परस्पर अटूट सम्बन्ध हो जायगा। ठीक वैसे ही "जैसे बूँद से बूँद जुड़ी रहती—लहरों से लहरें। लहरों से समुद्र बनता है—इस तरह बूँद में समुद्र समाया है।"

उपन्यास के प्रमुख पात्र—सज्जन, वनकन्या, महिपालसिंह और कर्नल—व्यक्ति और समाज के वैमनस्य की समस्या को पूरी तीव्रता से महसूस करते हैं और पूरे जोर से व्यक्ति और समष्टि के सामंजस्य के लिए जुट जाते हैं। सज्जन राजसी सुख सम्पत्ति छोड़ जन साधारण में खो जाने के लिए एक मुहल्ले में कोठरी लेकर कला की साधना करता है। वनकन्या अपने परिवार को तिलांजलि देकर, उसे सहयोग देने आ जाती है। महिपालसिंह साहित्य के माध्यम से व्यक्ति और समाज के बीच की खाई को पाटने की चेष्टा करता है और कर्नल समाज सेवा द्वारा। पर बार बार ये लोग अपने अहं की सीमाओं में बँधकर एक दूसरे से कट जाते हैं, बार बार समाज से सिमटकर आत्मकेन्द्रित हो जाते हैं। समस्या को सुलझाने की उनकी सात्त्विक तड़प उन्हें हर बार अपनी संकीर्णता से बाहर निकाल लाती है। उनके प्रयास को सही दिशा तब मिलती है जब उनका साक्षात्कार बाबा रामजी से होता है। बाबा में मानवतावाद के दर्शन होते हैं। उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व के प्रभाव में सज्जन अहं का घेरा लाँघकर अपनी सम्पत्ति का बहुत बड़ा अंश आश्रम को दान कर देता है और वनकन्या के साथ समाज-सेवा में लग जाता है। महिपाल-सिंह को अपने भीतर की हीनभावना के कारण बहुत भटकना पड़ता है। उसके आदर्श और व्यवहार में आकाश पाताल का अन्तर आ जाता है और वह नारकीय यातनाएँ भोगता है। उसका अंत और बाबा रामजी के उपदेश लेखक के इस आशय को ध्वनित करते हैं कि व्यक्ति को अपने संकीर्ण अहं से ऊपर उठकर विराट मानव चेतना को पाना होगा, उसीमें व्यक्ति और समष्टि का हित है।

'बूँद और समुद्र' की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में की जाती है। कथ्य

की दृष्टि से निश्चय ही यह कृति ठोस है, पर अन्त तक पहुँचते पहुँचते कथाक्र शिथिल पड़ जाता है और उपन्यास बिखरने लगता है। फिर भी, हिन्दी उपन्यास को ताई जैसा पात्र, जो अपनी जटिलता में बेहद सरल और सरलता में बेहद जटिल, देने के लिए यह रचना सदा याद रहेगी। ताई के रूप में समाज के मन सागर की एक महत्त्वपूर्ण बूँद पूरी तरह व्यर्थ गई, किसी ने उसका महत्त्व नहीं जाना और न ही उसका उपयोग किया।

उदयशंकर भट्ट

कवि और नाटककार के रूप में तो भट्ट जी का स्थान अक्षुण्ण है ही, पर उपन्यास को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर इधर कुछ वर्षों में व जो 'मैंने देखा' (नया नाम 'एक नीड़ दो पंछी'), 'नए मोड़' (नया नाम—डा० शेफाली), 'शेष अशेष' 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'लोक परलोक', 'उत्तराधिकार' (नया नाम—'दो अध्याय') नाम से जो कृतियाँ दे गए हैं उनका भी अपना स्थान है। 'एक नीड़ दो पंछी' स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले का होने के कारण और 'दो अध्याय' १९६० के बाद छपने के कारण हमारी आलोचना अवधि से बाहर हैं। 'शेष अशेष' भारतीय साधुओं के जीवन पर है। साधु जीवन को अब तक किसी ने छुआ ही नहीं था, पर भट्ट जी ने उसे पूरी गम्भीरता से लिया है और उस जीवन की प्रकृति और विकृति, अच्छे और बुरे, दोनों ही पक्षों का चित्रण किया है। साधु जीवन की पोल खोलने में यह रचना जितनी सफल है उतनी उपन्यास के रूप में नहीं। अनेक साधुओं के इतिवृत्तों ने उसके कथानक को बिखेर दिया है। 'लोक परलोक' का विषय भी लगभग यही है, पर उपन्यास के रूप में वह अधिक पुष्ट रचना है। उसकी नायिका चमेली पाठकों के मन पर अपनी छाप छोड़ जाती है।

'सागर, लहरें और मनुष्य' उदयशंकर भट्ट का प्रसिद्ध और बहुचर्चित उपन्यास है जिसमें बम्बई के पास के बरसोवा गाँव की कोली नाम की मछुआ जाति का सर्वांगीण चित्रण है। इस उपन्यास की गिनती आंचलिक उपन्यासों में की जाती है, पर हमें लगता है कि इसमें बहुत कुछ ऐसा है जो इसे आंचलिकता के घेरे से निकालकर सार्वभौम बना देता है। उपन्यास की नायिका, कोली जाति की लड़की रत्ना, तो निमित्त-भर है—आज की परम महत्त्वाकांक्षिणी स्वतन्त्र नारी की भटकन के चित्रण का। ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति में पली लड़की

बम्बई में आकर निरंकुश जीवन बिताने को मचल उठती है। वह शहरी जीवन को फैशन के रूप में ओढ़ लेती है, पर संस्कारों से वह प्राचीना है। इसी द्वंद्व के कारण वह जीवन भर भटकती रहती है, पर कोलीजातिगत निर्भीकता उसे झुकने नहीं देती, वह टूट भले ही गई। उपन्यास को सुखान्त बनाकर लेखक ने उसे सस्ता मोड़ दे दिया है। वैसे भी रत्ना-जैसी उच्छृंखल नारी के जीवन का दुखान्त ही अधिक स्वाभाविक रहता, डॉ० पाडुरंग जैसा व्यक्ति कल्पना लोक में ही मिल सकता है, वस्तु जगत् में नहीं।

आधुनिक नारी के द्वंद्व का चित्रण उनके उपन्यास डा० शेफाली में भी हुआ है। सभ्यता, कानून और शिक्षा ने आज नारी की शारीरिक बेड़ियों को तो काट दिया है, पर उसके भीतर गहरे जमे सदियों की दासता के संस्कार अब भी उसकी आत्मा को जकड़े हुए हैं और वह लाख छटपटाने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पा रही है। डा० शेफाली-जैसी शिक्षिता और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र नारी भी जीवन भर घुलती रहती है। राममोहन की वाग्दत्ता होने के कारण संस्कारवश वह अपने को उससे बँधा पाती है और मनसा प्राणनाथ की ओर आकृष्ट होने पर भी अपने को उससे कटा-कटा रखती है। इस प्रकार, सेक्स की पूर्ति के सभी मार्ग अवरुद्ध पाकर, वह पूरे मनोयोग से अपने रोगियों के इलाज में लीन होकर उस वृत्ति का उन्नयन कर लेती है।

भट्ट जी ने अपने उपन्यासों में बार बार नारी के इस द्वंद्व की समस्या को उठाया है। लोक लाज के डर से या अपने पुरातन संस्कारों के वशीभूत होकर नारी जब मनचाहे पुरुष से विवाह नहीं कर पाती और उसके प्रवाह का रास्ता रुक जाता है। तब सेक्स के उन्नयन के सिवा उसके पास और कोई स्वस्थ रास्ता नहीं रहता। भट्ट जी सेक्स को दबाने के पक्ष में तो नहीं हैं, पर उसे खुलकर खेलने देने के बजाय वे उसका संयमन व्यक्ति के लिए अधिक हितकर मानते हैं। वैसे 'डा० शेफाली' की हीरादेई, 'सागर लहरें और मनुष्य' की रत्ना तथा 'लोक परलोक' की चमेली ऐसी नारियाँ हैं जिन्हें भट्ट जी ने किसी आदर्श या मर्यादा में न बाँधकर सेक्स के क्षेत्र में खुलकर खेलने दिया है। समाज सम्मत रास्ते के अभाव में असफल प्रेमी घोर निराशा के क्षण में आत्महत्या कर सकता है, या किसी दूसरे की भी हत्या कर सकता है जिसे वह अपने रास्ते का काँटा समझता हो। पर भट्ट जी अपनी नायिकाओं को इन दोनों से बचा लेते हैं और उन्हें पर-सेवा की ओर प्रवृत्त करके उनके काम को भस्म करने की चेष्टा करते हैं। प्रेम

और पर सेवा दोनों म व्यक्ति का अह चूर-चूर हो जाता है और उसे परम सतोष मिलता है। इस दृष्टि से 'डा० शेफाली' के बजाय उनके उपन्यास 'दो अध्याय' की शारदा के चरित्र विकास की परिणति अधिक सयत और स्वाभाविक दीखती है।

विष्णु प्रभाकर

विष्णु प्रभाकर ने मुख्यत नाटक, एकाकी और कहानिया लिखी हैं। पर, इधर कुछ वर्षों से वे उपन्यास की ओर भी प्रवत्त हुए है और उनके तीन उपन्यास प्रकाश म आ चुके हैं—'निशिकान्त' ('ढलती रात' का रूपातर), 'तट के बधन' और 'स्वप्नमयी'। इन रचनाओ मे व्यक्ति और समाज का सघर्ष उभरकर सामने आया है और लेखक ने समाज की जजर रूढियो, मिथ्या विश्वासा और व्यथ के विधि निषेधो पर चोट की है।

'तट के बन्धन मे देश के विभाजन को आधार बनाकर आधुनिक नारी की विविध समस्याओ को उठाया गया है पर बहुत भटके बिना कथानक शीघ्र ही भारत और पाकिस्तान म फँसी नारियो की शारीरिक और मानसिक यातनाओ पर आ टिकता है और फिर एक प्रेम त्रिकोण म परिणत हो जाता है। नीलम गोपाल को चाहती है, गोपाल अनीला को चाहता है जो पाकिस्तान म फँसकर किसी और से विवाह कर लेती है और पुत्रवती हो जाती है। अनीला भी गोपाल को चाहती तो है, पर भारत लौट जाने पर वह पुरातन सस्कारवश अपने को पतिता समझकर, गोपाल से दूर रहती है। गोपाल नीलम की चाह को भी जानता है, पर सस्कारवश अपने को अनीला से बँधा मानकर, नीलम का ग्रहण नही कर पाता। इस प्रकार, उपन्यास का अत निराशापूण वातावरण मे होता है।

'स्वप्नमयी एक भावुक नारी के विफल जीवन की कहानी है जो जीवन भर कल्पना के आकाश म उडती रहती है और धरती पर आती ही नहीं।

'निशिकान्त विष्णु प्रभाकर का पहला और विशेष उल्लेखनीय उपन्यास है, जिसम सन् १६२० तक के सामाजिक और राजनीतिक जीवन का आधार बनाकर मध्यवग के एक ऐसे सवेदनशील युवक की कहानी प्रस्तुत की गई है, जिसे समाज की गलघाटू जकड से मुक्त होने के लिए अपने भीतर के पुरातन सस्कारो और बाहर की सकीर्ण सामाजिकता से निरन्तर सघर्ष करना पडता है। भीतरी और बाहरी दोनो प्रकार की यातनाएँ भोगता हुआ कथा-नायक निशिकान्त अतत उपन्यास के

सशक्त नारी पात्र कमला के सहारे सामाजिक संस्कारिता के बन्धन काट फेंकता है। बीच बीच में ऐसा जरूर लगता है कि वह कायर है, कमला की तरह विपरीत परिस्थितियों से सीधे टक्कर लेने की हिम्मत उसमें नहीं है और वह अपनी परिस्थितियों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लेता है। पर शीघ्र ही यह भी विदित हो जाता है कि परिस्थितियों की उसकी यह स्वीकृति केवल ऊपरी समझौता है—उनसे सीधे टक्कर लेने के लिए अपने को तैयार करने की खातिर। मनसा वह कभी विपरीतताओं के आगे नहीं झुका और जब उसने अपने को जीवन की विपरीतताओं से सीधे भिडने के योग्य पाया, उसने भरी भीड़ के सामने समाज द्वारा तिरस्कृत विधवा कमला का हाथ पकड़ लिया।

कमला के रूप में लेखक ने हिन्दी उपन्यास को एक ऐसी सशक्त विधवा नारी दी है जो समाज से सीधे भिडकर उसके कठोरातिकठोर प्रहारों को हिम्मत से झेलती जाती है—उसके आगे झुकती नहीं, टूटती भी नहीं। कमला के चरित्र में सबसे बड़ी बात यह है कि समाज के प्रहारों को झेलने की शक्ति उसे लेखक की आदर्शवादिता से नहीं मिली, बल्कि वह उसके अपने जीवन से ही उपजी और धीरे धीरे पनपी है। समाज की मार सहते सहते वह उत्तरोत्तर पक्की होती गई और अन्ततः इस स्थिति को पा गई कि निर्भय होकर कह सके "मैं अब किसी से नहीं डरती। मैं केवल इतना जानती हूँ कि मुझे जीना है और जीने के लिए मुझे जो भी रास्ता दिखाई देगा, उस पर चलूँगी।' अपनी निर्भीकता और आत्मनिर्भरता के कारण कमला हमें शरत के उपन्यास 'शेष प्रश्न' की नायिका कमल की याद दिलाती है जो बड़े आत्मविश्वास के साथ जीवन भर समाज से अकेले जूझती रहती है, विपरीतताओं के आगे घुटने नहीं टेकती। वास्तव में, निशिकान्त की अपेक्षा कमला के चरित्र में अधिक पकड़ है।

अन्य

इस धारा के उपर्युक्त उपन्यासकारों के अतिरिक्त रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के उपन्यास भी उल्लेखनीय हैं जिनमें से 'उल्का' और 'मरु प्रदीप' ही हमारी आलोच्य अवधि में आते हैं। इनसे पहले की उनकी रचनाएँ राजनीतिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं पर इन रचनाओं में अंचल ने सामाजिक धरातल को अपनाकर भारतीय नारी की शोचनीय अवस्था को अपना केन्द्र बनाया है और उसके जीवन की विषमताओं के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा उसकी मूक वेदना को वाणी

दी है। 'उल्का' आत्मकथा की शैली में लिखा गया है और उसमें सामाजिक अन्याय और उत्पीड़न का शिकार बनी एक ऐसी नारी के संघर्ष भरे जीवन की झाँकी मिलती है जो अनेक कड़वे मीठे अनुभवों के बाद अपनी निरीहता से ऊपर उठकर समाज की अंध मर्यादाओं के विरुद्ध विद्रोह का झंडा गाड़ देती है और अंत तक नारी के अधिकारों के लिए लड़ती रहती है। 'मरु प्रदीप' में वर्जनाओं और कुंठाओं की चक्की में पिसती हुई एक विधवा की मानसिक यातनाओं के निरूपण द्वारा निम्न मध्य वर्ग की विडम्बनाओं का चित्रण किया गया है। इन उपन्यासों में भारतीय निम्नमध्य वर्ग के जीवन में सांस्कृतिक सामाजिक संघर्षों को एक साथ उभारकर उस वर्ग की विपन्नताओं का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। पर अंचल मूलतः कवि हैं। उनका कवि बार बार उनके उपन्यासकार पर हावी होकर कल्पना की ऊँची उड़ानें भरने लगता है जिसके परिणामस्वरूप उपन्यास में यथार्थ की धरती छूट जाती है और वह डगमगाने लगता है।

समाजवादी उपन्यास

सामाजिक धारा के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास की एक और धारा है जो समाजवादी उपन्यास के नाम से अभिहित है। यह धारा साम्यवादी चेतना के उपन्यासकारों की है। इन उपन्यासकारों की रचनाओं में भी समाज के मदतो मुखी उत्थान की तड़प है और धार्मिक अंधविश्वासों, सामाजिक विकृतियों और आर्थिक विसंगतियों पर निर्मम प्रहार किये गए हैं तथा शोषित वर्ग के उद्धार के लिए बड़े जोर की आवाज उठाई गई है। पर ये लेखक प्रत्येक समस्या का निदान द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के ही सहारे खोजते हैं और उसीके आधार पर विश्लेषण करते हुए समाधान की ओर बढ़ते हैं। इनकी रचनाएँ व्यक्ति और समाज के संघर्ष की अपेक्षा वर्गसंघर्ष पर अधिक बल देती हैं। इसमें संदेह नहीं कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के इस युग के उपन्यासों में मताग्रह उत्तरोत्तर कम होता गया है और रचनाएँ अपेक्षाकृत कलापूर्ण बनती गई हैं। पर कई बार ऐसा लगता है कि समस्या का विश्लेषण और समाधान बौद्धिक स्तर पर हुआ है और लेखक तथा उसके पात्रों की मध्यवर्गीय संस्कारिता बार बार सिर उठाकर उनके दृष्टिकोण की कृत्रिमता को उघाड़ देती है। पर जहाँ रचना वाद की संकीर्णता को लाँघकर समस्या को वास्तविक रूप में लेती है, वहाँ वह यथार्थ के अधिक निकट पहुँच जाती है और पाठक को झिंझोड़े बिना नहीं रहती।

इस धारा के प्रमुख लेखक और उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार है

यशपाल

यशपाल कला का उद्देश्य जीवन की पूर्णता का यत्न मानते हैं। साहित्य की सामाजिक उपयोगिता में उनकी गहरी आस्था है। 'देशद्रोही' की भूमिका में उन्होंने लिखा भी है कि "लेखक यदि कलाकार है तो उसके प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमियों की भांति कुछ उपयोगिता की सृष्टि करने में ही है। विकास द्वारा समाज का सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले जाने में ही श्रमी की सामाजिक उपयोगिता है।"

'दादा कामरेड', 'देशद्रोही', 'दिव्या' तथा 'पार्टी कामरेड' यशपाल के स्वतन्त्रतापूर्व के उपन्यास हैं, जिनमें 'देशद्रोही' और 'दिव्या' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'दिव्या' उनका ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें नारी के शोषण की सामहर्षक कहानी है। 'दिव्या' में प्राचीन युग में नारी के शोषण की कहानी है तो 'मनुष्य के रूप' में आज के युग में नारी के शोषण की। अर्थ और काम के दो पाटों के बीच नारी शताब्दियों से पिसती चली आई है। देश की स्वतन्त्रता, नारी जागरण और शिक्षा के प्रसार के बावजूद नारी का शोषण जारी है। उसका शोषण रुका नहीं, शोषण का रूप भर बदला है। हां, यह जरूर है कि आज नारी इतनी निरीह नहीं रही कि अपने शोषण का बदला न ले सके। उसकी विवशता का लाभ उठा कर पुरुष वासना पूर्ति के लिए उसे विनाश के मार्ग पर ले जाता है तो द्रुत गति से उस ओर बढ़ती हुई वह अपने साथ असंख्य पुरुषों को विनाश के गर्त में ढकेलकर कितने ही परिवारों को नष्ट करके समाज से बदला ले लेती है।

मनुष्य के रूप' की सोमा को ही लें। उपन्यास के आरम्भ में वह जैसी भोली और निरीह लगती है, उपन्यास के अन्त तक पहुँचते पहुँचते वह वैसी नहीं रहती। वही सोमा जिसे उपन्यास के आरम्भ में धनसिंह के साथ घर से भाग निकलने में लज्जा और भय का अनुभव होता था, अपने उथल पुथल भरे जीवन में ठोकर पर ठोकर खाती हुई बेहद चालाक हो जाती है। अपने जीवन में आए ऐश्वर्य को स्थायी बनाने के लिए वह पुरुषों को अपने चंगुल में फँसाती है और पक्के खूटे की तलाश में सूतलीवालों को फँसाने का यत्न करती है—यहां तक कि अपने अतीत से भयभीत होकर वह अपने जीवन में दुबारा आने वाले धनसिंह को पहचानने से इन्कार कर देती है। उपन्यास में सोमा का प्रवेश विधवा के रूप में होता है और

वह जीवन की प्रतारणापूर्ण परिस्थितियों में घनसिंह के प्रेम का आंचल पकडकर आगे बढती है। पर अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए उसे पग पग पर अपने स्त्रीत्व की बाजी लगानी पडती है। जीवन के अनेक खट्टे मीठे अनुभव उसमें आत्म विश्वास भर देते हैं और वह अपने रूप और यौवन के बल पर कुछ से कुछ हो जाती है—धन और ऐश्वर्य की चोटी पर चढकर वह घनसिंह के रूप में अपने अतीत को ठुकराकर दुनिया को अँगूठा दिखा देती है। जोला की नायिका नाना की तरह वह घृणित समाज से अपना बदला ले लेती है।

'झूठा सच' यशपाल का वृहदाकार और महत्वपूर्ण उपन्यास है जो दो भागों में है—१ 'वतन और देश' तथा २ 'देश का भविष्य'। पहले भाग में देश के विभाजन के समय की अराजकता का वर्णन है और दूसरे भाग में है स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के आरम्भ का चित्रण। देश के विभाजन के साथ समझौते के रूप में हमें स्वतन्त्रता मिली और उसके मिलते ही देश की चिंतन धारा बदल गई। बटवारे के साथ साम्प्रदायिकता की जो भीषण आंधी चली और उसमें जो जघन्य और कुत्सित घटनाएँ घटी, निरीह नारी का जो अपमान और तिरस्कार हुआ, उसके फलस्वरूप मानवता पर से मानव का विश्वास उठता गया और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण में आश्चर्यजनक परिवर्तन प्रकट हुआ। त्याग और तपस्या का मूल्य तेजी से गिरने लगा और उसके स्थान पर अर्थ और स्वार्थ की प्रवृत्तियां जड पकडने लगीं। देखते देखते समूचे राष्ट्र की काया पलट गई। भारतीय संस्कृति और इतिहास की इस दुखद एवं रोमांचकारी परिणति को सबसे पहले यशपाल ने इस उपन्यास में सांगोपांग लिया है। इस कृति में साम्प्रदायिक दंगों का जो हृदय विदारक चित्रण हुआ है, जन मानस की अधोगति का जो निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है और बदलते हुए जीवन मूल्यों पर जो विवेचन मिलता है, उनके लिए इस कृति की खूब प्रशंसा हुई है। पर उपन्यास के मुख्य पात्रों—कनक, पुरी और तारा के चरित्र का जो मोड दिए गए हैं और उनकी जो अंतिम परिणति दिखाई गई है उसके बारे में भारी मतभेद है।

अधिकांश पाठकों को तारा ही उपन्यास की नायिका लगती है, पर लेखक की पूरी सहानुभूति कनक को मिली है और उसे ही वह उपन्यास की नायिका मानता है। इस दृष्टि से कनक और पुरी का मिलन और विच्छेद उपन्यास का मूलसूत्र माना जायगा। पुरी में कनक की आसक्ति मानसिक की अपेक्षा बौद्धिक अधिक लगती है कनक ने सच्चे प्रेमी की तरह पुरी को उसके सम्पूर्ण गुण-दोषों

महित कभी नहीं अपनाया। कनक का स्वप्न पुरी की बौद्धिक संगिनी बनने का था उसका पत्नी रूप तो केवल आनुषंगिक था। कनक पुरी से समता का व्यवहार चाहती है, पर स्वयं उसे बराबरी का हक देने को तैयार नहीं—यहाँ तक कि पति होते हुए भी वह उसे पतिवत् व्यवहार करने का हक भी नहीं देना चाहती और उससे मुख्यतः इसी कारण तलाक लेने पर तुल जाती है कि वह उसे परेशान अधिक करता है। माना कि पुरी और कनक के दाम्पत्य जीवन में सबसे बड़ी विषमता थी, पर ऐसी कितनी नारियाँ हैं—विशेषतः भारत में जहाँ की कनक है—जो इसी कारण पति से तलाक लेने पर उतारू हो जाएँगी? पुरी पतिवत् व्यवहार का अपना हक छोड़ने को भी तैयार हो गया, पर कनक किसी भी शर्त पर उससे समझौता करने को राजी न हुई और अन्ततः तलाक लेकर ही मानी। ऐसा करते हुए उसे अपनी बच्ची के भविष्य की भी सुधि न रही।

तारा का चरित्र कनक की अपेक्षा पुष्ट है। उपन्यास में उसका प्रवेश एक विवश लड़की के रूप में होता है जिसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध एक आवारा व्यक्ति से हो जाता है। पर देश के बँटवारे के समय के आँधी-तूफानों को अकेले झेलती हुई वह नारी धीरे धीरे आत्मविश्वास से भरती जाती है और अपनी परिस्थितियों पर हावी होती जाती है। भारत में आकर अपनी नौकरी के आरम्भ में वह दफ्तर के लोगों के बहुमत से नहीं दबती, सत्य के विरुद्ध भूख हड़ताल तथा दूसरे दबावों से नहीं डरती, अच्छा पद पा लेने पर भी अपने भाई पुरी की तरह भविष्य बिगड़ जाने की आशंका से बॉस के इशारों पर नहीं नाचती। परम्परागत विचारों और मान्यताओं को ठुकराकर अपने विचारों के कारण ही वह शीला और रतन की सहायता करती है। कनक को भी उसकी सहानुभूति सहज ही मिल जाती है। पुरी के रूप में निम्नमध्यवर्ग के अभावों भरे ऐसे युवक का चित्रण हुआ है जो धन की चकाचौंध में अपना दीन ईमान सब कुछ खो बैठता है और अपने पुराने आदर्शों और विश्वासों को भूलकर पूरी तरह अर्थ का दास हो जाता है। इसी कारण वह लेखक की घृणा का पात्र बन जाता है।

'झूठा सच' के नारी पात्रों की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वे, मुख्यतः कनक और तारा दोनों, नारी पर पुरुषों के अत्याचारों के प्रति जागरूक हैं और पुरुषों की आततायी प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह भी करती हैं, पर पुरुष के बिना उनकी गति भी नहीं। एक पुरुष के प्रति विद्रोह करके शीघ्र ही वे दूसरे का सहारा ढूँढने लगती हैं। दूसरा पुरुष पा लेने पर ही उन्हें चैन मिलता है। कनक पुरी से कट

किये गए विभिन्न राजनीतिक आन्दोलन, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन तथा वर्तमान शासन का वर्णन है। लेखक का दृष्टिकोण वर्तमान शासन के प्रति असंतोष का है और वह समाजवादी आन्दोलनों में ही किसानों की समस्याओं का समाधान देखता है। नागार्जुन के अन्य कई उपन्यासों की अपेक्षा यह रचना पुष्ट है, पर वट वृक्ष द्वारा मनुष्य के रूप में प्रकट होकर अपनी कहानी सुनाने की बात आज के युग में अटपटी सी लगती है, नागार्जुन-जैसे प्रगतिशील लेखक की रचना में तो और भी।

'वरुण के बेटे' में मछुआरों के जीवन की कहानी है और 'दुखमोचन' में साधन-रहित गांवों में आ रही नई चेतना की झांकी मिलती है। जीवन-भर शोषण की चक्की में पिसते रहने के बावजूद नागार्जुन के पात्रों में शोषण के प्रति घृणा और विद्रोह का जो भाव है, शोषकों से सीधी टक्कर लेने का जो दम है वह नये युग की चेतना का द्योतक है और स्पृहणीय है, पर जहां और जब लेखक ने अपने साम्यवादी विचार लादने का प्रयास किया है, उसकी रचना लड़खड़ा गई है।

रांगेय राघव

साम्यवादी चेतना के उपन्यासकारों में यशपाल और नागार्जुन के बाद अगला नाम रांगेय राघव का आता है। उन्होंने इतना अधिक लिखा है और इतना विविध लिखा है, विभिन्न प्रयोजनों से विभिन्न स्तरों पर लिखा है कि उनकी श्रेष्ठ रचनाओं को अलग कर पाना प्राय: कठिन हो जाता है। उनके उपन्यासों की संख्या तीस के लगभग है, जिनमें अनेक भरती की रचनाएँ हैं और अनेक प्रचारवादी। उन्हें निकाल देने पर उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ भी गिनती में काफी ठहरती हैं, जिनमें 'घरौंदे', 'सीधा सादा रास्ता', 'विषाद मठ', 'हुजूर' आदि उनके सामाजिक उपन्यास हैं। 'कब तक पुकारूँ' की गणना आंचलिक उपन्यासों में की जाती है, पर मूलतः वह सामाजिक उपन्यास ही है। 'मुर्दों का टीला' उनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है पर लेखक का दृष्टिकोण वहां भी समाजवादी ही अधिक रहा है। इस उपन्यास की चर्चा ऐतिहासिक उपन्यास में मिलेगी।

'घरौंदे' रांगेय राघव का पहला उपन्यास है जिसकी रचना सन् १९४१ में हुई थी और प्रकाशन सन् १९४६ में। साहित्य जगत में उसका पर्याप्त स्वागत हुआ था। विचार और अनुभूति दोनों की दृष्टि से भी यह सुगठित रचना है। पर बाद की रचनाओं में रांगेय राघव अधिकाधिक बौद्धिक होते गए हैं। यद्यपि वर्ग-वैषम्य और आर्थिक शोषण का शिकार जन साधारण ही उनकी कृतियों का

कर गिल की ओर मुड़ जाती है और तारा जीवन भर पुरुषों से बचती-बचती अंतत प्राणनाथ को समर्पित हो जाती है। तारा जैसी जागरूक और आर्थिक रूप से स्वावलम्बी नारी के जीवन की यह परिणति उसकी पहली चारित्रिक उपलब्धियों को फीका कर देती है।

नागार्जुन

प्रेमचन्द के बाद नागार्जुन ने पहली बार ऐसे पात्रों को उभारा है जो कुंठाओं से मुक्त है। उनके उल्लेखनीय उपन्यास हैं—'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', नई पौध, 'बाबा बटेसरनाथ' 'वरुण के बेटे'। नागार्जुन का प्रथम उपन्यास है, 'रतिनाथ की चाची', जिसमें एक विधवा ब्राह्मण के दुर्भाग्य की कहानी है, पर उनकी ख्याति का मुख्य आधार है 'बलचनमा', जिसमें उन्होंने मिथिला के आंचलिक परिवेश में वहाँ के मध्यवर्गीय किसान के संघर्षों की दु खभरी कहानी कही है, उनके शोषक जमींदारों पर निर्मम प्रहार किए हैं और नई पीढ़ी में पूंजीवादी, सामन्तवादी व्यवस्था के विरुद्ध धीरे धीरे सुलग रही उस विद्रोहाग्नि को प्रज्वलित किया है जिसके प्रथम दर्शन 'गोदान' के गोबर में होते हैं। उपन्यास के नायक बलचनमा ने अपनी माँ और बहन पर जमींदारों के जो लोमहर्षक अत्याचार देखे थे उनसे उसका मन उस सामन्ती व्यवस्था के प्रति घृणा और विद्रोह से भर गया और बाद में स्वयं उसी पर ज्यों ज्यों अधिकाधिक अत्याचार होते गए उसकी विद्रोहाग्नि प्रचंड होती गई। वह अंत तक उन अत्याचारों को सहता रहा पर उनके आगे झुका नहीं, टूट भले ही गया। इस उपन्यास द्वारा लेखक ने मिथिला के आंचलिक परिवेश को उभारकर और वहाँ की भाषा का उपन्यास में समावेश करके आंचलिक उपन्यास की नींव डाली है। 'नई पौध' में अनमेल विवाह की समस्या को आधार बनाकर नई पीढ़ी द्वारा उसके विरुद्ध जोरदार आवाज उठवाई है। अन्तत नई विचार धारा वाले लोगों की सफलता लेखक के प्रगतिशील विचारों की द्योतक है।

बाबा बटेसरनाथ नागार्जुन का उल्लेखनीय उपन्यास है जिसमें कथाशिल्प सम्बन्धी नया प्रयोग हुआ है। पुराना वटवृक्ष नायक जकिसन के आगे बाबा बटेसरनाथ के रूप में प्रकट होता है और पहली तीन पीढ़ियों पर जमींदारों द्वारा किये गए अत्याचारों की कहानी सुनाकर उसे उनके हथकंडों के प्रति आगाह करता है। उपन्यास में जमींदारों की निरंकुशता, किसानों की स्थिति को सुधारने के लिए

किये गए विभिन्न राजनीतिक आन्दोलन, जमीदारी प्रथा का उन्मूलन और वर्तमान शासन का वर्णन है। लेखक का दृष्टिकोण वर्तमान शासन के प्रति असंतोष का है और वह समाजवादी आन्दोलनो मे ही किसानो की समस्याओ का समाधान देखता है। नागार्जुन के अन्य कई उपन्यासो की अपेक्षा यह रचना पुष्ट है, पर वट वक्ष द्वारा मनुष्य के रूप म प्रकट होकर अपनी कहानी सुनाने की बात आज के युग म अटपटी सी लगती है, नागार्जुन जसे प्रगतिशील लेखक की रचना मे तो और भी।

'वरुण के बेटे' मे मछुआरो के जीवन की कहानी है और 'दुखमोचन' म साधन रहित गावो मे आ रही नई चेतना की झाकी मिलती है। जीवन-भर शोषण की चक्की मे पिसते रहने के बावजूद नागार्जुन के पात्रो मे शोषण के प्रति घृणा और विद्रोह का जो भाव है, शोषको से सीधी टक्कर लेने का जो दम है वह नये युग की चेतना का द्योतक है और स्पृहणीय है, पर जहा और जब लेखक ने अपने साम्यवादी विचार लादने का प्रयास किया है, उसकी रचना लडखडा गई है।

रागेय राघव

साम्यवादी चेतना के उपन्यासकारो मे यशपाल और नागार्जुन के बाद अगला नाम रागेय राघव का आता है। उन्होने इतना अधिक लिखा है और इतना विविध लिखा है, विभिन्न प्रयोजनो से विभिन्न स्तरो पर लिखा है कि उनकी श्रेष्ठ रचनाओ को अलग कर पाना प्राय कठिन हो जाता है। उनके उपन्यासो की सख्या तीस के लगभग है, जिनमे अनेक भरती की रचनाएँ है और अनेक प्रचारवादी। उन्हे निकाल देने पर उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ भी गिनती मे काफी ठहरती है, जिनमे 'घरौदे', 'सीधा सादा रास्ता', 'विषाद मठ', 'हुजूर' आदि उनके सामाजिक उपन्यास है। 'कब तक पुकारू' की गणना आचलिक उपन्यासो मे की जाती है, पर मलत वह सामाजिक उपन्यास ही है। मुर्दो का टीला' उनका प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है पर लेखक का दृष्टिकोण वहा भी समाजवादी ही अधिक रहा है। इस उपन्यास की चर्चा ऐतिहासिक उपन्यास मे मिलेगी।

'घरौदे रागेय राघव का पहला उपन्यास है जिसकी रचना सन १९४१ म हुई थी और प्रकाशन सन १९४६ मे। साहित्य जगत मे उसका पर्याप्त स्वागत हुआ था। विचार और अनुभूति दोनो की दृष्टि से भी यह सुगठित रचना है। पर बाद की रचनाओ मे रागेय राघव अधिकाधिक बौद्धिक होते गए हैं। यद्यपि वर्ग-वपम्य और आर्थिक शोषण का शिकार जन साधारण ही उनकी कृतियो का

विषय बना रहा है, फिर भी कई बार लगता है कि लेखक की मान्यताओं के कारण कथानक का प्रकृत विकास अवरुद्ध हो गया है। उदाहरणार्थ, उनका उपन्यास 'सीधा सादा रास्ता' भगवतीचरण वर्मा के 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के प्रत्युत्तर में यह मानकर लिखा गया है कि सामंती संस्कारों के प्रतीक रामनाथ से मुक्त होकर उनके लड़कों द्वारा अपनाए गए जिन रास्तों को भगवती बाबू ने टेढ़े मेढ़े रास्ते कहा है वही तो सीधे सादे रास्ते हैं। वास्तव में, भगवती बाबू का उपन्यास 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' जर्जर सामंती व्यवस्था पर तीखा व्यंग्य है। रामनाथ के लड़कों द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों के माध्यम से देशोद्धार के रास्ते सामंत रामनाथ को टेढ़े मेढ़े लगते हैं, न कि लेखक को। यही तो उस उपन्यास का व्यंग्य है, जिसे न पकड़ पाने के कारण कई लोगों को लगा है कि इस उपन्यास में सामंतवादी विचार धारा को समर्थन मिला है। रांगेय राघव ने भी इसी निष्कर्ष के आधार पर उसके प्रत्युत्तर में 'सीधा सादा रास्ता' लिखने की आवश्यकता महसूस की होगी, जिसमें 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के अंत से उन्हीं पात्रों और उनकी परिस्थितियों को लेकर रचना का आरम्भ हुआ है। हिन्दी उपन्यास के इतिहास में यह एक नया प्रयोग है जिसमें उपन्यास के माध्यम से अन्य उपन्यास में व्यक्त जीवन-दर्शन की आलोचना प्रस्तुत की गई है। उपन्यास के 'दो शब्द' में लेखक स्वयं भी स्वीकारता है "किन्हीं विशेष पात्रों, परिस्थितियों का वर्माजी ने अपने अनुकूल एक विशेष चित्रण किया है। मैं समझता हूं उसमें कुछ विकृतियां है। मेरी राय में उन पात्रों का असली चित्रण नहीं हुआ है। वह अब मैंने अपने अनुकूल किया है। यह विचारों का संघर्ष है।" रांगेय राघव के वक्तव्य का पूर्वार्द्ध उनकी कई रचनाओं पर लागू होता है, पर ऐसा और कौन लेखक है जिसे इस प्रकार के प्रतिक्रियात्मक सर्जन की सूझी हो?

'विषाद मठ' में रांगेय राघव ने बंगाल के भीषण अकाल की पृष्ठभूमि में वहाँ की त्रस्त मानवता का करुणाजनक चित्रण किया है और पूंजीपतियों की नृशंस स्वार्थपरता पर निर्मम प्रहार किया है जिनके निकट मनुष्य के प्राणों का कोई मूल्य नहीं। 'विषाद मठ' का नामकरण बंकिम के बंगला उपन्यास 'आनंद मठ' की प्रतिक्रिया में हुआ है। 'हुजूर' उनका एक छोटा, परन्तु सुसंगठित उपन्यास है जिसमें एक कुत्ते की आत्मकथा के रूप में इस कटु यथार्थ को उभारा गया है कि अनेक सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के बावजूद मानव का शोषण उसी प्रकार, बल्कि उससे भी भीषण हो रहा है और शोषितों की दशा पशुओं से भी

हीनतर है। इसका कथानायक कुत्ता अपने अंग्रेज स्वामी से लेकर अनेक हिन्दुस्तानी घरों में रहकर समाज के विभिन्न वर्गों की परिस्थितियों का आँखों देखा हाल बताता हुआ उनके जीवन मूल्य पर तीखे व्यंग्य कसता जाता है। हिन्दी उपन्यास में यह एक नया प्रयोग है।

'कब तक पुकारूँ' में राजस्थान के नटों की एक उपजाति विशेष के जीवन का चित्रण हुआ है। यह जरायमपेशा जाति मानी जाती है जिसमें तथाकथित नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं, जहाँ 'सैक्स' के आधार पर कुछ भी अपराध नहीं माना जाता। सुखराम के माध्यम से लेखक ने इस जाति की जहालत और अन्ध परम्पराओं तथा आर्थिक और नैतिक शोषण का चित्रण करके उस दीन हीन स्थिति से मुक्ति पाने के निमित्त उच्च वर्ग से उनके घोर संघर्ष का यथार्थ अंकन किया है। इस उपन्यास से एक और बात भी उभरती है और वह यह है कि इस जाति के अनैतिक माने जाने वाले जीवन की भी एक नैतिकता है जो तथाकथित उच्च और सभ्य समाज की नैतिकता के लिए चुनौती उपस्थित करती है।

भैरवप्रसाद गुप्त

'मशाल', 'गंगा मैया' और 'सत्ती मैया का चौरा' भैरवप्रसाद गुप्त की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं, जिनमें साम्यवादी चेतना का लक्ष्य बनाकर मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर वर्ग संघर्ष का चित्रण किया गया है। 'मशाल' कानपुर के मजदूरों के संघर्ष भरे जीवन और अपने अधिकारों के लिए उनकी सतत लड़ाई की कहानी है। इसका कथानक नपे-तुले सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए ही निर्मित हुआ लगता है। लेखक का राजनीतिक पूर्वाग्रह बार-बार उपन्यास के कला पक्ष पर हावी होकर उसका संतुलन बिगाड़ देता है। 'गंगा मैया' में ग्राम्य जीवन की विषमताओं के माध्यम से कृषक वर्ग के संघर्षों की कहानी प्रस्तुत की गई है। इसका कथानक मटरू और गोपी के दो कृषक परिवारों के संघर्षों पर आधारित है और उसी पृष्ठभूमि में सारे गाँव और कृषक जीवन की सभी समस्याओं का चित्रण है। 'गंगा मैया' का कृषक-वर्ग साम्यवादी चेतना से अनुप्राणित होने के कारण भविष्य के प्रति आश्वस्त है। वह विपरीतताओं के आगे झुकता नहीं, उनमें लड़ता भिड़ता स्वयं अपने लिए मार्ग बनाता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता जाता है।

'सती मैया का चौरा' भैरवप्रसाद गुप्त का विशेष उल्लेखनीय उपन्यास है जिसकी गणना प्राय आचलिक उपन्यासो म की जाती है। पर क्योंकि उपन्यास का कथ्य शीघ्र ही आचलिकता को लाघकर साम्यवादी सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे लीन हो जाता है इसलिए मूलत यह समाजवादी रचना ही मानी जायगी। उत्तरप्रदेश का एक गाव इस उपन्यास का कथा-क्षेत्र है जिसके माध्यम मे तीन पीढियो की कहानी कही गई है और इस बीच ग्राम्य जीवन और उसकी विविध समस्याओ मे हुए परिवर्तनो को बडी गहराई से लिया गया है। महाजनो और जमींदारो के शोषण का शिकार ग्राम्य जनता किस प्रकार राजनीतिक चेतना पाकर भविष्य के प्रति आशान्वित होकर नये जोश मे वतमान समस्याओ से जूझ जाती है और नई चेतना के समावेश से ग्राम्य जीवन मे जो नई जटिलताए आ घुसी है उन सबका यथाथ चित्रण मिलता है। गडबड वही होती है, जहाँ लेखक सिद्धान्त स्थापना के मोह में पडकर दिशा खो बठता है और भटकने लगता है। वैसे कुल मिलाकर यह रचना बडी सजीव बनी है।

अमृतराय

इनके तीन उल्लेखनीय उपन्यास हैं—'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दात'—जो साम्यवादी चेतना से प्रभावित हैं। 'बीज' मे सन् १९४२ से लेकर स्वतन्त्रता प्राप्ति तक के भारत की राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियो की झाँकी मिलती है। वतमान सघर्ष को भविष्य के अकुर का बीज मानने के कारण इसका नाम 'बीज' सार्थक लगता है। मेहतरो की सेवा म रत पत्नी उषा के घायल हो जाने पर इस तथ्य की ओर सकेत करते हुए सत्यवान उससे कहता है—'उषी तू नही जानती, तेरे इस घाव मे हमारे नये जीवन के विराट अश्वत्थ का बीज छिपा है हमारे नये सुख का बीज, नये प्रभात का बीज।

'नागफनी का देश' एक छोटा उपन्यास है जिसमे प्रेम के अध और भावात्मक रूप का चित्रण है। अपने पति से असतुष्ट एक नारी प्रेम की उमग म परपुरुष मे उलझती जाती है। उसकी आँखो पर से भ्रम की पट्टी तब खुलती है जब उसे पता चलता है कि एक और नारी उसीके चक्कर मे अपना सवस्व लुटा चुकी है और वह नागफनी के कँटीले दश से अपने को बचा लेती है। 'हाथी के दाँत' अमृतराय का प्रतीकात्मक उपन्यास है जिसमे एक शासन के व्यग्य चित्र द्वारा यह बताया गया है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी उन लोगो के दृष्टिकोण म कोई

अन्तर नहीं आया है। य तर युद्ध आया है तो केवल इतना कि उनके स्वार्थपूर्ण चेहरे पर दग ाकिन का नकाब चढ गया है। भोले भाले लोगो को भ्रम म डालने वाली उसी नकाब को फाड फेंकना इस रचना का लक्ष्य है।

इस धारा के उपयुक्त अन्य लेखको के अलावा दो उपन्यासकार एसे भी हैं जिनकी आरम्भिक कृतियाँ स्पष्टत साम्यवादी विचारधारा स अनुप्राणित ह। बाद में भले ही उनकी सद्धान्तिक कट्टरता क तीखे कान निर तर घिसते गए और वे इस धारा म बहते नहल उभर आए। य उपन्यासकार हैं—लक्ष्मीनारायण लाल और राजेन्द्र यादव।

लक्ष्मीनारायण लाल

इनक चार उल्लेखनीय उपन्यास ह—'धरती की आंखें', 'बया का घोसला और सांप', 'काले फूल का पौधा' और 'रूपाजीवा'। पहले दो ग्रामीण जीवन पर आधारित हैं। तीसर म तुलसी के पौधे क माध्यम से लेखक ने प्राचीन और नवीन जीवन मूल्यो के सघष का चित्रण किया है और चौथ म पूजीवादी दृष्टिकोण की एकागिता और उसकी विपली विकृतियो का अकन है। इन उपन्यासो मे 'धरती की आंखें' और 'रूपाजीवा' विशेष उल्लेखनीय है।

'धरती की आंखें' मे हम सामती व्यवस्था से सघष रत नई पीढी की उस प्रचड विद्रोहाग्नि क दशन होत ह जिसकी चिनगारी प्रेमचन्द न 'प्रेमाश्रम' के बलराज और 'गोदान' के गोबर मे लगा दी थी। इसक साथ ही चित्रण हुआ है बुझते दीय की लौ के समान दम तोडती हुई जमीदारी प्रथा के नृशस रक्षको द्वारा निरीह कृषक जनता पर किय गए अमानुषिक अत्याचारो का। घोर सघष के बाद कथा नायक गोविन्द के प्रयत्नो की सफलता और उसके प्रयत्नो मे जमीदार की युवती कन्या का सहयोग लेखक के प्रगतिशील विचारो का द्योतक है। 'रूपाजीवा' म पूजीपति व्यापारियो की स्वार्थपरता का चित्रण है। 'धरती की आंखें' सामत जमीदारो के विरुद्ध युवक गोविन्द के सघष की कहानी है तो 'रूपाजीवा' है पूजीवादी नाना और पिता के सकीण आर्थिक जीवन मूल्यो क विरुद्ध युवक सूरज के विद्रोह की। सूरज का नाना गोरेमल धन का पिशाच बनकर उसके पिता चेतराम और मा रूपा बहू के जीवन को नरक बना डालता है—जहा धन के मुकाबले मे मनुष्य के प्राणो की, नारी के सतीत्व की, सन्तान के औरस्य की कोई कीमत नहीं। अन्तत सूरज के आत्मबल के सामने उसके पिता और नाना के पूजी मोह

को घुटने टेकने पड़ते हैं।

लक्ष्मीनारायण लाल मूलत नाटककार हैं। नाटक के क्षेत्र मे उन्होने ख्याति भी प्राप्त की है। पर प्रगतिशील विचार धारा और जीवन मूल्यो के बावजूद उनके उपन्यास पाठक के मन को छू नही पाते, मस्तिष्क को उकसाकर रह जाते हैं। उनमे कथ्य का बिखराव अधिक दृष्टिगोचर होता है और कथानक की अन्विति कम।

राजेन्द्र यादव

उपन्यासकार के रूप मे राजेन्द्र यादव स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही आए हैं। आज़ादी के बाद बदलते हुए जीवन-मूल्यो को इन्होने बड़ी पैनी दृष्टि से देखा है और अपनी रचनाओ म सामाजिक विघटन, पूजी और सत्ता के अनतिक गठबन्धन, पुरातन सस्कार और नवजागरण के सघर्ष मे से अपना रास्ता बनाती हुई मध्यवर्ग की नई पीढ़ी का चित्रण किया है।

उनका पहला उपन्यास है 'प्रेत बोलते हैं' जिसका सशोधित सस्करण 'सारा आकाश' के नाम से छपा है सयुक्त परिवार की पृष्ठभूमि म लेखक एक पढे लिखे दम्पति की विवाहोपरान्त घरेलू उलझनो का चित्रण करते हुए दिखाता है कि किस प्रकार उनके भीतर सदियो से धँसे पुरातन सस्कार प्रेत की भाति उन्हे जकड कर उनके जीवन मे गत्यवरोध ला देते हैं और उनसे छूटने के लिए उन लोगो को अपने भीतर और बाहर कितना सघर्ष करना पडता है। उपन्यास के पूर्वार्द्ध मे समस्या को जितनी बारीकी से लिया गया है, उत्तरार्द्ध म प्रगतिशीलता के नाम पर उसका उतना ही छिछला समाधान प्रस्तुत किया गया है, जिसमें से अनुभूति की गहनता की बजाय आक्रोश की ध्वनि अधिक निकलती है।

'उखड़े हुए लोग' म मध्यवर्ग की शिक्षित युवक पीढ़ी का चित्रण है जिसे पूजी और सत्ता का गठबन्धन जीवन म कही भी जमने नही देता और उनका निरन्तर शोषण करता जाता है। शिक्षित पीढ़ी को विवश होकर बार बार उस सगठन से समझौता करना पडता है और हर बार आत्महनन के रूप मे भारी मूल्य चुकाना पड़ता है। शरद और जया घर के घुटन भरे वातावरण से भाग कर काग्रेसी 'नेता भैया' देशबन्धु के 'स्वदेश महल' मे प्रवेश करते हैं। देशबन्धु एम० पी० हैं और लोगो की दृष्टि मे उदार, धर्मात्मा और त्यागी है। पर वहा शरद और जया को उसके सामाजिक मुखौटो की ओट मे हो रहे घोर व्यभिचार और निमम

शोषण को निकट से देखने का जो मौका मिला उससे सात दिन में ही उनका मन भर गया और वे वहाँ से भी डाकबर भाग लिए। शैली की दृष्टि से यह नया प्रयास है। देवराजपुर के 'भगदेन महल' की केवल सात दिन की घटनाओं को सँजोकर लेखक ने सत्ताधारी पूंजीपतियों के बहुमुखी भ्रष्टाचार को उजागर कर दिया है। 'कुन्टा' इनका छोटा, पर गठा हुआ उपन्यास है जिसमें श्रीमती तेजपाल को केन्द्र बनाकर उनके माध्यम से उच्च वर्ग की नारियों की अतृप्तिजन्य कुंठाओं का चित्रण है।

'शह और मात' डायरी शैली में लिखा हुआ उपन्यास है जिसमें लेखक ने अनुभूति के विभिन्न स्तरों पर दो संवेदनाओं के चित्रण का प्रयास किया है। उपन्यास के आरम्भ में लेखक के इन शब्दों से रचना की गहराई के विषय में जो आशा बँधती है, वह पूरी नहीं होती "क्या कहानी उपन्यास का लेखक लेखन-सामग्री से भरा निर्जीव बकसा ही है ? उसका काम 'भीतर भरे हुए' ही को केवल बाहर 'उलीचना' और 'उँडेलना' ही है ? लेखन उसकी अपनी भी चिंतन प्रक्रिया नहीं बन सकता कि उस चिन्तन प्रक्रिया में रेडी-मेड विचार पाठक को दही नहीं, खुद मथे और पाए भी ? हो सकता है इस दृष्टि से मैंने अपने को पात्रों के रूप में बाँटकर मुखर चिन्तन या लाउड थिंकिंग ही किया हो और लिखने के दौरान में पात्रों के साथ साथ ही उनकी माफत अपनी उलझनें और समस्याएँ सुलझाने की कोशिश भी की हो।" राजेन्द्र यादव अपने पहले उपन्यासों में पाठकों पर रेडीमेड विचार लादते ही रहे हैं। इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने औरों को देने के बजाय रचना प्रक्रिया में स्वयं पाने की जो चेष्टा की है वह लेखन के लिए निस्सन्देह शुभ है। पर इस रचना में उनसे हमारी शिकायत यह है कि इसमें उनका जो 'मुखर चिन्तन' मिलता है वह मुखर अधिक है और गहन कम। यह किशोर चिन्तन से आगे नहीं बढ़ता दीखता।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की भीषण और अनिश्चित परिस्थितियों से मनोवैज्ञानिक उपन्यास को धक्का पहुँचा। समाजव्यापी करुण क्रन्दन ने उपन्यासकार की अन्तर्मुखता भंग करके कुछ समय के लिए उसके लेखन में गतिरोध ला दिया। पर शीघ्र ही इस धारा के लेखक पुनः व्यक्ति सत्य की खोज में मानस की अतल गहराइयाँ नापने लगे। इस लेखकों का कहना है कि उनका लिखना किसी बाहरी

उद्देश्य की-पूर्ति के लिए नही, अपने लिए है, अपने को समझने के लिए, अपने को पाने के लिए है। इसलिए इन लेखकों की कृतियों मे समाज तो दूर, व्यक्ति के सुधार की भी कोई चेष्टा नही मिलती। इनका विश्वास है कि व्यक्ति अपने को समझने लगे, अपनी अवचेतन प्रवृत्तियों का वास्तविक स्वरूप पहचानने लगे तो उसकी सभी समस्याएँ, जो मुख्यत मानसिक विकृतियों की उपज होती हैं, अपने आप सुलझने लगेंगी। इसीलिए अपने उपन्यासों मे वे व्यक्ति मानस की परत पर परत खोलकर, व्यक्ति के अतीत विश्लेषण द्वारा उसकी वर्तमान कठिनाइयों की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। परन्तु अब उनकी रचनाओं मे उतनी दुरूहता नही रही जितनी स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले की रचनाओं मे थी, यद्यपि मानव मन की गुत्थियों को सुलझाने के लिए वे मनोविज्ञान की अधुनातन टेक्नीकों का सहारा पहले से भी अधिक लेते है। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के अतिरिक्त इस धारा मे धर्मवीर भारती, डॉ० देवराज, प्रभाकर माचवे आदि भी आ मिले और टेक्नीक के अनेक नये प्रयोग दृष्टिगोचर हुए, यद्यपि उपन्यास मे वे सब खप नहीं पाए।

इस धारा के प्रमुख उपन्यासकार और उल्लेखनीय रचनाएँ इस प्रकार हैं

जैनेन्द्र

जैनेन्द्र हिन्दी उपन्यास मे पहली के रूप मे आए थे। हिन्दी उपन्यास के पाठकों को घिसी पिटी नैतिकता की संकीर्णता से निकालकर उस मूल नैतिकता तक पहुँचाने वाली गहरी आत्मचिन्तना की ओर उन्होंने ही प्रवृत्त किया था। प्रेमचन्द युग के उपन्यासों ने 'सु' और 'कु', देव और दानव के रूप मे जो मानव मूल्य स्थिर कर लिए थे जैनेन्द्र ने आते ही उनके आगे प्रश्नसूचक चिह्न लगा दिया और पाठक से अनुरोध किया कि वह इन सामाजिक मूल्यों के बाहरी रंग रूप मे उलझा रहकर उनकी आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न करे। पहले 'परख' और 'सुनीता' में और फिर 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' मे मानव मन की अतल गहराइयों मे उतरकर उन्होंने नर और नारी के सम्बन्धों की परस्परता का जो चित्रण किया उसमे रूढ नैतिकता की जड़ें हिल गई और जैनेन्द्र हिन्दी-साहित्य पर छा गए।

बारह-तेरह वर्ष के लम्बे मौन के बाद जब १९५३ मे जैनेन्द्र के 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' नाम से एक के बाद एक तीन उपन्यास प्रकाशित हुए

तब बहुतों को लगा कि जैनेन्द्र को जो देना था वह 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' में ही दे चुके, ये रचनाएँ तो उन्हीका रूपान्तर है। जैनेन्द्र जी से हुई एक भेंट-वार्ता में ('साप्ताहिक हिन्दुस्तान', १५ अक्तूबर १९६१) मैंने उनसे इसी आशय का एक प्रश्न किया था कि 'सुनीता', 'सुखदा' और 'विवर्त' की नायिकाओं का समानान्तर विकास और उपन्यास समाप्त होते होते उनके एक ही रूप का उभरकर सामने आना क्या इस बात का द्योतक नहीं है कि इन उपन्यासों का अन्त एक ही निश्चय में हुआ है? उत्तर में जैनेन्द्र ने कहा था "दो व्यक्ति सृष्टि में कभी एक समान नहीं होते। न रचना में दो पात्र बिलकुल एक हो सकते हैं। समान-जैसे दीखते हों, पर होते नहीं। जिन उपन्यासों का आपने नाम लिया है उनकी नायिकाओं में आप चाहें तो अन्तर देख सकते हैं। मेरे उपन्यासों में अन्तिम परिणति यदि एकोन्मुखी दीखती हो तो हो, वह हो सकती है। मेरे लिए अंत में सब बातें एक बड़े प्रश्न और एक बड़े धर्म में समाई हैं। वह यह कि मैं देकर अहं को अखिल में खो रहना है।"

'लें देकर अहं को अखिल में खो रहना है,' इसी धारणा की अभिव्यक्ति 'सुनीता' की भांति 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' की रचना में भी हुई और तदनुसार ही उनके कथानक (थोड़ा बहुत जो कुछ भी है) का गठन और पात्रों का विकास हुआ है। जैनेन्द्र के निकट मानव की मूल समस्या यह है कि व्यक्ति है—व्यक्ति यानी अखिल से कटा पुंजीभूत अहं जो अपने में रुद्ध है, 'पर' की ओर उन्मुख होकर समग्र में खो रहने को प्रवृत्त नहीं। इसी कारण उसे घोर मानसिक यातना सहनी पड़ती है। इन उपन्यासों के पात्र मांसल कम और मानसिक अधिक हैं। समाज में रहते हुए भी वे उससे कटे रहते हैं। समाज के नाम पर उनका वास्ता पड़ता है पति या पत्नी के किसी मित्र या प्रेमी से। जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों की तरह इन उपन्यासों की नायिकाओं की भी मुख्य समस्या यह है कि उनका प्रेमी और पति एक व्यक्ति न होकर अलग-अलग दो पुरुष होते हैं। जिससे उनका प्रेम हो जाता है उससे विवाह नहीं हो पाता और जिससे विवाह हो जाता है उससे प्रेम नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में पति पत्नी दोनों के बीच भीतरी और बाहरी घोर संघर्ष चल सकता था, पर जैनेन्द्र के पात्रों के साथ ऐसा नहीं होता। उनके चेतन मन में इस विषय को लेकर कोई विशेष संघर्ष नहीं छिड़ता, क्योंकि वे स्थिति को स्वीकार करके मानसिक सन्तुलन बिगड़ने नहीं देते। पत्नी का किसी और की ओर प्रवृत्त देख, पति उदार हो जाता है और 'विवर्त'

वे मायक नरेश की तरह पत्नी को ढाढस बँधाता हुआ कहता है 'मुह छिपाने की तुम्हारे लिए कोई बात नही। प्यार का हक सबका है—तुम्हारा, मेरा, उसका, सबका। और उसका माग प्रशस्त करते हुए कहता है 'अगर मैं सौ फीसदी तुम्हारा हूँ तो एक फीसदी भी मुझे अतिरिक्त गिनती म मत लो।'

पर पति से आश्वासन पाकर भी जैनेन्द्र के इन उपन्यासो की नायिकाएँ आश्वस्त नही हो पाती। उनके अवचेतन मन मे पातिव्रत्य के परम्परागत सस्कार इतने गहरे धँसे हैं कि पति के प्रति उदासीन और प्रेमी की आर आकृष्ट होन की कल्पना तक से ही वे अपने को अपराधी पाती है और लाख चाहने पर भी पति से अलग नही हो पाती। सुखदा को ही लें। हरीश दादा द्वारा बुलाई गई एक बठक मे भाग लेने घर से चलत समय उसने पति से कहा था 'स्त्री के भी हृदय होता है और वह भी दायित्व रखती है, मैं इस सभा मे जाऊँगी। तुम रोक नही सकत। पति के सम्मुख ऐसे कड शब्द कहने वाली नारी निश्चय ही निडर और स्वावलम्बी होगी, पर जब उसे बठक मे हरीश से यह कहते सुनते हैं "मैं तो साथ हूँ, पर पदाधिकारी न बनावें। और अभी 'उनसे' पूछना भी बाकी है," तो आश्चय होता है।

जनेन्द्र के पुरुष पात्र ताड के पेड की तरह ऊचे तनकर अकेले खडे रहते है। अपने को अपूण पाकर प्रेमिका की अपक्षा रखते हुए भी व अह मे डूबे रहते हैं, न तो प्रेमिका को समर्पित हो पाते है और न ही उसके समपण को पूरी तरह ग्रहण करते हैं। जयवधन जीवन भर अविवाहित रहता है, 'सुखदा' के कात का और 'विवत' के नरेश का अह पत्नी के प्रति उनकी उदारता का रूप धारण कर लेता है। 'व्यतीत' का जयन्त भी 'अपने को अपने म लिये चलता जाता है कही पूरी तरह दकर खत्म नही हो सका है।' पर जैनेन्द्र की नायिकाएँ अह के घेरे को ताड 'पर' मे—परपुरुष मे—खो रहने को व्यग्र रहती है। प्रेमी म उनकी कामासक्ति, प्रेमी के सामीप्य लाभ की उनकी चिरपोषित इच्छा, जब इन्हें प्रेमी की आर झुका ले जाती है और वे समर्पित होन को होती हैं तो उनके भीतर सदियो से जम पातिव्रत्य के सामाजिक सस्कार, यानी उनकी 'कान्शेन्स' उन्ह पति के प्रति विश्वासघात करक अपनी नजरो म गिरने नही देती, और उनका समपण होता होता सहसा बीच म ही रुक जाता है। पर वे पूरी तरह पति की भी तो नही हो पाती। इस प्रकार, उनके अचेतन म निरन्तर पातिव्रत्य और वासना म सघष चलता रहता है। इस घोर मानसिक सघष का परिणाम यह होता है कि वे पति

और प्रेमी दोनों से ही कटी कटी रहती हैं। अपने में सिमटकर अपने को शून्य बना लेती है और यह शून्य उन्हें भीतर-ही भीतर काटता रहता है। इस लम्बे संघर्ष में प्रमुखता यद्यपि पातिव्रत्य के संस्कारों की ही रहती है, फिर भी ये संस्कार उसकी वासना को पूरी तरह रोक नहीं सकते और अन्ततः उन्हें प्रेम के प्रति समर्पित होने को मजबूर कर देती है। घोर मानसिक संघर्ष में से गुजरने के बाद सुखदा लाल के प्रति, भुवन मोहिनी जितेन के प्रति और अनिता जयन्त के प्रति समर्पित हो जाती है। समर्पण में उनका अहं टूट जाता है और वे रुद्ध व्यक्तित्व खुलकर 'पर' में खो जाता है। जैनेन्द्र के निकट आत्मार्पण में ही आत्मोपलब्धि है।

जैनेन्द्र का उपन्यास 'जयवर्धन' इन तीनों रचनाओं से भिन्न है। भले ही उसकी यह भिन्नता कथ्य की अपेक्षा शिल्प की अधिक है। सरसरी नजर से देखने पर उसके राजनीतिक उपन्यास होने का भ्रम हो सकता है, पर मूलतः उसमें भी कथानायक जयवर्धन के बाह्याभ्यन्तर के विश्लेषण द्वारा उसके समग्र व्यक्तित्व को पा लेने की चेष्टा है। यह चेष्टा करता है विदेशी पत्रकार विलबर हूस्टन जो सप्ताह भर के लिए भारत आया है वह इस उपन्यास में मनोविश्लेषक का सा काम करता है और नायक को समझने के लिए मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन), बाधकता विश्लेषण (रेजिस्टेंस एनेलिसिस), स्वप्न विश्लेषण आदि उन सभी मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग करता है जिनके बिना मनोविश्लेषक एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। यही नहीं, इन सब प्रणालियों का प्रयोग वह जयवर्धन की प्रेयसी इला पर करता है। उसका विश्वास है कि जयवर्धन की मानसिक ग्रन्थियों का सही रूप जानने के लिए उसकी प्रेयसी के अचेतन को समझना जरूरी है। हूस्टन इन दोनों की समस्त गतिविधियों पर निगाह रखता है और रात के एकान्त में प्रति दिन अपनी डायरी भरता जाता है। इस प्रकार यह समूचा उपन्यास हूस्टन की डायरी के रूप में ही मिलता है जो मनोविश्लेषण प्रणाली के सांगोपांग प्रयोगों से भरी है। मनोविश्लेषण में निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए पर्याप्त सामग्री एकत्रित करनी पड़ती है और इसके लिए मनोविश्लेषक और पात्र का प्रतिनिधि का सम्पर्क कम-से कम दो-तीन वर्ष तक चलता है। पर हूस्टन तो सप्ताह भर में जयवर्धन के निजत्व को पा लेना चाहता है। ऐसी स्थिति में निराशा ही हाथ लगनी थी। निराशा हूस्टन को ही नहीं, पाठक को भी होती है। उसके लिए जयवर्धन अन्त तक अज्ञेय बना रहता है।

इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी की धारणा है कि आज चारों ओर जो उथल-पुथल मची हुई है, उसका मूल कारण यह है कि हम अपने अंतर्जीवन की पूर्ण उपेक्षा करके बाह्य जीवन को ही सब-कुछ मान बैठे हैं और इस सत्य के प्रति आँखें मूँद लेते हैं कि व्यक्ति का अन्तर्जीवन ही बाह्य जीवन के रूप में प्रकट होता रहता है। फलतः हम अपनी जीवनगत समस्याओं का वास्तविक रूप नहीं समझ पाते और उनके समाधान के जो उपाय अपनाते हैं, वे भी व्यर्थ हो जाते हैं। व्यक्ति के जीवन में जो भी घटनाएँ घटित होती हैं वे अकारण भाग्यवश नहीं घटित होतीं। उन घटनाओं के बीज पहले से ही व्यक्ति के मानस में छिपे रहते हैं, उन छोटी-से छोटी घटनाओं की ओट में पर्वतोच्च विशाल मानसिक प्रवाह ठाठें मारता है इसलिए जीवन की छोटी-से छोटी घटना भी उपेक्षणीय नहीं। अपने उपन्यास 'जहाज का पंछी' में उन्होंने लिखा भी है कि 'इन्हीं छोटी छोटी बातों पर गौर करते रहने से जीवन के बड़े-महत्त्वपूर्ण किन्तु उलझे हुए रहस्य सुलझते चले जाते हैं।' अपने उपन्यासों में जोशी ने ऐसे नायक और नायिकाओं की सृष्टि की जो देवता के समान बाहर और भीतर एक समान न होकर मनुष्य की भाँति बाहर कुछ और भीतर कुछ हों, जिनके सौम्य शान्त और शिष्ट मुखड़े के नीचे उनका भयंकर लोमहर्षक रूप छिपा हो, जो स्वभाव से ढुलमुल और इतने संवेदनशील हों कि छोटी-से छोटी घटना भी उनके चेतन को चीरकर उनके अचेतन में एक ग्रन्थि बनकर गहरी धँस जाय और वहाँ से उनके आचार विचार और व्यवहार को निरन्तर प्रभावित करती हुई किसी भी परिस्थिति से उनका संतुलन न बैठने दे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इलाचन्द्र जोशी के चार उल्लेखनीय उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—'मुक्तिपथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी'। 'मुक्तिपथ' से जोशी की उपन्यास कला ने एक स्वस्थ मोड़ लिया है। यहाँ से उन्होंने वर्षों के अपने मनोविज्ञान-सम्बन्धी अध्ययन मंथन का सामाजिक उद्देश्य से प्रयोग करना शुरू किया है। उपन्यास का नायक राजीव समाजवादी विचार धारा का है और श्रम द्वारा मुक्ति चाहता है, पर नायिका सुनन्दा जीवन में श्रम भी चाहती है और विश्राम भी, मुक्ति भी चाहती है और बंधन भी। राजीव की प्रेरणा से सुनन्दा घर गृहस्थी की क्षुद्रता का घेरा तोड़कर मानवता के विराट परिवार में कूद तो पड़ी, पर क्षुद्र से विराट की ओर बढ़ती हुई इतनी आगे निकल गई कि राजीव द्वारा बनाया गया मुक्तिपथ भी उसे बन्धन सदृ

विभिन्न स्थितियों में समाज से समाज के विविध प्राणियों से मेल बठाने की उनके काम आने की, अथक चेष्टा करके अपने स्वभाव के वशीभूत वह बार बार निराश हाकर जहाज के पंछी की तरह अपनी मूल प्रकृति में सिमट आता है। नगर की सडकों पर चक्कर काटकर, फुटपाथ पर गर्म और सर्द रातें बिताकर जेल जाकर, जगह-जगह नौकरी के लिए भटककर, घाट घाट का पानी पीकर और फिर घायल होकर अस्पताल में पहुँच जाता है जहाँ उस समाज के अत्याचारों से विक्षिप्त हुए अनेक व्यक्तियों से पाला पडता है। अन्तत वह इस परिणाम पर पहुचता है कि 'आज के समाज में ईमानदारी सबसे बडा शत्रु है, सत्य सबसे बडा पाप है, धर्म सबसे बडा अभाव और जीना सबसे बडा अभिशाप है।

इस उपन्यास की सबसे बडी कमजोरी है इसके कथानक की घटना-बहुलता और पात्रों की भरमार। कहीं की ईट कहीं का रोडा जोड जोडकर उपन्यासकार ने असभ्य पाना के इतिवृत्तों (केस हिस्टरी) के सहारे उपन्यास भर में इतनी घटनाएँ बिखेर दी है कि पाठक बेचारा चकरा जाता है। प्रत्येक घटना और उसमें व्यक्त पात्र की प्रतिक्रिया के आरम्भ, विकास और निष्पत्ति में इतना साम्य है निष्कर्षों की इतनी आवृत्ति है कि पाठक बार बार ऊब उठता है।

अज्ञेय

अज्ञेय ने हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास को एक नया मोड दिया। उनके उपन्यासों का विषय न तो वर्गसंघर्ष है और न ही व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का संघर्ष। आज के अनिश्चय, अव्यवस्था और जटिलता के युग में एक व्यक्ति के भीतर जो अनेक बहुमुखी व्यक्तित्व उभर आए हैं और उसके परिणामस्वरूप उसके भीतर जो अनन्त संघर्ष छिड गया है मानव के संचित अनुभव के प्रकाश में उसे ईमानदारी से पहचानने की कोशिश करना ही अज्ञेय के उपन्यासों की प्रतिज्ञा है। अज्ञेय का विश्वास है कि "व्यक्ति अपने संस्कारों का पुंज भी है प्रतिबिम्ब भी पुतला भी। उसी तरह वह जैविकपरम्पराओं का भी प्रतिबिम्ब और पुतला है—जिन परिस्थितियों से वह बनता है उन्हीको बनाता और बदलता भी चलता है वह निरा पुतला, निरा जीव नहीं है, वह व्यक्ति है, बुद्धि विवेक सम्पन्न व्यक्ति।"[१]

१ 'आधुनिक उपन्यास और दृष्टिकोण' 'कल्पना'—

है, "चन्द्र मेरे प्रति किसी मिथ्या लायलटी का बधन तुम न मानो। जिस भी चीज पर तुम्हारा लोभ ह उसके लिए निर्बाध होकर जुगत करो, स्वतन्त्र रूप से।"

शेखर और शशि की तरह भुवन और रखा के भीतर भी गहरे म सैक्स और कान्शेन्स म भीपण सग्राम छिडा रहता है। अन्तर केवल इतना है कि 'शेखर एक जीवनी' के प्रधान पात्रो के अचेतन म पहले कानशेन्स की सक्स पर विजय हाती रहती हैं और बाद मे सैक्स की जीत ध्वनित होती है। पर 'नदी के द्वीप म पहले सैक्स जीतता रहता है और बाद मे 'कोन्शेन्स'। नोकुछिया ताल के एकात प्रदश मे भुवन के भीतर यह सघप अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। रेखा क समपण को वह स्वीकार नही कर पाता है। यहा उसकी कान्शेन्स की विजय होती है और समपण होता होता बीच मे रुक जाता है। पर कश्मीर की ऊँचाइयो पर उसकी यौन प्रकृति जोर मारकर विजय पा गई। रेखा का हेमेन्द्र रूपी शाप टूट गया। उसने भुवन को पुरुप करके जान लिया और 'फुलफिल्ड हो गई। पर इसके फल स्वरूप जिस 'सजन वायलिनिस्ट' का सूत्रपात हुआ था वह इन दोनो की वासना के वायुयान को जीवन की यथाथ भूमि पर ला पटकता है। 'सजन वायलिनिस्ट' क हित चिंतन मे भुवन का रेखा को आश्वासन देना कि "रेखा जो हुआ है मुझे उसका दुःख नहीं ह—वह जो आयगा—आयगा या आयगी वह तो मुहावरा है—वह मेरा है, मेरा वाछित—उससे मैं लजाऊँगा नही, वह तुम मुझे दोगी, भूलना मत, तुम्ह और तुम्हारी देन को मैं वरदान करके लेता हूँ," उसके भीतर घर कर रही अपराध भावना को ही ध्वनित करती है। रेखा भुवन के अचेतन मे बैठे इस चोर का ताड लेती है और उस पर तरस खाकर सजन वायलिनिस्ट को समाप्त कर देती है।

नदी के द्वीप को पढते हुए डी० एच० लारेंस की याद आ जाती है। लारेंस का विश्वास है कि स्त्री पुरुप की उभय लैंगिकता (बाई सक्स्युएलिटी) एक वनानिक कल्पना है, वे दोनो अलग अलग सैक्स है—स्त्री शत प्रतिशत स्त्री और पुरुप शत प्रतिशत पुरुप। उसकी धारणा है कि इसीलिए, स्त्री और पुरुप का यदि मेल हो सकता है तो मिथुन द्वारा ही वे एक दूसरे मे प्रवेश करके एक दूसर का समझ सकते हैं और एक दूसरे के स्वतन्त्र तथा अन्योयाश्रयी रूप को पहचान सकते हैं। इस प्रकार मिथुन लारेंस के उपन्यासो का अनिवाय अग बन जाता है। मिथुन को लारेंस पाप नही मानता, यदि दोनो मे मिलन की तडप और उसके लिए साहस

का इतिहास प्रस्तुत किया है। वर्माजी ने विदेशी आक्रमणों के बाद के भारतीय इतिहास को ही मुख्यत अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। 'भुवन विक्रम' ही उनकी एक ऐसी रचना है जो वैदिक युग को मूर्त करती है।

'कचनार' की रचना राजगाढो के सरल, सहज और प्रमादमय जीवन का चित्रण करके भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने की कामना में हुई। गोंड-कन्या कचनार इस उपन्यास का केन्द्र है जो कलावती के विवाह में दासी रूप में दहेज में दे दी गई थी। उसके सौन्दर्य ने कथा नायक दिलीपसिंह तथा मानसिंह और गोसाई अचलपुरी को आकृष्ट किया और वे उस पर मँडराने लगे। कचनार के चरित्र में लेखक ने धीरे धीरे सौन्दर्य की स्निग्धता और मानिनी नारी की आजस्विता का इस प्रकार विकास किया है कि वह दासी होते हुए भी संयम और साहस के बल पर अन्त तक अपने सतीत्व की रक्षा किये रहती है। यही नही अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अतत वह मानसिंह और कलावती के परिणय को सम्पन्न कराने और गोसाइ अचलपुरी को सुधारने में भी सफल हो जाती है। कचनार के माध्यम से उपन्यास में मध्ययुग का सामन्ती जीवन, नारी की शोचनीय स्थिति, पुरुषों की विलासिता तथा साधु-महन्तो की सांसारिकता भी पूरी तरह उभर आई है।

प्रारम्भिक उपन्यास 'गढ कुडार' और 'विराटा की पदमिनी' के बाद 'मृगनयनी' ही वर्माजी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना जाता है जिसमें उन्होंने पन्द्रहवी शताब्दी के ग्वालियर नरेश राजा मानसिंह तोमर और उनकी रानी मृगनयनी की कहानी कही है। उपन्यास की मुख्य कथा मानसिंह और मृगनयनी की प्रेम-कथा के रूप में राजमहलों की सरसता को चित्रित करती है तो लाखी और अटल की उप कथा उस समय के संघर्षमय जन जीवन को, युग की मान्यताओं और विश्वासों को, समाज के रीति रिवाजों को मूर्त कर देती है। लाखी और अटल के एकनिष्ठ प्रेम और कर्त्तव्य भावना के समक्ष तो कई बार मृगनयनी और मानसिंह के चरित्र भी फीके पडने लगते हैं।

इस उपन्यास की सबसे बडी शक्ति है मृगनयनी का चरित्र। मृगनयनी में सौंदर्य और साहस का अपूर्व योग है जिसके आधार पर वह देखते देखते साधारण गूजर कन्या निन्नी से रानी मृगनयनी बन जाती है। वह मानसिंह की ओर उसके वैभव के कारण नही, उसके वीरोचित चरित्र के कारण ही आकृष्ट हुई थी। मृगनयनी का प्रेम मानसिंह के लिए बन्धन नही, प्रेरणा बना। दोनों का प्रेम अधा

नही सयत था जो कर्तव्य के प्रति आखें मूदकर नही खोलकर चलता था। प्रेम मे सयम और वह भी युवावस्था के प्रेम मे बहुत बडी बात है। पर इसका श्रेय मानसिंह की अपेक्षा मृगनयनी का अधिक है। मानसिंह स्वय भी इस विषय मे मृगनयनी के प्रभाव का स्वीकार करते हुए कहता है "तुम सयम मे प्रेम को अचचल बनाती हो और मैं अपने विकार मे उसको चचल कर देता हूँ। सयम के आधार वाला प्रेम ही आगे टिके रहने की समर्थता रखता है।" नारी के पुनीत प्रेम को पुरुष की प्रेरणा के रूप म चित्रित करने मे लेखक ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी है, जिससे मृगनयनी और लाखी पाठक के मन पर अमिट छाप छोड जाती हैं।

चतुरसेन शास्त्री

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद चतुरसेन शास्त्री के कई उपन्यास प्रकाश मे आए हैं—'नरमेध', वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ', 'आलमगीर', 'वय रक्षाम', इन रचनाओ म उन्होने आदर्शवादी दृष्टि से भारत के स्वर्णिम अतीत का चित्रण-विश्लेषण करके 'मानवता के धरातल को उठाने' की चेष्टा की है। इतिहास और कला के योग से इन कृतियो म इतिहास रस का एसा सचार हुआ है कि पाठक उसमे निमज्जित हुए बिना नही रहता।

'सोमनाथ' का कथानक महमूद गजनवी के सोमनाथ पर आक्रमण की घटना पर आधारित है। इस उपन्यास की अधिकाश घटनाएँ और पात्र कन्हैयालाल मुन्शी के गुजराती उपन्यास 'जय सोमनाथ' के हो है। अनेक ऐतिहासिक तथ्यो की भी लेखक ने जान-बूझकर अवहेलना की है। उसके लिए तो इतना ही पर्याप्त है कि महमूद ने सोमनाथ को आक्रान्त किया और गुजरात की लाज को लूटा। घटनाओ के घटाटोप और पात्रो के जमघट म से महमूद के पशु रूप को चीरकर, उसके चरित्र की कालिमा धोते हुए उसके भीतर की मानवता का उदघाटन इस उपन्यास का चरमोद्देश्य है। महमूद जैसे नृशस आततायी का हृदय परिवर्तन लेखक की मौलिक सूझ का परिचायक है।

'वय रक्षाम' म प्रागैतिहासिक युग की जन-जातियो के विस्मृत जीवन का चित्रण है। 'सोमनाथ' में महमूद की बर्बरता का मानवीकरण है तो 'वय रक्षाम' मे प्राग्वेदकालीन नर, नाग, देव, दैत्य दानव आदि विविध नृवशो के जीवन के वे विस्मृत पुरातन रेखाचित्र हैं, जिन्हे धर्म के रगीन शीशे म देखकर लोगो ने उन्हे

अन्तरिक्ष का देवता मान लिया था। इस उपन्यास में उन्हें नर रूप में उपस्थित किया गया है। वेद, पुराण, दर्शन, ब्राह्मण ग्रन्थों के मंथन द्वारा लेखक इन देवताओं को कल्पना के आकाश से उतारकर यथार्थ की धरती पर उतार लाया है और उसने उनमें मानवीय संवेदनाओं का संचार किया है। उपन्यास में प्रलय देवासुर संग्राम, इन्द्र मानव, पुरूरवा, शम्बर-संग्राम राम रावण आदि के सजीव रेखा चित्रों द्वारा उस युग की संस्कृति को मूर्त रूप देकर 'अतीत रस' का संचार तो किया गया है, पर उपन्यास के रूप में इसका गठन ढीला है। लेखक ने स्वयं इस कमी को स्वीकार किया है "वयं रक्षामः यद्यपि भर का ही उपन्यास है, परन्तु वास्तव में वह मेरा दुस्सह अध्ययन है।"

चतुरसेन शास्त्री का विशेष उल्लेखनीय उपन्यास है उनकी पहली ऐतिहासिक रचना 'वैशाली की नगरवधू', जो ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में उनकी ख्याति का मूलाधार है। इस उपन्यास के कथानक का काल विस्तार ६०० ५०० वर्ष ई० पू० है। उपन्यास का केन्द्र है बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित वैशाली की गणिका अम्बपाली। अम्बपाली के चरित्र निर्माण की प्रेरणा लेखक को दो स्रोतों से मिली। बौद्ध उपाख्यान 'महावग्ग' से उसे इस तथ्य का पता चला कि अम्बपाली ने बुद्ध को भोजन के लिए निमन्त्रण दिया था और इससे वैशाली के राजपुरुष ईर्ष्या से जल उठे थे, उस युग में लिच्छवियों के वज्जी संघ की राजधानी वैशाली समृद्धि और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर थी। लेखक को वहाँ की इस परम्परा का भी पता चला कि उस गणराज्य की सर्वसुन्दरी को जनपदकल्याणी अर्थात 'नगरवधू' बनना होता था। वह किसी एक की परिणीता बनकर नहीं रह सकती थी। उसके ऊपर सम्पूर्ण गण के नागरिकों का समान अधिकार होता था। इसी परम्परा के अनुसार सामन्त महानामन की पालिता कन्या अम्बपाली को सर्वसुन्दरी होने के कारण नगरवधू बनने का गौरव प्राप्त हुआ।

नगरवधू का स्थान उस युग के समाज में वेश्या का सा नहीं होता था, बल्कि वह पूरे गण में सर्वश्रेष्ठ, सर्वसम्मानित और सबसे अधिक ऐश्वर्यशालिनी महिला के रूप में मान्य होती थी। उसके सब संस्कार राज्य की ओर से सम्पन्न किए जाते थे। नगरवधू के रूप में अम्बपाली को यह सब सहज प्राप्त था, पर जीवन में [illegible] विलास और सम्मान ही तो सब कुछ नहीं, हृदय भी तो कुछ [illegible] आवाज के आगे सब कुछ नगण्य हो जाता है। अम्बपाली ने अपने [illegible] और प्रतिष्ठा से समझौता तो कर लिया पर वह अस्थायी समझ [illegible]

मन का रह रहकर यह बात कचोटती थी कि उसे किसी की हृदयेश्वरी गृहस्थवधू बनने की आकांक्षा को बरबस दबाना होगा और यही उसके जीवन की भयकर ग्रंथि बन गई। वह इस परम्परा को न तो स्वय तोड सकती थी और न ही कोई अन्य व्यक्ति इस विषय मे उसकी सहायता कर सकता था। परन्तु नारी के लिए गण के इस नृशस प्रतिबन्ध के प्रति उसके मन मे स्थायी घृणा का विष भर दिया जो भीतर ही भीतर घुलता रहा और उसके मन मे सघ के नाश की कामना बद्धमूल हो गई। उपन्यास की विभिन्न घटनाओ को जन्म देने वाला यही मूल बिन्दु है और इसीने अम्बपाली के चरित्र विकास का भी धार दी है।

नीरसता के निवारण के लिए लेखक ने इस उपन्यास म कुछ चमत्कारपूर्ण घटनाओ की भी कल्पना की है, जो खप नही पाती। वशाली के अन्दर दैवी प्रकोप का आतक पदा करने के लिए प्रभजन नाई को वयकार का छलिया परिव्राजक बना देना, कुण्डनी द्वारा राजकुमारी षोडशी और यक्षकुमारी का अभिनय कराना और नन्दन साहू द्वारा चण्डाल मुनि का चरण स्पश करवा दना तक तो चल भी सकता है पर महाराज उदयन का आकाश माग से आना और अम्बपाली के आगे वीणा बजाकर पुन उसी माग मे लौट जाना एकदम अविश्वसनीय है। इस प्रकार की त्रुटिया इसलिए और भी खटकती हैं कि इन सब अस्वाभाविकताओ से बचकर यशपाल इसी काल को लेकर पहल ही 'दिव्या' नाम से सशक्त और सफल उपन्यास लिख चुके थ। अन्तर केवल यह है कि 'दिव्या' वग सघष का शिकार हुई थी और वशाली की नगरवधू की अम्बपाली व्यक्ति और समाज के सघष का।

अमृतलाल नागर

अमृतलाल नागर के दो एतिहासिक उपन्यास भी प्रकाशित हुए हैं—'शतरज के मोहरे' और 'सुहाग के नूपुर'। 'शतरज के मोहरे' म अवध की नवाबी के ह्रास का चित्रण है जिसम उस समय के राजनीतिक षडयन्त्र, महलो के भीतर की रगीनियां, जन साधारण का सघषमय जीवन, विदेशियो की धूर्तता, नवाबी की कोरी शान शौकत मूर्त हुई है। पर नागर का विशेष उल्लेखनीय उपन्यास है 'सुहाग के नूपुर', जो कथ्य और कला दोनो की दृष्टि से एक पुष्ट रचना है। इसके कथानक की प्रेरणा लेखक को पहली शताब्दी ईसवी क तमिल कवि इलगोवन के अमर काव्य 'शिलप्पदिकारम्' से मिली है। पर अपनी सजन प्रतिभा से उसने इसे मौलिक और स्पृहणीय रचना बना दिया है। तत्कालीन समाज और राज्य-व्यवस्था

के परिवेश में वेश्या-समस्या को आधार बनाकर लेखक ने इसमें 'मनुष्य-समाज के व्यथित अर्धांग नारी' के अन्तर्शोषण और पुरुष प्रकृति की उच्छृंखलता की लोमहर्षक कहानी कही है। कथानक यद्यपि पुराना और प्रेम त्रिकोण वाला ही है पर उसके सहारे विवाह बनाम प्रेम की पुरातन समस्या को नए रूप में पेश किया गया है।

कथा नायक सम्पन्न व्यापारी कोवलन माधवी से प्रेम करता है और माधवी उसे मन से चाहती है उसे अपना बना लेना चाहती है, उसकी बन जाना चाहती है। पर कोवलन् का विवाह हो जाता है कन्नगी से। माधवी से उसका विवाह हो नहीं सकता, क्योंकि वह वेश्या कन्या है। कन्नगी माधवी से कम सुन्दर नहीं, पति कोवलन का समर्पण भी उसका अधूरा नहीं, सम्पूर्ण है। पर माधवी को लगता है कि कोवलन वास्तव में उसका अपना है, विवाह के अनैतिक धर्मपाश में बांधकर कन्नगी उसके जीवन सर्वस्व को बरजोरी हर ले गई है। इसलिए वह उसे पुनः पाने के लिए कटिबद्ध हो जाती है और अन्त में कोवलन् की आसक्ति के बल पर नाना प्रकार के कुचक्र रचकर कन्नगी को घोर यातनाएँ पहुँचाती है। कन्नगी आदर्श भारतीय सती साध्वी पत्नी है। उसकी सात्विक गरिमा के आगे अन्तत माधवी के सब कुचक्र व्यर्थ हो जाते हैं। वह कोवलन को जी-जान से चाहती है, उसके लिए सब कुछ कर सकती है पर तब तक ही जब तक कि उसके सुहाग के नूपुरों का आंच न आए। कोवलन् कन्नगी की ओर भी आकृष्ट है, पर कन्नगी के प्रति उसके मन में प्रेम की अपेक्षा संस्कार जनित आतंक का भाव अधिक है। कन्नगी का सहजोपलब्ध प्यार पौष्टिक है, पर माधवी का उत्तेजक और मादक मायावी प्रेम उसे बार बार खींच लेता है। इस प्रकार, कोवलन् का द्विधाग्रस्त मन जीवन भर कन्नगी और माधवी के बीच, पत्नी और प्रेमिका के बीच, भटकता रहता है। सुहाग के नूपुर और नर्तकी के घूंघरू का, सामाजिक मर्यादा और रूप की चकाचौंध का यह संघर्ष कोई नया नहीं। पर लेखक ने इसे नया मोड़ देकर समाज की रूढ़ नैतिकता पर गहरी चोट की है। माधवी मन, वचन और कर्म से कोवलन् के प्रति उतनी ही सच्ची है जितनी कन्नगी। तो फिर समाज जो उसे कोवलन की होने का, सुहाग के नूपुर पहनने का, जिसके लिए वह जीवन भर तरसती रहती है, केवल इसलिए हक नहीं देता कि वह वेश्या-कन्या है। क्या यह नारी के प्रेम का अपमान नहीं है? उपन्यास का बल इस बात पर है कि माधवी ने प्रेम का नाटक नहीं किया है, वह कोवलन् से स्त्री की तरह प्यार करती है। वह वेश्या-

न्या है तो क्या, मानवी भी तो है। वह प्रेम का अपना अधिकार क्या छोड़े? क्यो न वह समाज से घृणा करे और क्यो न पूरी लगन और सचाई के साथ समाज का सर्वनाश करने पर तुल जाय?

मार्क्सवादी चेतना से अनुप्राणित होकर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर इतिहास का विश्लेषण करने वाले प्रमुख उपन्यासकार हैं—राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, रांगेय राघव आदि।

राहुल सांकृत्यायन

उपन्यासकार के रूप में राहुल जी की ख्याति उनके ऐतिहासिक उपन्यासों के कारण है, जिनके नाम हैं—'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय', 'मधुर स्वप्न', और 'विस्मृत यात्री'। इनमें विशेष उल्लेखनीय तो पहले दो उपन्यास हैं। 'सिंह सेनापति' में लिच्छविगण के संघर्ष का चित्रण है और 'जय यौधेय' में यौधेयगण का। पहले उपन्यास के अन्त में लेखक ने सिंह सेनापति और तथागत के परस्पर विचार विनिमय द्वारा बौद्धमत और मार्क्सवाद की समानता पर बल दिया है। राहुलजी के मतानुसार मार्क्सवाद आज की परिस्थिति में बौद्धमत का ही रूपान्तर है। दूसरा उपन्यास भी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के जीवन-दर्शन पर आधारित है। पर ये दोनों रचनाएँ स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले की होने के कारण हमारे विवेचनकाल से बाहर की है।

'मधुर स्वप्न' भी राहुल जी का ऐतिहासिक उपन्यास है। पर इसमें उन्होंने भारत के इतिहास की परिधि लाँघकर मध्य एशिया के छठी शताब्दी के जन जीवन के माध्यम से मार्क्सवादी विचारों का समर्थन किया है। इस रचना में कथानायक के रूप में अयीरान के एक ऐसे महान् व्यक्तित्व मजदक का चित्रण हुआ है जो आचार शास्त्री और मानव प्रेमी था और जिसने संयम की शिक्षा दी थी। मजदक ने हत्या और रक्तपात का ही निषेध नहीं किया, बल्कि दया करुणा को भी वह परम कर्त्तव्य मानता था। उपन्यास में एक ओर तो सामन्तशाहो का वैभव विलास, धर्म के ठेकेदार मठाधीशों का अनाचार और दीन दुखियों की आहा-भरी पुकार है और दूसरी ओर मजदक के जीवन दर्शन पर तथागत के प्रभाव का चित्रण हुआ है।

'विस्मृत यात्री' में छठी शताब्दी के एक बौद्ध यात्री की कहानी है जो लेखक

के अपने जीवन से मिलती है। नायक नरेन्द्रयश के माध्यम से राहुल जी ने अपनी विचार-धारा अभिव्यक्त की है। देश देशान्तर का भ्रमण करता हुआ और भांति-भांति के लोगों की सेवा करता हुआ वह यात्री एक स्थान पर अपनी अनुभूतियों का विश्लेषण करता हुआ स्वीकारता है "रोगियों और अनाथों की सेवा अहिंसा-व्रत का प्रचार मेरे जीवन का अभिन्न अंग बन गया था, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मैं अपने काम से नितान्त सन्तुष्ट था। जब उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगता तो मुझे अपने पर अविश्वास होने लगता। लोग दीन और अनाथ हों, जिससे हमें उनकी सेवा का अवसर मिले, यह कौन सा अच्छा विचार है? क्या उससे यह अच्छा नहीं कि कोई दीन और अनाथ दुनिया में रहे ही नहीं और हमें ऐसा अवसर न मिले?' यात्री के इस चिन्तन में सामाजिक विषमता के निराकरण की तड़प के स्पष्ट दर्शन होते हैं। अपनी इस जिज्ञासा से आरम्भ होकर जीवन भर के संघर्ष के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "दीन दुखिया की सेवा एक सीमा तक ही उपयोगी है, पर इससे दुःख का उन्मूलन नहीं हो सकता। दुःख को समूल नष्ट करने का एक ही उपाय है और वह यह कि पुरुष पुरुष में धन-सम्पत्ति की विषमता न रह जाय। न कोई आदमी भूखा रहे, न कोई धन-वैभव में डूबा।'

इस प्रकार राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यासों का मूल उद्देश्य साम्यवादी सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा आदर्श समाज के निर्माण का है। इन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि करने के लिए उन्होंने अतीत के विस्मृत व्यक्तित्वों को उठाया है और उनके जीवन की तदनुकूल घटनाओं पर ही बल दिया है। इससे उनके उपन्यासों में एक-रसता आ गई है। उनके उपन्यास 'सिंह सेनापति' का नायक सेनापति सिंह 'जय यौधेय' का जय, 'मधुर स्वप्न' का मज्दक और 'विस्मृत यात्री' का नरेन्द्रयश सभी समान उत्साह से साम्यवादी विचार धारा का समर्थन करते हैं।

यशपाल

ऐतिहासिक उपन्यास के लेखक के रूप में यशपाल की ख्याति का मुख्य आधार है उनकी समर्थ कृति 'दिव्या', जिसमें उन्होंने प्राचीन बौद्धकालीन भारत भर में व्याप्त वर्ण-व्यवस्था और तज्जनित वर्ग संघर्ष की चक्की में जीवन भर पिसती रहने वाली एक निरीह नारी की करुण कहानी के माध्यम से उस युग के जन जीवन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की है। इधर स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी

उन्होने अमिता नाम से एक ऐतिहासिक उपन्यास की सृष्टि की है जो अशोक के कलिंग विजय की ऐतिहासिक गाथा पर आधारित है। उस युग के समाज और राजनीति की प्रकृति विश्लेषण के विवेचन विश्लेषण द्वारा कलिंग विजय के लिए भयकर नर सहार करने वाले प्रचण्ड अशोक के हृदय परिवतन की स्थिति का मनोवैज्ञानिक चित्रण इस कृति मे हुआ है। युग की अनिश्चित परिस्थिति, बौद्धो और ब्राह्मणो का सघर्ष, दासप्रथा, नारी की शोचनीय दशा, समाज की रीति नीति के यथार्थवादी चित्रण के अलावा इस रचना म वातावरण की अनेक मनोरम झाकिया भी मिलती हैं जो कथानक की परिणति को सहज और विश्वसनीय बना देती है। पर इस सबके बावजूद यह कृति 'दिव्या' की ऊचाइयो को नही छू पाती।

रागेय राघव

सामाजिक यथार्थ की अविच्छिन्न शृखला को देखने के उद्देश्य से रागेय राघव ने 'मुर्दों का टीला', 'चीवर', 'प्रतिदान', 'अँधेरे के जुगनू', 'राह न रुकी' आदि कई ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं। 'चीवर' म राज्यश्री के समय के ह्रासकालीन भारतीय सामन्तवाद का चित्रण है। 'प्रतिदान' म महाभारत युग म व्याप्त ब्राह्मण-क्षत्रिय सघर्ष को मूर्त किया गया है। 'अँधेरे के जुगनू' मे महाजनपद युग से भी पुराने उस युग का चित्रण है जब पार्श्वनाथ से पहले ही व्यापक गणतन्त्र स्थापित करने की चेष्टा हो रही थी। दास प्रथा की रक्षा के लिए कुलीन वर्गों ने उस समय कैसे एकतन्त्र के स्थान पर गणतन्त्र की स्थापना की, इसका वर्णन इस कृति मे हुआ है।। रागेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासो की विशेषता यह है कि वे इनके माध्यम से अतीत के जीवन की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा तो करते हैं, पर राहुल साकृत्यायन आदि की तरह स्वय को पात्र बनाकर उसके द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रतिपादन नही करते। उनके लिए इतना ही पर्याप्त है कि अतीत की घटनाओ की व्याख्या तत्कालीन सामाजिक विकास के सदर्भ मे समुचित रूप से हो जाय।

'मुर्दों का टीला' रागेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासो मे सबसे महत्वपूर्ण कृति है जिसमे उन्होने मोहन जोदडो युग के अज्ञात सामाजिक और सास्कृतिक जीवन की कल्पनाप्रसूत झाकी प्रस्तुत की है। मुर्दों का टीला शब्द मोहन जोदडो का ही पर्यायवाची है जिसका अर्थ है—'मुर्दे का स्थान'। इस महानगर के विध्वस का समय आर्यों के आक्रमण का काल है। लेखक ने आर्यों और द्राविडो

के संघर्ष को द्राविडों के दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है—द्राविडों को सुसंस्कृत मूर्तिपूजक और वैभव सम्पन्न दिखाकर तथा आर्यों को बर्बर, क्रूर और असभ्य चित्रित करके। मोहन जो दडो में गणतंत्र न था। दासप्रथा के बावजूद उसकी जनता को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। इस महानगरी के वैभव विलास, संघर्ष और अंतत विनाश के आधार पर इस उपन्यास का कथानक रचा गया है। लेखक ने इसमे दो असाधारण रूपसी नारियों की सृष्टि की है जो क्रीत दासियां हैं और जिनकी हीनभावना परम महत्त्वाकांक्षा मे परिणत होकर उनके व्यक्तित्व मे विस्फोट ला देती है। ये नारियां हैं नीलूफर और वेणी, जो पुरुष के भोग-विलास का साधन बन, अपमान और तिरस्कार से प्रताडित हो, प्रेम और *लालसा के दो पाटो के बीच पिसती हुई विनाश के गर्त की ओर बढती जाती हैं* और अपने साथ दूसरो को भी घसीट ले जाती हैं। उनका रूप और दासत्व उनके लिए अभिशाप बन जाता है।

लेखक ने नारी जीवन की इस विडम्बना का चित्रण बडी सूक्ष्मता से किया है। ये दोनो एक ओर मानवतावादी गायक विल्लीमित्तूर की ओर आकृष्ट हैं तो दूसरी ओर शक्तिशाली और सम्पन्न मणिबन्ध की ओर भी झुकती हैं। एक से उन्हें प्रेम और जीवन मिलता है तो दूसरे से वैभव और विलास सुविधा। मणिबन्ध निर्बाध अधिकार प्राप्त करने की कामना से सम्राट बनने की चेष्टा करता है और नगर में आतंक फैलाकर बाहुबल से वह जनता की स्वतन्त्रता को कुचल डालता है। घोर युद्ध और रक्तपात के बाद वह विजय की घोषणा तो कर देता है पर वेणी पर अधिकार पाने मे विफल होता है और उसे महाकाल और प्रलय की स्थिति का सामना करना पडता है। मणिबन्ध की विफलता मे गायक के मानवतावाद की विजय ध्वनित होती है। गायक के जीवन का चरम प्रणय ही लेखक का चिर स्वप्न है 'मेरे लिए कोई देश अपना नही कोई पराया नही, जहा संतोष से मनुष्य मुस्कराता है, वही मेरा स्वर्ग है। अपने दुःख को दूसरों के दुःख के सामने खो देना मेरा कर्तव्य है। मनुष्य को सहायता देना मेरा एकमात्र धर्म है और पृथ्वी का स्वर्ग की कल्पना ही न रखकर पृथ्वी पर स्वर्ग उतार लाने का श्रम मेरे महादेव की शक्ति है।' गायक के इस विश्वास में लेखक का प्रगतिशील दृष्टिकोण व्यक्त होता है 'न स्त्री बुरी होती है, न पुरुष। धन बुरी वस्तु है। अधिकार बुरी वस्तु है। धन और अधिकार को ठीक कर दो, फिर संसार में कोई बुरा नही रहेगा।"

अन्य

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास मे एक और नया प्रयोग हुआ है शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के उपन्यास 'बहती गगा' के रूप म। उसकी नायिका है काशी की नगरी जिसके २०० वष (सन १७५० से १९५०) के लम्बे इतिहास का वणन बडी कुशलता से रोचक शैली मे किया गया है। रचनाकार का ध्यान नगरी के शरीर पर नहीं, उसकी आत्मा—उस नगरी मे बसने वाले जनमानस के क्रमिक विकास पर रहा है। रचना समाप्त करते-करते पाठक पर इस नगरी का व्यक्तित्व—उसकी अदभुत मस्ती, निपट निद्वन्द्वता उत्कट स्वातन्त्र्य प्रेम और प्राचीनतावादी दृष्टिकोण छा जाता है। 'बहती गगा' म दो सौ वष का बनारसी जीवन अपनी पूर्ण विविधता और सरसता के साथ मूत हो उठा है। 'टकनीक' की दृष्टि से इस उपन्यास का विशेष महत्त्व है। 'बहती गगा' की इस धारा म सत्रह तरगें यानी परिच्छेद हैं। प्रत्येक तरग किसी न किसी ऐतिहासिक घटना, व्यक्ति, प्रथा या जनश्रुति पर आधारित है, पर हैं एक-दूसरे से अलग अपने आपमे पूर्ण। पर वे धारा-तरग न्याय मे आपस म जुडे हुए ह और सब मिलकर काशी नगरी के विशिष्ट व्यक्तित्व को उभार देते ह।

साहित्य की दृष्टि से इतिहास और पुराण को एक मान ल तो आलोच्य काल की एक और सशक्त कृति का उल्लेख करना होगा जो अजना और पवनजय की प्रेम कथा के एक प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान पर आधारित है। वह है वीरेन्द्रकुमार जैन का उपन्यास 'मुक्तिदूत', जो पवनजय के आत्मविक्रम और आत्मोपलब्धि की अद्य न करुण कथा है। पवनजय का पुरुष जब अपने 'अह' के घोर अधकार म मार्ग खोकर खूब भटक लेता है तब नारी के अमर त्याग, बलिदान और आत्म समपण की मूर्ति अजना उसे अधकार की कारा म मुक्त करा लेती है। उपन्यास में पवनजय का अजना के प्रति प्रथम पर अस्थायी आकर्षण, अपने निरादर को लेकर अजना के विषय मे उसकी धारणा, विफल सुहागरात, त्याग, आकुल स्मृति गुप्त मिलन अजना का कलकित होकर निष्कासन युद्ध, खोज, हनुमान जन्म पुनर्मिलन आदि घटनाओं का रोचक तारतम्य तो है ही, पर इस उपन्यास की आत्मा है उसका कथ्य जो प्रहस्त के इन शब्दों मे व्यक्त हुआ है "पवन, तुम स्त्री से भागकर जा रहे हो, तुम अपने से ही परामूत होकर आत्म प्रतारण कर रहे हो। मुक्ति स्वय स्त्री है, नारी को छोडकर और कहीं शरण नहीं है पवन।

मुक्ति परम प्राप्ति है, वह त्याग विराग नहीं है, पवन।' उपन्यास की संस्कृत गर्भित भाषा इसकी शक्ति भी है और सीमा भी। वह बरबस जयशंकर 'प्रसाद' की याद दिला देती है।

ऐतिहासिक उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा अब बहुत कम रह गई है। इस युग का वर्तमान सर्वग्रासी है, उसकी पकड इतनी मजबूत है कि उससे छूटकर अतीत में भ्रमण करने वाले उपन्यासकार को नई पीढी का लेखक पलायनवादी कहेगा। फिर भी, इक्के-दुक्के ऐतिहासिक उपन्यास देखने में आ ही जाते हैं जिनमें यादवचन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का संन्यासी और सुन्दरी तथा बनकाम सुनील के 'धूलि और नन्दन', 'सामन्त बीजगुप्त', 'इरावती' उल्लेखनीय हैं। 'सामन्त बीजगुप्त' का कथासूत्र लेखक ने वहा से पकडा है जहाँ भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' का अन्त हुआ है। 'इरावती' में लेखक ने जयशंकर प्रसाद की अधूरी कृति 'इरावती' को आगे बढाकर पूरा किया है।

आंचलिक उपन्यास

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी उपन्यास की मौलिक उदभावना है आंचलिक उपन्यास, जिसमे किसी विशेष प्रदेश या अंचल को लेकर उसके जन जीवन का यथार्थ एवं सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया जाता है। वैसे तो प्रत्येक उपन्यास में पृष्ठभूमि के रूप में सम्बन्धित देश, काल और परिस्थिति का चित्रण रहता है ताकि उसके कथानक की विविध घटनाओं को, पात्र और उनके चरित्र विकास को सही परिप्रेक्ष्य में देखा समझा जा सके। इस दृष्टि से तो प्रत्येक उपन्यास आंचलिक कहा जायगा। पर जिसे 'आंचलिक उपन्यास' कहा जाता है उसमे देश, काल प्रकृति और परिस्थिति का चित्रण पृष्ठभूमि बनकर उपन्यास के अन्य तत्त्वों का पोषक बनकर साधन के रूप में नहीं, बल्कि साध्य के रूप मे होता है। अन्य उपन्यासों की पृष्ठभूमि ही आंचलिक उपन्यास में अग्रभूमि बन जाती है, वही मुख्य होती है और उपन्यास के अन्य सभी तत्त्व उसके पोषक बनकर विकसित होते हैं। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास, जिस भी प्रदेश, जाति या अंचल को छूता है उसकी भौगोलिक स्थिति और वहा के लोगों की धर्म संस्कृति, रीति नीति, प्रकृति विकृति का ऐसा मूर्त और सांगोपांग चित्रण करता है कि उस क्षेत्र या अंचल का जन-जीवन अपनी सम्पूर्ण विविधता में साकार हो उठता है। वही नहीं, वह अपनी विशिष्टता में अनन्य भी बन जाता है।

वसे तो प्रेमचद न भी अपने उपन्यासो मे उत्तर प्रदश व ग्राम्य जीवन, विशेषत कृषक जीवन के असख्य सजीव और प्रभावोत्पादक चित्र प्रस्तुत किये है, पर उनके उपन्यासो को आचलिक नही माना जा सकता, क्योकि एक तो ये उपन्यास समूचे उत्तरप्रदेश के ग्राम्य-जीवन को लेत हैं, किसी विशेष गाव या अचल को नही—उनक किसी उपन्यास को पढकर यह नहीं बताया जा सकता कि उसमे उ होन अमुक गाव या क्षेत्र का विशद चित्रण किया है। दूसर, ग्राम्य-जीवन को सम्पूण विविधता म सागोपाग प्रस्तुत करना, उसकी प्रकृति विकृति का तटस्थ निरूपण करना उनका लक्ष्य नही। इन उपन्यासा म चरमोद्देश्य है, धमभीरुता, अज्ञानता, आर्थिक विपन्नता आदि के कारण ग्राम्य जनता का, विशेष-कर कृषक का, जो निरन्तर शोषण हो रहा है, उनके साथ जो सामाजिक और नतिक अन्याय हो रहा है, उसके विरुद्ध जोर की आवाज उठाकर जनमत तैयार करना। इस प्रकार ग्राम्य जीवन का चित्रण प्रेमचन्द के उपन्यासो का साधन रहा है, सिद्धि नही। तभी तो वे ग्राम्य जीवन के उसी रूप को चित्रित करते हैं जो उनके उद्देश्य की पूर्ति मे साधक हो। यही नही, अपन लक्ष्य की ओर बढत हुए वे ग्राम्य-जीवन की कई घटनाओ और पात्रो के चरित्र विकास को आवश्य-कतानुसार तोडते मरोडते भी रहते हैं।

पर आचलिक उपन्यास मे ऐसा नही होता। ऐसा हो तो वह उसकी त्रुटि ही मानी जायगी। आचलिक उपन्यास का एक-मात्र लक्ष्य ही यह होता है कि अपनी ओर से तनिक भी छेड छाड किये बिना ऐतिहासिक जानकारी के प्रकाश मे घटनाओ, व्यक्तियो और परिस्थितियो का इस प्रकार वैज्ञानिक अकन प्रस्तुत करते जाना कि उस अचल विशेष के जीवन और सस्कृति का सत्य उभरकर सामन आ जाय। आचलिक उपन्यास का आदश किसी व्यक्ति चरित्र का निरूपण नही, इसम जन जीवन का निरपेक्ष चित्रण होता है। आचलिक उपन्यास सामाजिक राजनीतिक अथवा किसी अन्य प्रकार के आदश या सिद्धात को आधार बनाकर नही चलता—उसका कोई सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य होता ही नही। इसका अभिप्राय यह नही कि वह धार्मिक विश्वासो, सामाजिक क्रातियो और राजनीतिक पहलुओ स बचकर चलता है। वह इन सबको लेता तो है पर उतना ही जितन से उस अचल के सर्वांगीण चित्रण म सहायता मिले। वह किसी सिद्धात या व्यक्ति चरित्र का निरूपण नही करता। सामूहिक जीवन, जन-जीवन, का तटस्थ चित्रण ही उसका आदश है।

हिन्दी साहित्य में आंचलिक उपन्यास का प्रादुर्भाव अचानक नहीं हो गया। वह वर्षों तक धीरे धीरे रूप और आकार ग्रहण करता रहा। पर स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले वह इसलिए नहीं पनप सका कि तब सारे देश की दृष्टि अनेकता में एकता देखने और ढूंढने की ओर थी। एकता में अनेकता की ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता था। स्वतन्त्रता-संग्राम में राष्ट्रीय एकता पर ही पूरा ज़ोर दिया गया था। फिर भी शिवपूजन सहाय की देहाती दुनिया, निराला की चतुरी चमार और रामवृक्ष बेनीपुरी की 'माटी की मूरतें' आदि रचनाओं में आंचलिकता के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जब देश की एकाग्रता भंग हुई और देशोद्धार की अपेक्षा आत्मोद्धार की रौ चली, राष्ट्र की एकता को फोड़कर विविध प्रदेशों, जातियों, वर्गों और धर्मों-संस्कृतियों की अनेकता प्रखर वेग में प्रस्फुटित हुई तब हर किसी का ध्यान अपने देश, अपने जाति-वर्ग, धर्म, संस्कृति के संरक्षण और विकास की ओर गया और इस दिशा में सचेष्ट प्रयत्न आरम्भ हुए। आंचलिकता के पनपने के लिए यह स्थिति अत्यन्त अनुकूल थी और आंचलिक उपन्यास की धारा पूर्ण वेग से बह चली। हिन्दी-उपन्यास में आंचलिक उपन्यास का अभ्युदय नागार्जुन के उपन्यास 'बलचनमा' से माना जाता है। यद्यपि उससे पहले अमृत लाल नागर के उपन्यास 'सेठ बांकेमल' और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के 'बहती गंगा' में भी आंचलिकता का आभास मिलता है, पर उसमें स्थानीय रंग के प्रयोग द्वारा रचना के शरीर पर आंचलिकता का लेप भर है, आंचलिकता उन रचनाओं की आत्मा में रची पची नहीं।

'बलचनमा' की पृष्ठभूमि लगभग वही रही है जो प्रेमचंद के उपन्यासों की थी। पर प्रेमचन्द की रचनाओं के मूल में लोकोदय की भावना थी जबकि इस उपन्यास का प्रयत्न रहा वर्गसंघर्ष का पूरी तन्मयता से यथार्थ चित्रण। वर्गसंघर्ष प्रेमचन्द के उपन्यासों में विशेषतः 'गोदान' में भी कम नहीं, पर सामूहिक चेतना के अभाव में ग्रामों में उनकी चुभन उतनी तीखी नहीं लगी जितनी नागार्जुन के इस उपन्यास में। मिथिला की विराट संस्कृति को अपना आधार बनाकर यह उपन्यास आत्मकथा शैली में एक युवक के संघर्ष भरे जीवन की कहानी प्रस्तुत करता है। बलचनमा 'गोदान' के गोबर का संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है जिसमें लेखक गहराई में उतरकर सर्वग्राही वर्ग संघर्ष की ऐतिहासिक व्याख्या के साथ साथ मिथिला के ग्राम्य जीवन की प्रकृति विकृति का और नई चेतना के

प्रवेश से वग सघप मे आई तीव्रता का यथाथ चित्रण करता है। 'बलचनमा' की क्षेपक कथा निश्चय ही थिगली सी लगती है, पर नागाजुन की आचलिक दष्टि धीरे धीरे पक्व होती गई है और 'बाबा बटेसरनाथ' तथा 'वरुण के बट' म आचलिक उपन्यास का अपेक्षाकृत निखरा हुआ रूप मिलता है। तो भी, नागाजुन का प्रगतिशील दष्टिकोण जहा इन रचनाओ की शक्ति ह उसका माक्सवादी आग्रह सह कमजोर भी कर दता ह। 'वरुण के बेट' मे मछुआरे की बेटी कम्युनिस्ट पार्टी का भाप् बन जाती ह।

मछुआरा के जीवन को उसकी सम्पूणता और विविधता मे चित्रित करन वाला एक और उपन्यास ह उदयशकर भट्ट का सागर, लहरें और मनुष्य जो बम्बई के पास के मछुआरो के गाव बरसोवा की कोली जाति की युवती के उथल पुथल भर जीवन की कहानी ह। यद्यपि आचलिक उपन्यास क रूप म ही यह रचना विख्यात हुइ ह, पर आचलिकता का परिपक्व रूप इसम भी नही मिलता। कोली जाति की युवती तो निमित्त भर ह आज की स्वच्छन्द और स्वाभिमानिनी नारी की जीवन भर की भटकन के चित्रण का। उपन्यास के उत्तराद्ध मे यही लडकी बम्बइ क नागरिक जीवन की एक नम्बर की छँटी युवती बन जाती ह। भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मया का चौरा' और राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का 'जगल के फूल', आचलिक उपन्यास के नये प्रयोग हैं। पर अनावश्यक विस्तार से सत्ती मया का चौरा' बिखर गया ह। अन्यथा इस उपन्यास की गणना श्रेष्ठ आचलिक उपन्यासा मे होती। इन उपन्यासा के अतिरिक्त रागेय राघव का 'कब तक पुकारू', देवन्द्र सत्यार्थी का 'रथ के पहिये', लक्ष्मीनारायण लाल का 'धरती की आँखें' आदि अनेक रचनाएँ है जिन्ह आचलिक उपन्यास की सज्ञा दी जाती ह, पर उनम भी आचलिक वातावरण न्यूनाधिक रूप म पष्ठभूमि का ही काम करता ह—उपन्यास का कथ्य आचलिकता को पार करके बहुत आगे बढ जाता ह। ऐसी स्थिति मे उन्हे मात्र आचलिक उपन्यास मानना भ्रामक होगा।

आचलिक उपन्यास के रूप मे फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास मला आँचल' को खूब ख्याति मिली ह। कुछ लोगो ने तो इसे 'गोदान' से भी श्रेष्ठ माना ह। रेणु' ने मला आँचल की रचना में सतीनाथ भादुडी की बगला कृति 'ढोडाय चरित मानस' का बडे कौशल से उपयोग किया ह। वसे मला आचल की भी औपन्यासिकता पुष्ट हुई ह। कथानक में प्रवाह ह, पाठक कही अटकता नही, ऊबता नही। इस उपन्यास की विशिष्टता स्थानीय बोलिया के सफल प्रयोग में ह। इसके अतिरिक्त

कायस्थ, राजपूत आदि विभिन्न जातियों और वर्गों के पात्रों को आधार बनाकर रेणु ने ऐसे शब्दचित्र खींचे हैं कि सन् १९४२ से लेकर '४८ तक उस गांव की सामाजिक और आर्थिक स्थिति, लोगों की बोल चाल, रहन सहन, रीति-नीति, धार्मिक विश्वास, नई राजनीतिक चेतना मूर्त्त हो उठती है। इस उपन्यास की विशिष्टता यह है कि इसमें देशव्यापी सामाजिक हलचलों और राजनीतिक आंदोलनों के प्रभाव से गांव की रीति-नीति में निरन्तर होते रहने वाले परिवर्तनों का विशद चित्रण तो हुआ है और पूरी ईमानदारी से हुआ है, पर ऐसा कहीं नहीं लगता कि लेखक ने किसी दल विशेष के साथ पक्षपात किया है, किसी विशेष सिद्धांत या विचार को पाठक पर थोपने की कोशिश की है। इस दृष्टि से उपन्यास का सन्तुलन अन्त तक बना रहा है। पर ऐतिहासिक संदर्भ में उस गांव का चित्रण वैज्ञानिक और कलात्मक अधिक है।

आंचलिकता की दृष्टि से रेणु का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' अधिक ईमानदारी से लिखा गया लगता है। इसमें 'मैला आंचल' के अभावों की पूर्ति की चेष्टा हुई दीखती है। अनेक अवान्तर कथाओं, किंवदन्तियों और लोक कथाओं की सुदृढ़ ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचना खड़ी की गई है। पर जित्तन की मेम मां की आत्म-कथा की उपलब्ध पाण्डुलिपि के रूप में मिश्र परिवार की जो कहानी प्रस्तुत की गई है उसमें कोसी अंचल की परती भूमि के विषय में पचचक्र, शिवेन्द्र मिश्र की जालसाजियों आदि का चित्रण जासूसी उपन्यासों की याद दिला देता है। इसमें पात्रों का चरित्र चित्रण 'मैला आंचल' से भी अधिक भावातिरेक लिये हैं। हिन्दी के अन्य आंचलिक उपन्यासों से अच्छा होने पर भी इसे सर्वांगपूर्ण आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता।

संक्षेप में, हिन्दी के सन १९६० तक के आंचलिक उपन्यास की यही कहानी है। आंचलिक उपन्यास विघटनयुग की उस चेतना की अभिव्यक्ति है जिसमें अपनी जाति वर्ग, धर्म संस्कृति के प्रति कट्टरता की चरमसीमा को छूने वाला मोह बढ़ जाता है, अपने अंचल विशेष की विशिष्टता और श्रेष्ठता के प्रति पक्षपात का भाव भर जाता है। ऐसी स्थिति में उपन्यासकार की दृष्टि विशदता की अपेक्षा संकुचन की ही संभावना रहती है और इस दृष्टि से संकोच की कोई सीमा नहीं। राष्ट्र से प्रदेश, प्रदेश से अंचल, अंचल से जाति, जाति से वर्ग विशेष तक सिकुड़ता सिमिटता उपन्यास अन्ततः अपनी तंग सीमाओं में यहां तक बंध सकता है कि उसकी संप्रेषणीयता उस अंचल विशेष के पाठकों तक, यदि कोई हो तो, ही सीमित

रह जाय, दूसरे शब्दों में वह सार्वकालिक और सार्वभौम उपन्यास का प्रतिलोम बनकर रह जाय। ऐसा होना आंचलिक उपन्यास के लिए ही नहीं, उपन्यास मात्र के लिए घातक हो सकता है। 'बलचनमा' और 'मैला आँचल' की भाषा को लेकर कई बार आवाज उठ चुकी है कि वह हर किसी पाठक के लिए सुगम नहीं और उन रचनाओं की आत्मा को पूरी तरह परखने में सबसे बड़ी रुकावट उनकी स्थानीय बोली ही है। यह निश्चय ही आंचलिक उपन्यास की कमजोरी मानी जायगी। आंचलिक उपन्यास की सफलता तो इसीमें है कि वह आंचलिकता के सहारे उपन्यास में यथार्थता की गहरी और मजबूत नींव डाले और उपन्यासत्व के सहारे यथार्थ को आंचलिकता के घेरे से निकालकर सार्वभौम बना दे। इस प्रकार आंचलिक उपन्यास, उपन्यास के विकास की एक जीवन्त प्रक्रिया बन जायगा और खड़े बँधे जल की क्षयग्रस्त स्थिति से बचा रहेगा।

अन्य उपन्यास

यहाँ हम उन उपन्यासों को ले रहे हैं जो स्पष्टतया पूर्वोक्त प्रवृत्तियों में तो नहीं आते, पर अन्यथा उल्लेखनीय हैं।

मन्मथनाथ गुप्त के उपन्यासों में विशेष उल्लेखनीय हैं—'अवसान', 'जय यात्रा', 'रिक्त', 'गृहयुद्ध', 'होटल डि ताज', 'दुश्चरित्र', 'काजल की कोठरी', 'दो दुनिया' और 'रैन बसेरा', जिनमें वर्ग और वर्ग के बीच, समाज और व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और व्यक्ति के बीच निरन्तर चल रहे संघर्ष का यथार्थ चित्रण मिलता है। गुप्तजी ने अपनी इन रचनाओं में धर्म की विसंगतियों, सामाजिक कुरीतियों और राजनीतिक स्वार्थों पर निर्मम प्रहार किये हैं। वे विभिन्न सम्प्रदायों को विभक्त करने वाली धर्म की दीवारें गिरा डालने के पक्ष में हैं। 'जय यात्रा', 'गृह-युद्ध' आदि उपन्यासों में उन्होंने धार्मिक विकृतियों को उघाड़ा है। अपने उपन्यास 'दो दुनिया' में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि देश का साम्प्रदायिक आधार पर विभाजन हो जाने पर भी दोनों ओर गरीबों और अमीरों की दो दुनिया पहले की तरह अलग अलग कायम हैं। गुप्तजी के उपन्यास कथ्य और कला की बारीकियों तथा दार्शनिक जटिलताओं से मुक्त, स्पष्ट और पारदर्शी कृतियाँ हैं। वे जो कहना चाहते हैं उसे सीधे बिना किसी हेर फेर के कह देते हैं।

अनन्तगोपाल शेवड़े ने अनेक उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'मृगजल' और 'ज्वालामुखी' विशेष उल्लेखनीय हैं। 'मृगजल' ऐसे चित्रकार की कहानी है जो जीवन-

भर कल्पना की उड़ानें ही भरता रहता है और भूलकर भी यथार्थ की धरती पर नहीं आता। इस कृति मे लेखक ने उच्चमध्य वर्ग के खोखले जीवन पर तीखे व्यग्य किये है और बताया है कि किस प्रकार उनका अहं विभिन्न रूप धारण करके उन्हें जीवन भर कुंठा और घुटन की चक्की मे पीसता रहता है। इनका बहुचर्चित उपन्यास 'ज्वालामुखी' मन् बयालीस की अगस्त क्रान्ति पर आधारित है। यह अनेक भारतीय भाषाओं में तथा अंग्रेजी में भी अनूदित हो चुका है।

देश के विभाजन के फलस्वरूप होने वाले साम्प्रदायिक दंगो की पृष्ठभूमि पर लिखा गया यज्ञदत्त शर्मा का उपन्यास 'इन्सान' भी उल्लेखनीय है। इसमे साम्प्रदायिकता के विकृत रूप का इतना हृदयविदारक चित्रण हुआ है कि पाठक के मन मे उसके प्रति तीव्र घृणा का भाव भर जाता है।

नौकरी पेशा आधुनिक नारी के जीवन की विडम्बना का बड़ा मार्मिक चित्रण उषा प्रियम्वदा के उपन्यास 'पचपन खम्भे, लाल दीवारें' मे हुआ है। इसमें अध्यापिका सुषमा के कुंठाओं और वर्जनाओं भरे जीवन की कहानी है, जो नारी-सुलभ सभी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं का गला घोटकर छोटे भाई बहनों के हित में थोथे आदर्श के सहारे अविवाहित जीवन अपना लेती है और विवाह की अवस्था निकल जाने पर पछताने लगती है जिससे उसके समूचे व्यक्तित्व में कटुता और निरर्थकता भर जाती है।

कमलेश्वर के उपन्यास 'डाक बंगला' और 'एक सड़क सत्तावन गलियां' आकार मे छोटे होने पर भी उल्लेखनीय हैं। 'एक सड़क सत्तावन गलियां' में कस्बाती जीवन का संवेदनशील चित्रण मिलता है।

श्यामू संन्यासी के उपन्यास 'उत्थान' मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की सामाजिक स्थिति का, बदलते मानव मूल्यों का और वर्गवैषम्य के विरुद्ध पनपती चेतना का सजीव चित्रण हुआ है। गोंड आदिवासियों के जीवन पर राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' का उपन्यास 'सूरज किरण की छांव' एक अच्छा प्रयास है। बम्बई की चमकीली भड़कीली ज़िन्दगी के भीतर ही भीतर पलने वाले गन्दे और कुत्सित जीवन का चित्रण मिलता है शैलेश मटियानी के उपन्यास 'बोरीवली से बोरी बन्दर तक' में। कृष्णचन्द्र भिक्खु का उपन्यास 'आदमी का बच्चा' और गिरिधर गोपाल का 'चांदनी का खंडहर' भी अपनी प्रभावोत्पादकता के लिए उल्लेखनीय हैं।

३
शिल्प-विकास

इसी बीच हिन्दी उपन्यास के शिल्प मे भी अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं जिनके मूल मे निरन्तर बदलते हुए जीवन मूल्य और उपन्यास के प्रति उपन्यास कार का विकासमान दृष्टिकोण—भावनात्मक आधार को छोडकर बौद्धिक धरातल को दृढता से पकडते चलना—रहा है। कथानक तो दूर, घटना तक की उपन्यासकार की सकल्पना बदल गई। चरित्र चित्रण, जो अब तक उपन्यास की धुरी माना जाता था, उपन्यास म सीधे प्रवन करता मे बचता हुआ रूप बदलकर आने लगा। इससे चरित्र चित्रण के अनेकानेक टेकनीको का उदय हुआ। व्यक्ति, समाज और युग की समस्याओ का अब प्रच्छन्न रूप से नही सीधे लिया जाने लगा। देश, काल, परिस्थिति और वातावरण जो पहले पृष्ठभूमि का काम करते थे अब उपन्यास के आलम्बन बनने लगे। उपन्यास की भाषा भी मानक हिन्दी न रहकर प्रादेशिक बोलियो की ओर झुकने लगी। सबसे बडी बात तो यह हुई कि उपन्यासकार अपनी रचना को अब प्रभावोत्पादक बनाने के बजाय स्वाभाविक और विश्वसनीय बनाने की ओर प्रवत्त हुआ, पाठक के हृदय को छूने की अपेक्षा उसके मस्तिष्क को झकझोरने लगा, अपनी कृति को कोरी कला के सहारे न छोडकर उसे दृढ वज्ञानिक आधार प्रदान करने लगा।

कथानक

उपन्यासकार यह प्रयत्न करने लगा कि वह भी स्रष्टा की तरह अपनी सृष्टि मे, अपनी रचना मे, महसूस चाहे सवत्र किया जाय पर दीखे कही नही। उपन्यास के कथानक पर इस प्रवत्ति का सीधा प्रभाव पडा। उपन्यासकार अपने को कथा के सजन तक सीमित रखने लगा और उसके कथन (नरेशन) का भार पात्रो पर टालने लगा। फलत उपन्यास के धरातल से लेखक का वह चिरपरिचित रूप लुप्त होने लगा जिसमे वह सवव्यापी और सवत्र बनकर प्रत्येक व्यक्ति और स्थिति का वाह्याभ्य तरिक चित्रण करता हुआ इतिहासकार की शली मे कथा के बिखरे सूत्रो मे तारतम्य बैठाता और कडियो को जोडता जाता था।

जब तक लेखक अपने उपन्यास के स्रष्टा के साथ साथ इतिहासकार के रूप म कहानी का 'नरेटर' भी बना रहा, कथानक थोडी बहुत अस्वाभाविकताओ के

बावजूद मुखर रहा—लेखक और जगत् की गहरी अन्विति और द्वन्द्व नहीं हुआ। जगत् की गति इतनी जटिल इसीलिए हो गई कि जो इसका द्रष्टा है और स्रष्टा है। वे ना। नये हैं या और हैं कुछ बताता नहीं और जो इसकी व्याख्या प्रस्तुत करने का दावा या भ्रम पाले हैं वे इसके स्रष्टा न होकर वे सामान्य प्रस्तार है। इस प्रकार उपन्यास का स्रष्टा और द्रष्टा अलग व्यक्ति हो जाने से उपन्यास का प्रस्तुतीकरण, उसका कथाकार का जीवन और जगत् के गहन बहुमुखी और जटिल होता गया।

आत्मकथा—कथाकार के कहने का भार पात्र पर आ पड़ा तो उपन्यास किसी दूसरे की जबानी के बजाय आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। अपने जीवन के किसी द्वार पर पहुँचकर या विराम की किसी एक अवस्था पर रुककर उपन्यास का नायक या नायिका आपबीती सुनाने लगता है और संस्मरण के सहारे अपने अतीत की ओर लौटता है और उसके विभिन्न विश्लेषण द्वारा अपनी वर्तमान उलझनों की व्याख्या करता है, जैसे—जैनेन्द्र के 'सुनीता' और 'त्यागपत्र', नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल'। आत्मकथा शैली की अपनी सीमाएँ हैं। इसके द्वारा कोई पात्र अपना ही बाह्याभ्यन्तरिक चित्रण प्रस्तुत कर सकता है और वह भी एक सीमा तक। पर उसे अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के बहिरंग (आउटसाइड) वर्णन तक ही सीमित रहना पड़ता है। इसलिए जहाँ एक से अधिक पात्रों के परस्पर घात-प्रतिघात या क्रिया-प्रतिक्रिया से कथानक विकसित होता हो, वहाँ आत्मकथा शैली रचना को कमजोर कर देती है। इस स्थिति से बचने के लिए एक कथानक का निर्माण हुआ जिसमें प्रत्येक प्रमुख पात्र अपनी-अपनी आपबीती सुनाता हुआ अपने अतीत के विश्लेषण द्वारा अपनी वर्तमान समस्याओं के कार्यकारण के सूत्र ढूँढ़ता जाता है। पात्रों की आपबीतियाँ, आत्मकथाएँ अलग-अलग होते हुए भी प्रच्छन्न रूप से एक संकेत-सूत्र लिये रहती हैं जिसके सहारे उनकी अनेकता में एकता खोजी जा सकती है। इन आत्मकथाओं की अनेकता में से एक कथानक खोज निकालने का भार उपन्यासकार अपने ऊपर न लेकर पाठक पर छोड़ देता है। उपन्यासकार अब उसे अपनी उँगली पकड़ाकर उपन्यास की पगडंडी पर नहीं चलाता, बल्कि उपन्यास के मुख्य द्वार पर लाकर उस चक्रव्यूह में धकेल देता है। पाठक उस कथानक की भूलभुलैया में मार्ग खोकर भटकने लगता है तो यह उपन्यास का दोष नहीं, पाठक में पर्याप्त [illegible] के अभाव का सूचक माना जाता है।

अनेक कथाओं में एक कथा —अनेक आत्मकथाओं के सहारे एक कथानक की व्यंजना—इस शैली का उदाहरण है प्रभाकर माचवे का उपन्यास 'परन्तु' और भगवतीप्रसाद वाजपेयी का 'सपना बिक गया'। विविध कथाओं के सहारे विशृंखल और तारतम्यहीन कथानक के निर्माण की चरम परिणति मिलती है—धर्मवीर भारती के 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' और शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' के उपन्यास 'बहती गंगा' में। पहली रचना की भूमिका में भारती ने पाठकों को विश्वास दिलाना चाहा है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है—और लेखक के सत्य को पाने के लिए पाठक बेचारे का सिर चकरा जाता है कि ऐसा कैसे है! इसी प्रकार, दूसरी रचना की भूमिका में लेखक ने अपने शिल्प चमत्कार का स्पष्टीकरण यों दिया है : "'बहती गंगा' में सत्रह तरंगें हैं—एक-दूसरे से अलग, परस्पर स्वतन्त्र, परन्तु धारा और तरंग-न्याय से आपस में बँधी हुई भी हैं।" इसके पाठक जानते हैं कि 'धारा तरंग न्याय' से पाठकों के साथ कितना अन्याय हुआ है।

उपन्यास में नरेटर की उपयोगिता को स्वीकारते हुए और उसके अभाव में घुस आने वाली दुरूहता के निवारण के लिए नागार्जुन के 'बाबा बटेसरनाथ', लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'खाली कुरसी की आत्मा', रांगेय राघव के 'हुजूर' में अनेक प्रयोग दृष्टिगोचर हुए। बाबा बटेसरनाथ में नरेटर का स्थान बट वृक्ष को लेना पड़ा। 'खाली कुरसी की आत्मा' में सारी कथा कुर्सी की जबानी कही गई है जो अपने सम्पर्क में आने वाले अनेक व्यक्तियों की पोल खोलती जाती है और इस प्रकार का ताना बाना बुनती चलती है। 'हुजूर' में एक कुत्ता, जिसे अनेक मालिकों के पास रहना पड़ता है, अपनी आत्मकथा के रूप में नौकरशाही और तथाकथित भद्रवर्ग की नैतिकता पर करारी चोट करता है। इन प्रयोगों से कथानक का व्यंग्य तो खूब उभरकर आया है, पर बट वृक्ष, कुर्सी और कुत्ते का मानवीकरण कहाँ तक समीचीन ठहराया जा सकता है—विशेषतः आज के युग में।

कहानी आगे से पीछे की ओर : उपन्यास के कथानक की कालावधि का संकोच इस युग के शिल्प विकास की एक और उपलब्धि है जिसमें जीवन के किसी अत्यल्प काल—घंटा, दिन, सप्ताह आदि—में ही पूरा जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है। परिणामतः उपन्यास की कहानी पीछे से आगे नहीं, आगे से पीछे की ओर चलने लगती है। स्वतन्त्रता-पूर्व के हिन्दी उपन्यास में 'शेखर : एक जीवनी' इस शैली का उत्तम उदाहरण है। आलोच्यावधि में इससे मिलता-जुलता उदाहरण

है जनेद्रका उपयास व्यतीत', जिसका नायक अपने जमदिन पर अपने जीवन की व्यथता पर मोचता सोचता अपने समूचे अतीत का विवेचन विश्लेषण कर डालता है। नरेश महता के 'डूबत मस्तूल' की कथा अवधि भी कुल एक दिन है जिसम नायिका रजना स्वामीनाथन को अपना पूव प्रेमी अकलक मानकर अपनी मनोदशा क चित्रण क बहान अपनी सारी जीवन गाथा सुना देती है। गिरधर गोपाल क चाँदनी और खडहर की कालावधि भी कवल चौबीस घटे है जिसम नायक वसत विलायत स डाक्टरी पास करक घर लौटने पर चौबीस घटे म ही अपन और अपने परिवार के भूत वतमान और भविष्य का मूर्तिमान कर लेता है। राजेद्र यादव के उखडे हुए लोग की कालावधि भी एक सप्ताह है, जिसम हफ्ते भर की घटनाओ म नायक नायिका के जीवन विस्तार का बाघ दिया गया है।

डायरी कथानक की टूटी कडिया जोडने क लिए उपयास के कथानक मे डायरी शली का प्रयोग तो पहले भी किया जाता था, पर इधर पूर का पूरा उपयास डायरी के भीतर प्रस्तुत करने के भी कई प्रयत्न हुए, जिनम उल्लखनीय हैं, जनेद्र का जयवधन, डा० दवराज का अजय की डायरी' और राजेद्र यादव का 'शह और मात'। 'जयवधन' विदेशी सवाददाता हूस्टन की डायरी क रूप म प्रस्तुत किया गया है जो सप्ताह भर के लिए भारत आया है और इस अल्पावधि म ही राज्य के शीपस्थ व्यक्ति 'जयवधन' का समूचा पा लेना चाहता है। शह और मात' तथा 'अजय की डायरी' म नायक और नायिका दोना ही डायरिया लिखते हैं और बीच-बीच म एक दूसरे को अपनी डायरी पढा भी दते हैं। यह तो फिर प्रकारा तर स आत्मकथा शली ही हुई। वास्तविक डायरी के रूप म तो जयवधन' ही प्रस्तुत हुआ माना जायगा।

विविध इनके अलावा सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का उपयास 'सोया हुआ जल' सिनेरियो शिल्प मे लिखा हुआ एक नवीन कथा प्रयोग है तथा राजेद्र यादव का प्रत बोलते हैं' म रेडियो प्रसारण शली का सहारा लिया गया है। इसकी सारी कथा रेडियो के माध्यम स एक रूपक बनकर प्रस्तुत हुई है। इनके अतिरिक्त एक से अधिक लेखकों की सामूहिक रचना के रूप म 'बारह खम्भा', ग्यारह सपना का दश' और 'एक इच मुस्कान' भी टेकनीक की दष्टि स उल्लखनीय हैं।

चरित्र-चित्रण

प्रेमचद युग क दढ सकल्प वाले बहिमुखी पात्रा क स्थान पर सत्वहीन

आत्मकेन्द्रित और ढुलमुल पात्रों का प्रवेश हिन्दी-उपन्यास में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बहुत पहले ही हो चुका था और ऐसे पात्रों के भीतर की अतल गहराइयों को नापता हुआ उपन्यासकार मनोविज्ञान की अधुनातन उपलब्धियों के सहारे उन्हें ढुलमुल बनाने वाले कारणों की खोज में लीन हो चुका था। पर स्वतन्त्रता तक पहुँचते पहुँचते वह निरपेक्ष सत्यों को पकड़ लाने की धुन में व्यक्ति मानस में इतना गहरा उतरता गया कि सामाजिक धरातल उससे लगभग छूट ही गया था और उसके पात्र जीवन और जगत में प्रायः भिन्न बने लोगों से भिन्न असामान्य (एब्नामल) व्यक्ति दीखने लगे थे।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद, हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास में एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् ढुलमुल पात्रों को पुनः बढ़ावा मिला। इन पात्रों की बड़ी समस्या यह रही कि वे जो करना चाहते, ठीक वही उनसे नहीं हो पाता और जो वे नहीं करना चाहते, वह उनसे बरबस हो जाता, जिसके वे निकट आना चाहते, उससे कोसों दूर हटते जाते हैं और जिससे दूर हटना चाहते हैं, अपने को लाख रोकने पर भी बरबस उसीकी ओर खिंचते चले जाते हैं। उनके भीतर अचेतन में कहीं बहुत गहरे द्वन्द्व मच रहा होता है जिसे वे जानते नहीं, पर जो उनके भाव, विचार और आचार को प्रभावित करके बाह्य परिस्थिति से उनका मेल नहीं बैठने देता और उनके सभी चेतन सङ्कल्पों को व्यर्थ कर देता है। इन पात्रों के भीतरी संघर्षों के उद्घाटन के लिए, उनकी अचेतन प्रवृत्तियों के विश्लेषण के लिए, उपन्यासकार मनोविश्लेषण की सभी अधुनातन प्रणालियों का सहारा लेता है जैसे—मुक्त आसंग (फ्री एसोसिएशन) आत्मविश्लेषण, स्वप्नविश्लेषण, सम्मोहविश्लेषण, प्रत्यवलोकन (रिकोलेक्शन), पूर्ववृत्तात्मक प्रणाली (केस हिस्टरी मैथड), उद्धरण शैली (कोटेशन्स) आदि।

जैनेन्द्र के उपन्यास 'जयवर्धन' में मनोविश्लेषण की मुक्त आसंग टेक्नीक का सांगोपांग प्रयोग हुआ है, जिसमें विल्बर हुस्टन एक अनुभवी कुशल मनोविश्लेषक के रूप में बार बार नायिका इला को उसके विगत जीवन के पचीदा क्षणों में लौटा ले जाता है और वह अपने अतीत को पुनः भोगती हुई अपनी अनुभूतियों का वर्णन करती जाती है। हुस्टन इला द्वारा बताई गई इन अनुभूतियों के निष्पक्ष और निर्मम विश्लेषण द्वारा उसकी वर्तमान मानसिक उलझनों के वास्तविक स्वरूप को पहचानने और उसके आधार पर इला-जयवर्धन सम्बन्ध स्थिर करके नायक जयवर्धन का निजत्व पाना चाहता है। अपना शुद्ध मनोविश्लेषक रूप व्यक्त

करते हुए वह कहता है, "मुझे आपका कर्म विवरण नही चाहिए वह तो उजागर है ही, आया हूँ तो अतरग लेने आया हूँ मैं जीवन का विद्यार्थी हू और उसीके नियमा की खोज मे हूँ।'

'सुखदा' और 'व्यतीत' आत्मकथा शैली मे है, जिसके कारण उनम मनोविश्लेपक की आवश्यकता तो नही पडी, पर मनोविज्ञान सम्मत आत्मविश्लेपण की प्रणाली यहा भी सागोपाग रूप मे अपनाई गई है। आत्म विश्लेपण और मनोविश्लेपण की टेक्नीक मे कोई तात्विक भेद नही, क्योकि प्रणाली दोना की ही मुक्त आसग की है। मनोविश्लेपण मे मुक्त आसग को मनोविश्लेपक लिपिवद्ध करता है और आत्मविश्लेपण म यह काम पात्र स्वय कर लेता है। 'जयवधन' क मुक्त आसग हूस्टन की डायरी मे लिखे मिलत है, और 'सुखदा' और व्यतीत म सुखदा और जयन्त की जबानी आपबीती के रूप म।

मनोवज्ञानिक उपन्यासो म स्वप्न विश्लेपण द्वारा भी पात्रा के मानसिक सघर्षो को उघाडा गया है। पहले पात्रा क जटिल स्वप्ना का वणन किया जाता है और फिर विश्लेपण द्वारा पात्रा के भीतर गहरे मे मचल रह अचेतन द्वन्द्वा का सही रूप आका जाता है। जनन्द्र के उपन्यास 'सुखदा मे सुखदा के भीतर बहुत ही गहरे मे 'सैक्स और 'कान्शेन्स' म चल रहे जटिल द्वन्द्व को उस स्वप्न के रूप म उघाडा गया है, जब वह रात को बडी देर से हरीश दादा के यहा से आई थी और सोने से पहले पति पत्नी मे जोर की झडप हुई थी, जिसके परिणामस्वरूप पति रात भर बाहर कुर्सी पर पडा रहा था। इसी प्रकार, 'नदी के द्वीप म रेखा का उस समय का स्वप्न बहुत ही व्यजक है जो उसने भुवन के फौज म भरती हो जाने के बाद देखा था और जिसका उल्लेख उसने भुवन का लिखे अपन एक पत्र म किया था। इस स्वप्न के माध्यम से लेखक न रेखा के अवचेतन की निचली परता म मचल रही कितनी कामनाआ और आशकाआ को प्रतीको के सहारे व्यक्त किया है जो जागतावस्था म उसके निकट अचिन्त्य थी। इसी दृष्टि स इलाचन्द्र जोशी क उपन्यास जहाज का पछी के नायक का वह स्वप्न उल्लखनीय है जा उसने लीला का छोडने से पहले की रात को देखा था। इसके अतिरिक्त, पात्रा की मानसिक गुत्थिया का व्यक्त करने के लिए अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासा म भी स्वप्ना का सहारा लिया गया है।

इलाचन्द्र जाशी के उपन्यास 'जिप्सी' म सम्मोह विश्लेपण का प्रयाग हुआ है जिसम नायक नपेन्द्र नायिका मनिया पर सम्मोहन क्रिया (हिप्नाटिज्म) क

प्रयाग द्वारा उसके अतीत का ही नही समझता, बल्कि सम्मोहनोत्तर सुझावों (पास्टहिप्नाटिक सजेशन्स) द्वारा उसके चरित्र का अपनी इच्छानुसार विकसित करने का भी प्रयत्न करता है। बाद मे तो वह नृपेन्द्र की इच्छा शक्ति से चालित होने से इन्कार कर देती है, पर इसी कला के सहारे सिलविया उसे अपने पीछे लगा लेती है। इन दोनो के सम्मोह से छूटकर ही वह स्वतन्त्र रूप से विकसित हो पाती है। हिप्नाटिज्म के विषय मे जोशी जी अपने उपन्यास 'जिप्सी' मे इस निष्कर्ष पर पहुँचने हैं कि 'हिप्नॉटिज्म की जो कला वास्तविक रूप मे प्रभावोत्पादक सिद्ध होती है वह किसी के सिखाए से नही आती, कुछ विशिष्ट बाह्य नियमो के यथारूप पालन से भी वह सच्चे रूप मे फलित नही होती। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे कुछ विशेष असाधारण क्षण ऐसे आते हैं जब अन्तश्चेतना का कोई विशेष सुप्तभाव सहसा स्वत जागृत हो उठता है और इस उदात्त अवस्था मे वह इच्छित व्यक्ति पर जैसा भी प्रभाव डालना चाहता है उसमे निश्चित रूप से सफल होता है। तब जो भी आदेश उसके भीतर से निकलता है, उसे अमान्य करने की शक्ति किसी विरले योगनिष्ठ व्यक्ति मे ही होती है।

शब्दसहस्मृति परीक्षा (वडएसोसिएशनटस्ट) के सहारे भी पात्रो की अचेतन गुत्थियो को खोलने का प्रयत्न हुआ है। पात्र जिन शब्दो को सुनकर या पढ कर चौंक पडता है उनके सहारे पात्र की मानसिक उलझनो को पकडने का यत्न किया जाता है। जो शब्द पात्रो के भीतर दु खद अनुभूतियो को उद्दीप्त करते हैं उनके सहारे भी पात्रो की मानसिक उलझनो को पहचाना जा सकता है। ऐसे शब्दो को पढने या सुनने ही पात्र की तुरन्त ऐसी प्रतिक्रिया प्रकट होती है कि उसके प्रति भीतर तक व्याप्त अटक का पता चल जाता है। इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास 'जिप्सी' के नृपेन्द्र पर 'नीरू' शब्द जादू का असर करता है। उसे सुनते ही वह अपने बचपन मे पहुच जाता है और उस काल की अनुभूतियो को पुन भोगने लगता है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के एक गीत के 'गंगा यमुना मे आँसू जल' शब्द सुनते ही 'जहाज का पछी' की लीला के भीतर से भावो का उच्छ्वास पूरे जोर से उमडने लगता है और उसकी आँखो से उसी समय आँसू टपकने लगते हैं।

उद्धरण शैली

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के उपन्यासो मे स्थान-स्थान पर दूसरो के

गद्य पद्यांश बड़ी प्रचुरता से उद्धृत किये जाने लगे हैं। पात्र अपनी बात सीधे न कहकर बार-बार दूसरा के गद्य पद्यांशा का गुनगुनाने लगते हैं। इस उद्धरण प्रवृत्ति पर चर्चा भी खूब हुई है और इसे प्राय लेखक द्वारा पाण्डित्य प्रदर्शन की संज्ञा देकर उड़ा दिया गया है। इसमे सदेह नही कि कुछ रचनाओ मे उद्धरणा की बहुलता इसलिए ही हो गई है कि लेखक अपना बहुमुखी ज्ञान बघारने के मोह का सवरण नही कर सका है। पर मनोवैज्ञानिक उपन्यासा म यह प्रवृत्ति चरित्र चित्रण की एक विशिष्ट प्रणाली के रूप मे भी अपनाई गई है। मनोवैज्ञानिका का कहना है कि मनुष्य की साधारण से साधारण क्रिया भी अकारण नही होती। उसके बीज पहले से ही व्यक्ति के अचेतन मे होते हैं और अनुकूल अवसर पाते ही अकुरित हो उठते हैं। फिन्ट नाम के एक मनोवैज्ञानिक ने तो यहा तक सिद्ध कर दिया है कि किसी का मुँह से सीटी बजाना या कुछ गुनगुनाना, किसी गीत की अधूरी तान छेड़ना, किसी गद्य या पद्य के अश को दोहराना आदि भी अकारण और निरर्थक नही होता। इस क्रिया का अर्थ उसके अपने चेतन मे चाहे न आया हो, उसके द्वारा उस समय उसी अश को उद्धृत करना, किसी दूसरे को नहीं, उसकी अचेतन प्रेरणाओ के कारण ही होता है। इसलिए, उन गीतो, गद्य-पद्यांशो मे उन्हे चुनने वाले अचेतन प्रेरको को खोजा जा सकता है और इस प्रकार उसके तल मानस मे व्याप्त उथल-पुथल को पकड़ा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त, पात्र कई बार एक दूसरे के प्रति अपनी कोमल भावनाएँ सीधे अपने शब्दा म व्यक्त न करके दूसरे की रचनाओ का सहारा लेकर व्यक्त करता है। 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' मे उद्धरण शैली का खूब प्रयोग हुआ है। अपनी इस मजबूरी का व्यक्त करते हुए उपन्यास का नायक भुवन इसका या स्पष्टीकरण देता है "मान लीजिए कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है। उसका प्रेम एक तथ्य है। आप बडी असानी से कह सकते ह कि 'क' 'ख' से प्रेम करता है, यह कह देना कितना आसान ह और 'मैं तुमसे प्यार करता हूँ' यह कह पाना कितना कठिन—कितना 'पनफुल' क्योकि एक तथ्य है और दूसरा सत्य—और सत्य न कहना आसान है और न सहना आसान है।" इस प्रकार 'नदी के द्वीप' म भुवन और रेखा के प्रेम निवेदन दूसरो की 'कोटेशन्स' के सहारे ही होता है। यह तो हुआ शैली का स्वाभाविक प्रयोग, पर ऐसी रचनाओ की भी कमी नही जिनम कोटेशन्स ठूस-ठूस कर इतने भर दिए जाते हैं कि पाठक बेचारा चकरा जाता है। प्रभाकर माचवे के उपन्यासा म यह प्रवृत्ति बडी प्रचुरता से पाई जाती है,

विशेषत 'द्वाभा' म।

चरित्रचित्रण की दृष्टि से स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के उपन्यास की उल्लेखनीय घटना है नायक नायिका हीन उपन्यास। इनका केन्द्र कोई एक व्यक्ति, स्त्री या पुरुष नहीं, कोई विशेष समस्या अथवा किसी वग या जाति, या प्रदेश या अचल रहा है और उसके वास्तविक एव निमम चित्रण मे उपन्यास क पात्रा, उनके जीवन की विविध घटनाओं अथवा स्थितियो का प्रयोग साधन के रूप मे किया गया है। उदाहरणाथ, भारती का 'सूरज का सातवा घोडा', फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मला आचल' तथा 'परती परिकथा' आदि।

भाषा

हिन्दी उपन्यास की भाषा के उत्तरोत्तर सशक्त और समथ होते जाने की जो परम्परा बन चुकी थी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी वह कायम रही, बल्कि कहा जा सकता है—पुष्ट ही हुई। इसका अधिकतर श्रेय मनोवैज्ञानिक उपन्यास का है। बहिर्जगत की अपेक्षा अन्तजगत् तो समझना कठिन है समझकर अभिव्यक्त करना तो और भी कठिन होता है। इसलिए, मन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रिया प्रतिक्रियाओ का समझने के साथ-साथ उन्हे पूरी तरह अभिव्यक्त करने की दिशा मे भी उपन्यासकार को जोर लगाना पडा। मानव मन की गूढता और जटिलता का पकडकर व्यक्त करने म भाषा उत्तरोत्तर व्यजक होती गई। व्यजकता स काव्यात्मकता और अनक बार जटिलता भी आ गई।

उपन्यासकार ज्यो ज्यो मन की गहराइयो म उतरता जाता है, त्यो त्यो उसकी भाषा मे व्यजकता, काव्यात्मकता और प्राय दुरूहता बढती जाती है, सरल बनाने के लाख प्रयत्नो क बावजूद वह गूढ होती जाती है। उदाहरणाथ, जनेन्द्र के उपन्यास 'सुखदा' का वह स्थल लें जिसमे वह अपने उस स्वप्न का वणन करती है जिसम उसका मूल अत सघष मनक जाता है। यहा द्रष्टव्य यह है कि ऊपर से अटपटी दीखने पर भी भाषा चेतना क विभिन्न स्तरा पर प्राप्त हो रही अनुभूति को बडी सफाई म पकड रही है—"सोई न थी, पर जगी हुई भी न थी। उस हालत म मैंने अनुभव किया कि कोई मरा तकिया टटोल रहा है। मर मन म अनिश्चय था। मैं और भी सोई बन गई, यानी मैंने अपने को भी न जानने दिया कि मैं सोई नहीं हूँ। उस हाथ न तकिय के नीचे कुछ रखा। सोई हुई मुझ को जाने किसने बता दिया कि वह पत्र है ।" अब अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' का

भी एक स्थल लें जिसमें भाषा अपनी व्यंजकता में काव्यात्मक हो उठी है। गौरा के बारे में सोचता हुआ भुवन अपनी डायरी में लिखता है, "तुमने मेरी बात नहीं समझी थी तुम्हारे लिए नहीं, जिसका भविष्य आगे है, भविष्य जो सुनहला हो जिसमें हँसी हो, बालारुण की आभा हो, आलोक हो, मैं जैसे तमिस्रा का पोष्य पुत्र हूँ—इसीलिए आलोक को पूजता आया हूँ, कभी दूर से जैसा कि ठीक है कभी निकट से जैसा कि विपज्जनक है, कभी छूने को ललचाया हूँ, जो महान् मूर्खता है क्योंकि छूने से आलोक बुझ जाता है।"

भाषा शैली की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में कुछ नए प्रयोग भी हुए। दूसरों की कथनी के सहारे अपने भावों को अभिव्यक्त करने की सुविधा ने उद्धरण शैली को जन्म दिया, जिसमें पात्र दूसरों के गद्य पद्यांशों को गुनगुनाता हुआ उनमें व्यक्त भावनाओं के सहारे अपनी मन स्थिति व्यक्त कर देता है। इस प्रकार, उद्धरणों के बहाने उपन्यास में कविता का प्रवेश हुआ। पात्र कवि हुआ तो अपनी कविता पढ़ने या गुनगुनाने के अवसर निकाल लेता है। बहरहाल, दोनों स्थितियों में लेखक की कविताएँ भी उपन्यास में खपने लगीं। 'शेखर एक जीवनी' से इस शैली का प्रयोग आरम्भ हुआ था। 'नदी के द्वीप' में इसका और भी खुलकर प्रयोग हुआ। प्रभाकर माचवे ने अपने उपन्यासों में इसे 'अति' तक पहुँचा दिया। ये उद्धरण हिन्दी के गद्य-पद्यांशों तक ही सीमित न रहे। उन सभी भाषाओं के उद्धरण दिए जाने लगे जो उपन्यास के पात्रों को, बल्कि यों कहें कि उपन्यासकार को, आती थीं। इन उपन्यासकारों की तरह सभी पाठक तो बहुभाषाविद थे नहीं इसलिए, उपन्यास के अनेक अंश उनकी समझ से परे रह जाते थे जिसके कारण कथ्य उन तक अधूरा और असंबद्ध रूप में ही पहुँचता था। उदाहरणार्थ निम्न लिखित स्थल देखें —

(क) 'आई सैड टू माई सोल बी स्टिल वेट विदाउट होप
फार होप वुड बी होप आफ द राग थिंग,
वेट विदाउट लव, फॉर लव वुड बी लव आफ द राग थिंग,
देयर इज येट फेथ, बट द फेथ एंड लव एंड द होप आर आल द
वेटिंग।'

('नदी के द्वीप', पृ० २१०)

(ख) 'आज मैंने अपने जीवन के लिए अरविन्द की ये पंक्तियां मोटो की तरह से गिरह बांध लीं है

"Know thyself next as the workers, know therefore body to be a knot in matter and thy mind to be whirl in universal mind know last the master to be thyself Be one with that in thy being commune with that in thy consciousness"

(साचा, प० ५६, प्रथम सस्करण)

(ग) 'आछे दु ख, आछे मृत्यु विरह दहन लागे

o o o

कुसुम झरिया पड़े कुसुम फूटे
नाही क्षय, नाही शेष, नाहि नाहि दैन्य लेश
सेई पूर्ण तार पाय मन स्थान मागे

('डूबते मस्तूल', पृ० ६२)

(घ) तूलह तुम्पु पाल विनयह मययेनुम
तोक्किनुद चिक्कि नालुम्
चुत्तेर कादिनड मललेह पजेन
चूरमिटटरिव येल्लाम् ।'

('द्राभा', पृ० १२१)

(ङ) असहद्दिठए वितहमण्ठिए व्व
हि अ आम्मि जाणि व सेई।
अत्थविमेसो सा जअइ
विकडक इगाअरा वाणी।।'

('साचा', पृ० १५२)

हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास मे तो उद्धरणो के बहाने ही हिन्दीतर भाषाओ का प्रवेश हुआ था, पर आचलिक उपन्यास के अभ्युदय स उपन्यास को भाषा न एक और मोड लिया। अचल विशेष के वातावरण को उभारने क लिए पात्रो के कथोपकथनो की भाषा हिन्दी के बजाय उस अचल की बोली ही हो गई। उपन्यास आत्मकथा शैली का हुआ तो पूरे-का पूरा उपन्यास ही उस अचल विशेष की बोली म प्रस्तुत किया गया। नागार्जुन के 'बलचनमा' रेणु के 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' तक पहुँचते-पहुँचते आचलिक उपन्यास की भाषा हिन्दी क सामान्य पाठक की समझ से परे हो गई और पाठक वग यह सोचने के लिए मजबूर हो गया कि इन उपन्यासो की भाषा को हिन्दी कैसे कहा जा सकता है।

अब तो यह प्रवृत्ति अपने आप मद पड गई है पर एक समय आ गया था कि हिन्दी के उपन्यास म हिन्दीतर स्वदेशी और विदेशी भाषाओ एव बोलिया की अन्धाधुन्ध भरती होते देख, पाठक त्रस्त होकर पूछने लगा था कि क्या हिन्दी उपन्यास के पाठक के लिए उन सभी भाषाओ की जानकारी अनिवाय है जो लेखक को आती हो ।

देश-काल और वातावरण

देश-काल के चित्रण और वातावरण के निर्माण की दृष्टि से आचलिक उपन्यास के अभ्युदय के साथ हिन्दी उपन्यास के शिल्प विकास मे एक मौलिक परिवतन दष्टिगोचर हुआ। कहा तो अब तक यह तत्त्व पात्रा के चरित्र विकास के विविध आयामा को व्यक्त करने के लिए पष्ठभूमि का काम देता था और कहा अब पष्ठभूमि से निकलकर उपन्यास लेखन का मूल ध्येय और रचना का मुख्य कथ्य बन गया। पहले देश काल और वातावरण का चित्रण उपन्यास मे अन्य तत्त्वा को पुष्ट करने के लिए साधन के रूप मे होता था। अब उपन्यास के अन्य सभी तत्त्व गौण होकर देश काल के चित्रण तथा वातावरण की सष्टि के निमित्त बन गए और उपन्यास की सफलता विफलता की कसौटी बना अचल विशेष के जन जीवन की प्रकृति विकृति, स्थिति परिस्थिति का मूत्त और सागोपाग चित्रण।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के हिन्दी उपन्यास की यह यात्रा जितनी पथरीली रही है, उतनी ही चकरीली भी है। कथ्य की दष्टि से इस यात्रा मे 'वशाली की नगरवधू', 'मुक्तिपथ', 'मैला आचल', 'बूद और समुद्र', 'सागर, लहरें और मनुष्य', 'झूठा सच' आदि उपन्यास मील का पत्थर मान जायें तो अपने शिल्प के कारण 'नदी के द्वीप', 'सूरज का सातवा घोडा', 'बहती गगा', 'जहाज का पछी', 'जयवधन', 'अजय की डायरी', 'बहती गगा' आदि रचनाएँ भी बजोड रहगी। आचलिक उपन्यास तो निश्चय ही इस अवधि की उपलब्धि है, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहल के युग म सभव ही नही थी। नौकरी पेशा नारी की बहुमुखी समस्याआ ने भी इसी युग म रूप और आकार ग्रहण किया है। इनकी तह तक पहुँचने की तडप महिला उपन्यासकारा की रचनाओ मे तो मिलती ही है, पुरुष उपन्यासकार भी उनम पीछे नही रह।

इस युग की सर्वाधिक क्रान्तिकारी घटना तो यह है कि जीवन जीने और

भोगने के बजाय समझने और समझाने का विषय बनता गया और अनुभूति का स्थान उत्तरोत्तर बौद्धिकता लेती गई। उपन्यास को तो जमाने की हवा बड़ी तेजी से लगती है। उपन्यास में अनुभूति की गहनता घटी तो कथ्य फीका पड़ने लगा। उपन्यास के लिए यह बड़े संकट का समय था, पर शीघ्र ही बौद्धिकता और शिल्प दोनों ने उसे सहारा देकर इस विकट स्थिति से उबार लिया। बौद्धिकता और शिल्प में वैसे भी चमत्कार पैदा करने की अद्भुत क्षमता है। साहित्य सृजन के व्यवसाय का रूप धारण करते ही चमत्कार और भी वांछनीय हो उठा। मौलिकता और फैशन के आग्रह से भी शिल्प के नए नए प्रयोगों को बढ़ावा मिला। शिल्पगत प्रयोग जितने अधिक इस युग में हुए हैं उतने शायद उपन्यास के पूरे इतिहास में भी नहीं हुए। इससे उपन्यास का शिल्प तो निखर आया, पर शिल्प के प्रति उपन्यासकार के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मोह को देखकर बार बार यह प्रश्न कौंध जाता है कि अकेले शिल्प के सहारे खड़ी कृतियाँ देश और काल की सीमाओं को कैसे लाँघ सकेंगी।

फिर भी, हिन्दी उपन्यास के उज्ज्वलतर भविष्य के प्रति इन पंक्तियों का लेखक पूरी तरह आश्वस्त है। हिन्दी उपन्यास की समृद्ध परम्परा और निरन्तर बढ़ते हुए आयामों के अलावा 'यह पथ बन्धु था', 'अँधेरे बन्द कमरे' 'अपने-अपने अजनबी' 'अर्थहीन, मुक्तिबोध', जो, 'लौटती लहरों की बाँसुरी' तथा 'चन्दन-चाँदनी' आदि उन सद्यः रचनाओं से भी उसके विश्वास को बल मिलता है जिन्हें सन् १९६० की लक्ष्मण रेखा के उस पार होने के कारण यह लेख देख भर सकता है, छू नहीं सकता।

कहानी

लक्ष्मीनारायण लाल

विकास के अन्तर्जगत का अध्ययन और नई कहानियाँ

प्रेमचन्द की मृत्यु (१९३६ ई०) के समय तक हिन्दी कहानी धारा में सर्वथा नवीन प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हो चुकी थीं। प्रेमचन्द की कहानी कला अपने अंतिम चरण में सहसा जैसे नये आलोक और अपनी नई दृष्टि में उद्दीप्त हो गई थी। 'कफन और शेष रचनाएं' के अन्तर्गत 'कफन' के वे दोनों चरित्र माधव और घीसू जो न जाने किस दैवी प्रेरणा से कफन के पैसे हाथ में लिये हुए कफन खरीदते खरीदते मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गए—इन चरित्रों और कहानी के कलारूप में वह प्रवृत्ति सूर्य-आलोक की तरह प्रकाशमान हो गई। और उसका नूतन स्वर और कहानीकार की अन्तर्दृष्टि घीसू में मुखरित हो गई। घीसू ने कफन का रुपया [illegible] गद्दी के सामने जाकर कहा—साहूजी, एक बोतल हमें भी दे देना। [illegible] कुछ चखना आया, तली हुई मछलियाँ आईं और दोनों चरित्र [illegible] शान्तिपूर्वक पीने लगे। कई कुल्हड़ ताबड़तोड़ पीने के बाद दोनों [illegible]।

घीसू बोला—कफन लाने से क्या मिलता? [illegible] कुछ बहू के साथ तो न जाता। लेकिन लोगों को [illegible]। [illegible] नहीं? कफन कहाँ है?

घीसू हँसा—अब कह देंगे कि रुपये कमर से [illegible]। [illegible] नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयगा, [illegible]। [illegible] खड़े होकर गाने लगे—ठगिनी क्यों नैना [illegible] । फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी कूदे भी। [illegible]। [illegible] बताए। अभिनय भी किये। और आखिर [illegible]।

यह है उस नवीन प्रवृत्ति के [illegible]। '[illegible]', '[illegible] वाली विधवा' की तरह न [illegible], न [illegible] विधि, न वह घटना, न वह '[illegible]' न 'ईश्वरी न्याय' वाला वह [illegible]। [illegible] दृष्टि से देखी हुई यथार्थ [illegible]। [illegible] सामाजिक दृष्टि—[illegible]

उठी हुई एक आवाज कहती है— "कैसा बुरा रिवाज है कि जीते जी तन ढाकने को चिथड़ा भी न मिले, पर उसे मरने पर कफन चाहिए। कफन लाश के साथ जल ही तो जाता है। और क्या रखा रहता है? यही पांच रुपये पहले मिले होते तो कुछ दवा दारू कर लेते।" कैसी यथार्थ अनुभूति है—कलाकार की आत्मा में भोगी और पगी। यह थी एक नवीन प्रवृत्ति।

एक और दूसरी प्रवृत्ति का भी द्वार वे झांक गए थे। 'मनोवृत्ति' कहानी में एक सुन्दर युवती प्रातःकाल गांधी पार्क में बेंच पर गहरी नींद में सोई पड़ी है। उस पार्क में सुबह विभिन्न प्रकार के पात्र घूमने आते हैं और सब अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार उस युवती के बारे में सोचते जाते हैं "गल्प का आधार अब घटना नहीं, मनोविज्ञान की अनुभूति है। आज लेखक कोई रोचक दृश्य देखकर कहानी लिखने नहीं बैठता। उसका उद्देश्य स्थूल सौंदर्य नहीं, वह तो कोई ऐसी प्रेरणा चाहता है जिसमें सौंदर्य की झलक हो, और इसके द्वारा वह पाठक की सुन्दर भावनाओं को स्पर्श कर सके।"[1]

किन्तु प्रेमचन्द पहली ही प्रवृत्ति के मसीहा थे। दूसरी प्रवृत्ति तो पहली ही प्रवृत्ति की संगिनी थी। साधन। मुख्य हो गया था यथार्थ। प्रेमचन्द ने अपनी कहानी-कला के अंतिम चरण में आकर प्रत्यक्ष अनुभव किया था कि "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक रहती है। बल्कि अनुभूतियां ही (जब) रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं। मगर यह समझना गलत होगी कि कहानी जीवन का यथार्थ चित्र है। यथार्थ जीवन का चित्र मनुष्य स्वयं हो सकता है परन्तु कहानी के पात्रों के दुःख सुख से हम जितना प्रभावित होते हैं, उतना यथार्थ जीवन से नहीं होते, जब तक वह निजत्व की परिधि में न आ जाय। अगर हम यथार्थ को हूबहू खींचकर रख दें, तो उसमें कला कहां है। कला केवल यथार्थ की नकल का नाम नहीं है। कला दीखती तो यथार्थ है, पर यथार्थ होती नहीं। उसकी खूबी यही है कि वह यथार्थ न होते हुए भी यथार्थ मालूम हो।"[2]

शैली की दृष्टि से तो उतनी नहीं, किन्तु नई सामाजिक चेतना की दृष्टि से प्रेमचन्द की अंतिम कहानियां सर्वथा एक नये स्वर, नये विश्वास और

1 मानसरोवर प्रथम भाग भूमिका पृष्ठ 8

२ मानसरोवर प्रथम भाग, भूमिका पृष्ठ २ ३

विद्राह की ओर सकेत कर गयी। इसके पीछे प्रमचन्द का अपना व्यक्तित्व तो था ही, पर तत्कालीन परिस्थितिया और उस काल की विश्व व्यापी चेतना का हाथ कम नही है। १९३५ मे लेखक की परिस कान्फ्रेस। मार्क्सवाद। वर्ग सघर्ष। और भारतवर्ष मे बम्बई फिर लखनऊ नगर म प्रगतिशील साहित्यकार सघ क अधिवेशन। लखनऊ म जिसकी अध्यक्षता स्वय प्रेमचन्द ने की। और इसक कुछ समय बाद ही प्रेमचन्द का स्वर्गवास। पर उनके अतिम स्वर, नये क्षितिज को छून वाले विश्वास और विद्राह हिन्दी कथा साहित्य की दिशाओ म नक्षत्र की तरह चमक उठे। इस नई सामाजिक चेतना को उन्हाने कभी हलकू के मुख से कहलवाया 'तकदीर की खूबी है, मजूरी हम करें, मजा दूसर लूटें', और कभी घीसू क मुख स 'वह न वैकुण्ठ जायगी तो क्या य मोटे लोग जायेंग, जा गरीबो को दोना हाथ से लूटत हैं। अपने पाप को धोने के लिए गगा म नहात हैं और मदिरा म जल चढाते ह।

इस सशक्त पृष्ठभूमि के साथ प्रेमचन्द ने अपनी मृत्यु के बाद हिन्दी कहानिया का आकाश ही बदल दिया। सामाजिक अथबोध आगे तीव्र हो गया। सामाजिक सघर्ष के प्रति जा साहस, जा विद्राह भावना प्रेमचन्द का अतिम स्वर था, उसके आगे का द्वार था—समाज की जटिल परिस्थितियो म और गहर उतरना तथा वस्तुस्थिति के उदघाटन के लिए प्रयत्न करना। यदि अन्याय सामाजिक वषम्य को दूर करना है मानवता जिसक नीच बेतरह पिस रही हैं यदि उसके विरुद्ध सफल सघर्ष करना है ता निश्चय ही वस्तुस्थिति के जटिल दाँव-पेच का भी समझना आवश्यक ह। और परिस्थिति की जटिलता म अपने विश्लेषण और उदघाटन क लिए कहानीकार से माग की उसकी अन्तर्भेदी समझ की। विश्लेषण की।

कहानी-कला की युगीन प्रवृत्तियाँ

अतएव प्रेमचन्द से आगे हिन्दी कहानिया म मुख्यत दा प्रवत्तिया उद्भासित हुई।

(अ) सामाजिक सघर्ष के अथबाध की।

(आ) व्यक्ति के मनोविज्ञान स आगे उसके मनोविश्लेषण की।

पहली प्रवत्ति वहाँ से थी जिसके मसीहा प्रेमचन्द थे और जिसक नय क्षितिज का उदघाटन उन्हान अपन विकास के अतिम चरण म किया था।

दूसरी प्रवत्ति को अतिरिक्त गति पश्चिम म मिली थी। प्रेमचन्द की मृत्यु

के आस पास उर्दू मे एक बेहद गर्मागर्म कहानी सग्रह प्रकाशित हुआ था। सग्रह का नाम था 'अगारे'। इस अभूतपूर्व कहानी-सग्रह के प्रमुख लेखक थे सज्जाद जहीर, अहमदअली और डॉक्टर रशीदा जहा आदि। कुल सात आठ कहानिया थी इस सग्रह मे, पर सग्रह की सारी कहानिया पूर्णरूप से विदेशी प्रभाव से सराबोर थी। इग्लड, फ्रास और अमेरिका मे जो उन दिनो 'साइकोएनेलिसिस', मनोविश्लेषण, सक्स अवचेतन वर्णन, दमित काम वासना की अभिव्यक्ति पूर्ण कहानिया लिखी जा रही थी, उन्हीके पूर्ण प्रभाव मे इस सग्रह की सारी-की-सारी कहानियाँ लिखी गई थी। ये कहानिया अपनी कथा सामग्री मे इतनी नई, आकर्षणमयी और उत्तेजक थी कि इनका प्रभाव व्यापक रहा। इस सग्रह के सारे कहानीकार 'अगारे ग्रुप' के नाम से प्रसिद्ध हुए। इसके फलस्वरूप हिन्दी उर्दू दोनो मे (उर्दू मे बेहद ज्यादा) मनोविश्लेषणवादी, सक्स प्रधान कहानिया लिखी जाने लगी।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी मे जो मनोविश्लेषणवादी कहानियो की एक अपूर्व धारा बही, उसके पीछे इस 'अगारे' की चिनगारी का व्यावहारिक हाथ रहा है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द के बाद जो महत्त्वपूर्ण कहानीकार हिन्दी जगत् मे अपनी नई प्रवृत्तियो के साथ प्रकाशमान हुए, जैसे जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' आदि, ये सबके सब विदेशी कथा साहित्य, उसकी कला परम्परा से पूर्ण परिचय तथा बँगला और उर्दू की कहानी कला के ज्ञान के साथ पूर्ण सजग और गभीरता के साथ हिन्दी 'कहानी' क्षेत्र मे अवतरित हुए।

प्रेमचन्द का मूल क्षेत्र जहाँ केवल ग्रामीण सामाजिकता थी, वहा इस नये चरण मे इन कहानीकारो का क्षेत्र अपेक्षाकृत व्यापक हुआ। ग्रामीण सामाजिकता तथा समस्याओ के स्थान पर शहरी मध्यवर्ग और उसकी समस्याएँ अपने विभिन्न पक्षो मे कहानी का प्रमुख विषय बनी। प्रेमचन्द द्वारा उद्भूत सामाजिक सघर्ष के अवबोध की धारा मुख्यत यशपाल की कलम से बहुत व्यापक और गहन हुई। जिसका मूल्याकन हम बाद मे करेंगे। जैनेन्द्र की कला व्यक्ति के अन्तर्जगत और उसके मनोविश्लेषण—जिसे व्यापक अर्थ मे जैनेन्द्र ने 'अलौकिक', 'अतीन्द्रिय 'दर्शन' आदि की सज्ञा देकर अपनी इस धारा को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। अज्ञेय कवि की दृष्टि लेकर सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ को अभिव्यक्ति देते आये और उनमे मनोविश्लेषण, सामाजिक सघर्ष की गहन चेतना और कवि दृष्टि इन तीनो के समन्वय मे इनकी अपनी महत्तर धारा बनी। इलाचन्द्र

जोशी ने अपना सीमित क्षेत्र चुना। मनोविश्लेषण—वह भी केवल 'मैं' और 'अहं' के ही विवेचन विश्लेषण में अपने को न्याछावर कर दिया। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को हम किसी विशेष धारा में नहीं रख सकते। इनके अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, निराला, सियारामशरण गुप्त, पहाड़ी, भगवती प्रसादवाजपेयी और होमवती आदि कहानीकारों से हिन्दी कहानी का नया आकाश जगमगा उठा।

यह नया आकाश कहाँ से किन स्रोतों से सामने आया, इसका विवेचन व्यावहारिक संकेत हमने पहले किया है किन्तु इसका सैद्धांतिक और यथार्थिक विश्लेषण अपेक्षित है।

मनोविज्ञान का प्रयोग प्रेमचन्द और प्रसाद तथा उनके सम्प्रदायों के सभी समय कहानीकारों ने किया था, पर इस नये काल में आकर मनोविज्ञान की उन्नति और उसमें पाई हुई विश्लेषण की पद्धति इस काल के लिए एक नई शक्ति थी। मनोविश्लेषण की इस नई पद्धति का प्रयोग यों तो मानव जीवन के सभी अंगों या स्तरों को समझने के लिए किया गया पर विशेषकर इस चरण में स्त्री पुरुष सम्बन्ध के उद्घाटन पर मुख्य रूप से हुआ। जैनेन्द्र की 'एक रात' तथा 'राजीव और भाभी' इस सत्य के कलात्मक उदाहरण है। इस प्रवृत्ति के आगे के कहानीकारों में विशेषकर पहाड़ी में काम अथवा प्रेम वासना और उसकी विकृतियों का चित्रण भी हुआ।

इसी प्रकार समाज शास्त्र के विकास से और विशेषकर आर्थिक दर्शन और उसके अन्तर्गत मार्क्सीय मत की प्रगति से सामाजिक सम्बन्धों पर जो नया प्रकाश पड़ा, और उसके अध्ययन की जो नई पद्धतियां विकसित हुइ, वे बहुत स्पष्ट रूप से यशपाल और कहीं-कहीं भैरवप्रसाद गुप्त की कहानियों में प्रकट हुइ।

सापेक्ष्यतावाद और दर्शन के व्यापक अर्थों को समझकर कहानीकार ने मानव समाज की नैतिक मान्यताओं की नई जांच शुरू की। और इससे भी कहानी में एक नई चीज शुरू हुई। अन्तर्जगत की मीमांसा और उसका दार्शनिक तथा मनोविश्लेषणवादी मूल्यांकन। कहानी के स्वर का अन्तर्मुखी होना और उसके स्वरूप का अस्पष्ट और काव्यात्मक होना। प्रतीकों का सहारा लेना शुरू हुआ। कहानीकार की दृष्टि इस तरह रसमयी होते हुए भी बौद्धिक हुई।

'एक रात' की भूमिका में जैनेन्द्र ने कहा—" (लोग) समाधान मुझसे मांगें, मैं इनकार कर दूंगा। इसलिए नहीं कि समाधान के नाम पर मैं उन्हें बहुत कुछ नहीं दे सकता, प्रत्युत इसलिए कि मैं मानता हूँ कि मन में शंका, उद्वेलन पैदा करना

भी मेरी कहानियों का एक इष्ट है।"

अज्ञेय ने 'परम्परा' कहानी संग्रह की 'अलिखित कहानी' में लिखा, "जो कहानी केवल कहानी भर होती है, उसे ऐसे लिखना कि वह सच जान पड़े, सुगम होता है। किन्तु जो कहानी जीवन के किसी प्रगूढ़ रहस्यमय सत्य को दिखाने के लिए लिखी जाय, उसे ऐसा रूप देना कठिन नहीं, असंभव ही है। जीवन के सत्य छिपे रहना ही पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं होते। उन्हें दिखाना हो तो ऐसे ही साधन उपयुक्त हो सकते हैं, जो उन्हें प्रत्यक्ष न करें, छिपा ही रहने दें, जो छायाओं और लक्षणों के आधार पर उसका आकार विशिष्ट कर दें, और बस ।"

इस कलागत दृष्टि का परिणाम जैनेन्द्र अज्ञेय पर तो स्पष्टतः परिलक्षित है इसका परिणाम प्रेमचन्द के बाद सभी युगीन कहानीकारों पर प्रत्यक्ष है। क्या मनोविश्लेषणवादी कहानीकारों का वर्ग, क्या समाजशास्त्री कहानीकार। प्रेमचन्द, प्रसाद, सुदर्शन, कौशिक आदि की कहानियों में कहानीकार की समवेदना और उसका लक्ष्य स्पष्ट रहता था, क्योंकि उन कहानियों की आधारभूत नैतिक-सामाजिक (जो कुछ भी हो) मान्यतायें और विश्वास स्पष्ट और निष्कपट होते थे। जैसे बिलकुल शंकाहीन।

लेकिन जैनेन्द्र, अज्ञेय और यशपाल युग के मन में जैसे हर क्षेत्र हर स्तर की मान्यताओं के विषय में शंकाएं उठने लगी हों। कभी सैद्धांतिक, और कभी व्यावहारिक। इसीका परिणाम यह हुआ कि ये कहानीकार व्यक्तिगत, सामाजिक या अन्य मानवीय सम्बन्धों पर उतने (प्रेमचन्द जैसे) स्पष्ट निर्णय देने में झिझकने लगे। "दृष्टि अधिक व्यापक हुई, सहानुभूति अधिक उलझी हुई, ऊहापोह बढ़ा और निर्णय एक अस्थायी स्थगित अवस्था में छोड़ दिये जाने लगे।

पर इस पूरे काल (१९३६ से १९४७ तक) के भीतर एक ओर अज्ञेय और दूसरी ओर यशपाल—ये दो ऐसे गंभीर कहानीकार हिन्दी साहित्य को मिले जिनसे यह काल एक विशिष्ट कहानी युग की संज्ञा को प्राप्त हो गया। ये दोनों कहानीकार ऐसे थे जो अपने समय के इतिहास और मानव मूल्यों के अन्तर्गत नई धारा, नये विचारों के गम्भीर अभिप्राय को समझते थे। जिन्होंने निश्चय ही बड़ी गहराई और पूर्ण दायित्वपूर्वक अपने काल की समस्याओं को कलापूर्ण अभिव्यक्ति दी और इनकी कहानियों में सर्वथा एक नये प्रकार की बौद्धिकता (युग के परिप्रेक्ष्य में समस्याओं और अनुभूतियों का गहन विवेचन) रहते हुए भी कहानी में रस और पाठ्य रोचकता की कहीं भी कमी नहीं हुई। कहानी का स्तर और कहानी की

व्यापकता का तत्त्व दोनों बहुत ऊँचे उठे। कहानी का राग और अर्थबोध दोनों गहन होकर अपने आपमें (पाठकों के लिए) परम आकर्षक हो गए।

कहानी के रूप विधान और शिल्प पर भी बाहर के प्रभाव स्पष्ट रूप से दीख पड़े। इस युग के जितने भी कहानीकार साहित्याकाश में चमके वे एक ओर तो सब के सब पश्चिम के कथा-साहित्य के सम्पर्क में थे (अपनी शिक्षा दीक्षा से भी और उस काल की माँग से भी और शायद अपने संस्कार से भी) और दूसरी ओर वे बिलकुल स्वच्छन्द और उन्मुक्त होकर फिर भी बड़ी गम्भीरता और जम बड़ी तयारी से कहानी क्षेत्र में आये। पश्चिमी कथा धारा के अतिरिक्त यशपाल, उपेन्द्र नाथ 'अश्क' तो मुख्यतः उर्दू साहित्य की धारा के भीतर से ही चमके। इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय बँगला के टैगोर कथा साहित्य का रस लिये हुए अवतरित हुए। और इन सबमें 'अज्ञेय' जैसे पूरब पश्चिम, अपनी भाषा और बँगला भाषा, अतीत और वर्तमान सब रस स्रोतों से शक्ति-सम्पन्न होकर इस क्षेत्र में आये थे। तभी उनमें सबसे अधिक विविधता, व्यापकता, चेतना और कहानी शिल्प का इतना उत्कृष्ट परिष्कार और सफल प्रयोग हैं।

पश्चिमी कहानीधारा में फ्रांसीसी और रूसी कहानियों के अनुवादों का इन कहानीकारों पर सीधा प्रभाव पड़ा। रूसी कहानियों की धारा से हिन्दी कहानीकारों ने नई सामाजिकता के प्रश्न और उसमें नई वस्तु का समावेश करना तो सीखा ही, शिल्प विधान की भी दृष्टि से बहुत प्रेरणा ग्रहण की। कहानीकार की दृष्टि में तटस्थता, वस्तु सापेक्ष्यता और भावुकता के स्थान पर भावप्रवणता—इन नये तत्वों को इस वर्ग के कहानीकारों ने प्राप्त किया। किन्तु इसके साथ ही आधुनिक फ्रांसीसी साहित्य की स्वच्छन्दता से कई ऐसे सम्बन्ध सहसा ही टूट गए जो इस काल के कहानीकारों से बहुत धीरे-धीरे टूटते। जैसे कहानी की इतिवृत्तात्मकता के स्थान पर कहानी में स्वच्छन्द रमण का भाव। वस्तुस्थिति के गहन परीक्षण और चरित्र निरीक्षण के लिए वस्तु सामग्री और कहानीकार के व्यक्तित्व का सुन्दरतम समन्वय। परिणाम स्वरूप शिल्प के स्तर से कहानी की आत्मा से कहानीकार के व्यक्तित्व मिलन और आत्मप्रक्षेपण की नई शैली का अपनी अन्यान्य विविधताओं के साथ कहानी के रूप विधान और शिल्प में अपूर्व प्रयोग। इस स्वच्छन्दता का नाजायज फायदा भी कई लेखकों ने उठाया, अतएव इस काल की कहानियों में नग्नवर्णन और भोंडेपन को भी खुलकर प्रश्रय मिला।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की अनेक रसमयी कहानियों का सीधे अज्ञेय पर प्रभाव

स्पष्ट है। वस्तुस्थिति से सूक्ष्मतत्त्व का, भावलोक का जो मनोहारी तादात्म्य टैगोर की कुछ कहानियों में है—जैसे 'क्षुधित पाषाण', 'घाट की बात', 'फुलवारी' आदि में, इनका सीधा प्रभाव अज्ञेय की कुछ उत्कृष्ट कहानियों पर स्पष्ट है—महज़ शिल्प के स्तर से। जैसे 'कोठरी की बात' 'पठार का धीरज' आदि। जैनेन्द्र पर भी टैगोर की कहानी कला की उल्लेखनीय छाप है।

इन सब स्रोतों, और महत्तर प्रेरणाओं तथा युगीन प्रवृत्तियों एवं कहानीकारों की जागरूकता का परिणाम इस काल पर श्रेष्ठ रूप में पड़ा। कहानियों की सारी परिभाषा ही बदल गई। कहानियाँ शिल्पव्रती होती हुई भी विषय, भाव, चरित्र प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व विश्लेषण आदि तत्त्वों में बहुत आगे और गहरे पहुँच गईं।

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र ने कहानी जगत में प्रवेश करते ही सर्वथा एक नई चीज़ इस विधा को दी—जिसे हम कहानी का 'लचकीलापन' कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त जैनेन्द्र के कहानीकार व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह सिद्ध हुई कि इन्होंने घटना की कहानी से बढ़कर विशुद्ध चरित्र की कहानियाँ, वातावरण की कहानियाँ, शुद्ध मानसिक ऊहापोह की कहानियाँ हिन्दी संसार को दीं।

कहानी के रूप विधान और शिल्प में उन्होंने जैसे क्रान्ति उपस्थित कर दी। कथा कहानी के पुराने शिल्प का उन्होंने एक और नये रूप में उपयोग किया। वार्ता और दृष्टान्त की शैली में कहानियाँ 'वह बिचारा सार', 'नारद का अर्घ्य', 'बाहुबली'।

सांकेतिक और प्रतीकात्मक शैली की कहानियाँ, 'नीलमदेश की राजकन्या', 'हवामहल', 'लाल सरोवर' और 'देवा देवता'। इन शैलियों में प्रणय कल्पना, और दर्शन (?) के सहारे जैनेन्द्र ने कहानी जगत् को निश्चय ही विशाल रूप दिया। इससे इन्होंने कहानी में 'अलौकिक' तत्त्व की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। यद्यपि इसमें जैनेन्द्र जी तब से आज तक कटु आलोचनाओं के शिकार होते आ रहे हैं। पर यह निश्चय ही आलोचक दृष्टि की संकीर्णता है, जो रचनाकार को अपने ही घेरे में बंद रखना चाहती है। मैं समझता हूँ हिन्दी कहानियों को आगे जो एक मुक्ति का भाव प्राप्त हुआ, उसके पीछे जैनेन्द्र के इस पक्ष की कहानियों का एक बहुत बड़ा हाथ है।

दूसरी ओर जैनेन्द्र ने निर्मम वस्तुनिष्ठा की दृष्टि से कहानियों का सर्वथा एक

दूसरा ही पक्ष हिन्दी का दिया। 'एक रात', 'राजीव और भाभी', 'क्या हो' और 'पाजेब' आदि।

निखरी हुई शैली की दृष्टि से भी इन्होंने अनेक प्रकार की कहानियां लिखी—पत्रों के रूप में, आत्मकथा के रूप में, निरपेक्ष आत्मविश्लेपण के रूप में, सवाद के रूप में और स्वगत भाषण के रूप में।

जैनेन्द्र की कहानियां आश्चर्यजनक विधान कौशल और हस्तलाघव के उदाहरण हैं। शिल्प विकास के क्षेत्र में उन्होंने हिन्दी कहानी को जितना आगे बढाया, उतना किसी एक अन्य व्यक्ति ने नहीं।

हाँ वस्तु की दृष्टि से—कथा अथवा वर्ण्य विषय की परिधि में इनकी रुचि निश्चय ही सीमित रही है। मुख्यतः वैयक्तिक प्रश्नों और नीति की बुनियादी समस्याओं तक ही इनका क्षेत्र रहा है। जिन कहानियों में विचार और एक मूलभूत सत्य को केन्द्र बनाकर उनकी रचना की गई है, वे साधारण कोटि में आती हैं। इनके विपरीत जो कहानियां जीवन के अनुभव और भोग्य क्षणों के भीतर से रची गई हैं, वे अत्यन्त शक्तिशाली सिद्ध हुई हैं।

कुल मिलाकर जैनेन्द्र व्यक्ति दर्शन के अपनी पीढी में एक सशक्त कहानीकार हुए। मनोविज्ञान के धरातल से उन्होंने मुख्यतः व्यक्ति का जो अध्ययन सीमित परिधियों में दिया है वह अनुपम है।

अज्ञेय

अज्ञेय एक दूसरे स्तर से मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि कहानीकार हैं। उनकी कहानी कला का मूल धरातल व्यक्ति चरित्र है। इसका सबसे बड़ा और सहज कारण यह है कि अज्ञेय की दृष्टि मूलतया कवि की दृष्टि है, समाज-सुधारक और प्रवक्ता की दृष्टि नहीं, जो सामाजिक अव्यवस्थाओं के रूप उपस्थित करता चलता है। इन्होंने केवल चरित्र के व्यक्तिगत पहलू को मुख्य केन्द्र बनाकर अपनी सब तरह की कहानियां लिखी हैं।

अध्ययन की दृष्टि से अज्ञेय की कहानियों को हम स्पष्टतः चार भागों में रखकर देख सकते हैं।

(अ) सोद्देश्य सामाजिक आलोचना सम्बन्धी कहानियां।

(ब) राजनीतिक बंदी चरित्र सम्बन्धी कहानियां।

(स) चरित्र विश्लेषण सम्बन्धी।

(द) प्रतीकों के सहारे मानसिक संघर्षों के अध्ययन सम्बन्धी।

इन चारों धरातलों की कहानियाँ अपने दृष्टिकोण और देश-काल परिस्थिति में इतनी व्यापक और गहन हैं कि व्यक्ति अपने अधिक से-अधिक रूपों और प्रकारों में इनका उपजीव्य बन गया है। इसके लिए अज्ञेय की कहानीकला में असाधारण विधान कौशल का परिचय मिलता है। चरित्र विधान और शैली निर्माण में इनकी मौलिकता और हस्तलाघव अपूर्व है।

हिन्दी कहानी लेखन में इस काल विशेष में अज्ञेय की देन 'प्रतीकात्मक कहानी' की है। इसे इनकी कहानी-कला का एक विशेष लालित्य कहा जा सकता है। जहाँ भी इन्हें मानसिक संघर्षों के अंतस्तल में उतरकर उनका चित्र प्रस्तुत करना पड़ा है, वहाँ इन्होंने प्रायः इसी शैली को अपनाया है। 'चिड़ियाघर', 'पुरुष का भाग्य', 'कोठरी की बात', 'पठार का धीरज' और 'साँप' इस दिशा में इनकी श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

हिन्दी 'कहानी' लेखन में इस चरण में शिल्प की दिशा में जितने विविध प्रयोग हुए, उतने शायद न पहले चरण में हुए, न आगे नई कहानियों के चरण में। इस प्रयोगशीलता का बहुत कुछ श्रेय अज्ञेय को है। यद्यपि इसके बहुत बड़े हिस्सेदार जैनेन्द्र भी हैं। पर जहाँ जैनेन्द्र में यह प्रयोगशीलता एक प्रयोग-सी ही दिखती है, वहाँ अज्ञेय में यह उनकी सहजशक्ति और उनकी कहानी कला की विशेषता-सी सिद्ध होती है। कथात्मक शैली से लेकर आत्मकथात्मक, नाटकीय संवाद पत्रात्मक, प्रतीकात्मक और मिश्रित शैली तक उनका सहज विस्तार है। पर यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अज्ञेय की जितनी कहानियाँ श्रेष्ठ और मूल्यवान हैं उनके निर्माण में प्रायः मिश्रित शिल्पतत्त्वों का ही समन्वय है। अर्थात् उनके विकास और अंत के अंगों में आत्मकथात्मक, संवादात्मक, पत्रात्मक और प्रतीकात्मक आदि सभी शिल्प तत्त्वों का सामूहिक सहारा लिया गया है। इस मिश्रित शैली से अज्ञेय की उन कहानियों में उच्चकोटि का चरित्र विश्लेषण, कम प्रेरणाओं की गहन व्याख्या तथा कहानी के सम्पूर्ण रूप में आश्चर्यजनक हस्तलाघव तथा परिष्कार (finish) का रूप देखने को मिलता है। 'छाया', 'द्रोही', 'नम्बर दस', 'गैंग्रीन', 'शरणार्थी', 'साँप' आदि इसके उदाहरण हैं।

यशपाल

जैनेन्द्र और अज्ञेय से सर्वथा अलग विशुद्ध दूसरे ही स्तर पर यशपाल का स्थान है। इनकी कहानियों का धरातल मुख्यतः निर्वैयक्तिक सामाजिक शक्तियाँ

हैं जिनका केन्द्र शायद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है ऐसा कहा जा सकता है। फलतः यशपाल की कहानी में हमारा समाज अपने दोनों पक्षों में ग्रहण किया जा सका है। प्रथम, शोषित और शोषक दृष्टि से जिसमें समाज का अध्ययन पूंजीपति और सर्वहारा—इन दो वर्गों में बांटकर किया गया है। दूसरे इसीके समानान्तर अपने समाज का सांस्कृतिक और नैतिक पक्ष भी लिया गया है, जहां पुरातन धार्मिकता, अंधविश्वास और रूढ़ि परम्पराओं की कटु आलोचना की गई है। इन दोनों पक्षों को मिलाकर यशपाल को बड़ी आसानी से 'समाजालोचन का सशक्त कहानीकार' कह सकते हैं।

"मैं जिन भावनाओं को सुन्दर अर्थात् समाजोपयोगी और कल्याणकारी समझता हूँ, उनके प्रोत्साहन के लिए अभिव्यक्ति की प्रेरणा अनुभव करता हूं और समाज को प्रेरणा देना चाहता हूँ। साथ ही जिन प्रेरणाओं को मैं असुन्दर, निर्दय, अन्यायपूर्ण और समाज के लिए अकल्याणकारी समझता हूं उनके विरोध की प्रेरणा भी अभिव्यक्त करना चाहता हूँ। कथासाहित्य का लक्ष्य हृदयस्पर्शी उदाहरणों और दृष्टान्तों से प्रेरणा देना ही है।'—यशपाल

निश्चय ही यशपाल में कहानीकार का यह व्यक्तित्व प्रेमचन्द का सच्चा विकासपथ है। तभी इस चरण में यशपाल की कहानियां सबसे अलग, सबल विभिन्न स्तर पर विशुद्ध समस्या प्रधान कहानियां हैं। सामयिकता और यथार्थवादिता इसके दो प्रमुख पक्ष हैं। 'काला आदमी', 'रोटी का मोल', 'उत्तराधिकारी', 'फूलों का कुर्ता', 'दास धर्म', 'हिंसा' और 'पराई' आदि कहानियां इन दोनों पक्षों में उल्लेखनीय हैं।

यशपाल की प्रायः समस्त प्रतिनिधि कहानियां सोद्देश्य हैं। इनके निर्माण में एक विशेष विचार भाव की प्रतिष्ठा का लक्ष्य ही उनकी प्रधान प्रेरणा है। इस लक्ष्य में आर्थिक संघर्ष और वर्गचेतना का आग्रह सर्वत्र स्पष्ट है। यह चेतना में पूंजीपति और सर्वहारा के अतिरिक्त जितनी कहानियां इन्होंने स्त्री पुरुष के सम्बन्धों और नैतिक भावनाओं को लेकर लिखी हैं, उनमें नव नव मूल्यों, भावनाओं की सोद्देश्यता प्रधान है। मनुष्यता, संस्कृति, आस्था, ईश्वर आदि के प्रश्नों में भी यही प्रेरणा काम कर रही है। इसके फलस्वरूप इनकी कहानियों में कहीं कहीं अस्वाभाविक ढंग की उग्रता और नग्नता भी आ गई है।

कहानी की मान्यता

अज्ञेय, जैनेन्द्रकुमार और यशपाल की कहानियों अपने युग और काल की

सामाजिक प्रवृत्तियों की सफल उदाहरण हैं। इस संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जिस तरह युगीन प्रवृत्तियों ने हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन को प्रभावित करके हमारी नैतिक मान्यताओं, सामाजिक प्रश्नों और उनके निर्णयों में आमूल परिवर्तन ला खड़ा किया, उसी तरह उन प्रवृत्तियों ने इस चरण के कहानीकारों के मापदंड और दृष्टिकोण में भी अपूर्व क्रान्ति की। युग का जितना बौद्धिक विश्लेषणमय, तर्कमय दृष्टिकोण 'जीवन के प्रति हुआ, वही स्वर कहानी की मान्यता, रचना कौशल और शिल्प विधान के प्रति प्रकट हुआ। इसका फल यह हुआ कि इस दौर की कहानी कला में आश्चर्यजनक वैविध्य उपस्थित हुआ। अतएव इसे किसी एक परिभाषा में बांधना कठिन हो गया। क्योंकि यहाँ अनेक प्रवृत्तियाँ, अनेक दृष्टिकोण और उनके प्रतिनिधि कहानीकारों द्वारा उसकी विभिन्न मान्यताएँ बननी गई। अध्ययन की दृष्टि से केवल 'एकान्त प्रभाव' ही इस चरण की कहानियों का अपना परम लक्ष्य बना।[1]

इस प्राप्त करने के लिए इस चरण का कहानीकार अपनी रचना शैली और शिल्प विधान में इतना स्वतन्त्र हुआ कि उसने इस क्षेत्र में अपूर्व व्यापकता ला दी। उसने इसके लिए इतने प्रयोग किये कि उनका एक स्थान पर आकलन करना कठिन है। सम्पूर्ण कहानी शैली से लेकर उसमें रेखाचित्र, विश्लेषण चित्र से लेकर सूचनिका (रिपोर्ताज) कैमरा विधान और फ्यूअरील विधान तक कहानी-रचना की सीमा बढ़ गई।

कलात्मक दृष्टि से इस चरण की कहानी कला का मेरुदंड चरित्र ही हुआ। इन्हीं के अध्ययन, इन्हीं की कर्म प्रेरणाओं के विवेचन तथा इसी की व्यक्तित्व प्रतिष्ठा के चारों ओर इस काल की कहानियों के समस्त उपकरण घूमते मिलते रहे। चरित्र के रूप, चरित्र के वर्ग, चरित्र की स्थिति और चरित्र के स्तर में इतनी व्यापकता आई कि समूचा वह काल इसके माध्यम से प्रतिबिम्बित हुआ। दर्शन, मनोविज्ञान, गांधीवाद, आतंकवाद, यौनवाद और साम्यवाद—समस्त तत्कालीन प्रवृत्तियाँ इसी चरित्र के केन्द्र बिन्दु से चरितार्थ हुई। चरित्र अवतरणा प्रायः यथार्थ भावभूमि पर हुई। सामान्य चरित्र से लेकर विशिष्ट और प्रतिनिधि चरित्रों

१ इतना ही कहा जा सकता है कि कहानी नामक साहित्य प्रकार में एकान्त प्रभाव ही साहित्यकार का उद्देश्य होता है, और उसके द्वारा चुनी गई वस्तु उस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन। वह प्रभाव और उस प्रभाव की एकान्तिकता ही मुख्य है।

अज्ञेय 'द्वि० प्र० कहानियाँ', भूमिका पृष्ठ २२

के सहारे सम्पूर्ण मानव संवेदनाओं, कार्य व्यापारों को कहानी में अभिव्यक्ति मिली। चरित्रों की व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा और उनके व्यक्तित्व विश्लेषण में नये से नये प्रसाधन प्रयुक्त हुए—जैसे

(१) आत्म विश्लेषण
(२) मानसिक ऊहापोह
(३) अवचेतन विमर्श
(४) संकेत और छोटे छोटे कार्य व्यापारों के अध्ययन चित्र।
(५) सामाजिक आर्थिक परिवेश के भीतर से चरित्र अध्ययन।

व्यापक दृष्टि से इस चरण में चरित्र-अवतरणा विशुद्ध मनोवैज्ञानिक धरातल में हुई और इनके निर्माण में प्रायः तीन प्रेरणाएँ

(१) अहं
(२) विद्रोह
(३) आत्मविश्लेषणनिष्ठ चिंता

कार्य करती रही। अतएव इस चरण का चरित्र प्रेमचन्द युग की अपेक्षा अधिक व्यक्तिवादी हुआ। अब हम कहानियों के कथानक न याद रहकर कहानियों के चरित्र याद रहने लगे। उनके सारे अन्तर्द्वंद्व, संघर्ष हमारे मस्तिष्क में तैरने लगे।

समाजशास्त्र के विकास से, विशेषकर मार्क्सीय मत की प्रगति से मनुष्य के सामाजिक संबंधों पर जो प्रकाश पड़ा और उनके अध्ययन की जितनी पद्धतियाँ आविर्भूत हुईं—उनकी सोद्देश्यता भी इस चरण की कहानियों की प्रेरणा बनी। कुल मिलाकर कहानीकारों की दृष्टि व्यापक, पर साथ ही बौद्धिक बनी। कहानीकार मानव जीवन के समस्त पहलुओं को सापेक्ष निरपेक्ष और कभी कभी उसे अपना व्यक्तिगत पहलू बनाकर अध्ययन करने लगा और उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय देने का प्रयत्न करने लगा। लेकिन परिणामतः इस युग के कहानीकारों की संवेदना अधिक उलझी हुई, अस्पष्ट सिद्ध होने लगी, फिर उसको स्पष्ट करने में जो उनका मानसिक ऊहापोह बढ़ा तो समस्याओं तथा मूल्यों के संबंध में उनका निर्णय भी अस्पष्ट और अस्थायी ही रहा।

दो विभिन्न दिशाएँ तथा उपलब्धियाँ

इस पूरे चरण की सारी कहानी-सम्पत्ति के मूल्यांकन से दो विभिन्न दिशाएं तथा उनकी अलग अलग उपलब्धियां हमारे सामने आई, जो आगे 'नई कहानी' के आगमन की सबल भूमिकाएँ बनी। ये दो विभिन्न दिशाएं और उपलब्धियां हैं एक ओर अज्ञेय की और दूसरी ओर यशपाल की। अज्ञेय की दिशा और उपलब्धि थी इस चरण की कहानियों में—अनुभूति की—

"मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपनी अनुभूति ही लिखे, जो अनुभूत नहीं है, कोई सैद्धांतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उसे लिखना ऋणशोध हो गया है, साहित्यिक सिद्धि नहीं।'[१]

अर्थात् कहानी जीवन की अनुभूति का अंशक है—जो कहानीकार द्वारा किसी न किसी स्तर से भोगा हुआ जिया हुआ हो।

ठीक इसके विपरीत यशपाल की दिशा और उपलब्धि है

"मैं जिन भावनाओं को सुन्दर अर्थात् समाजोपयोगी और कल्याणकारी समझता हूं, उनके प्रोत्साहन के लिए अभिव्यक्ति की प्रेरणा अनुभव करता हूं, और समाज को प्रेरणा देना चाहता हूँ। साथ ही जिन प्रेरणाओं को मैं असुन्दर, निर्दय, अन्यायपूर्ण और समाज के लिए अकल्याणकारी समझता हूं, उनके विरोध की प्रेरणा भी अभिव्यक्त करना चाहता हूँ। कथा साहित्य का लक्ष्य हृदयस्पर्शी उदाहरणों और दृष्टान्तों से प्रेरणा देना ही है। मैं जिन मान्यताओं के समर्थन अथवा विरोध में प्रेरणा उत्पन्न करना चाहता हूं, उनके अनुकूल घटना की कल्पना कर लेता हूँ।"[१]

नई कहानी का आगमन

अज्ञेय और यशपाल की कहानियों की धाराएँ जहाँ अपनी सफलता की चरम सीमा पर पहुँचीं, उसके बाद हिन्दी कहानियों में एक जबरदस्त गत्यवरोध का समय आता है। यह गत्यवरोध तीन स्तरों पर परिलक्षित हुआ।

पोशा प्रयोजन (अ) अज्ञेय की कहानी-कला जिसके मूल में केवल अनुभूति मात्र है और उसकी अभिव्यक्ति में एक उत्कट सच्चाई है। पर इसके बाद भी क्या लोग

---

१ अज्ञेय भूमिका शरणार्थी पृष्ठ २

१ यशपाल

रह जाता है—जहां से आगे पीढ़ी विकास करती है। नूतन स्वच्छन्द आदान प्रदान पर नई पीढ़ी आगे की जमीन को तैयार करने लगती है। यह स्पष्ट अस्पष्ट रहा। उनकी पकड़ में आगे कुछ नहीं आ रहा था। फलतः आगे के कुछ वर्ष केवल शिल्प प्रयोग का काल बनकर रह जाता है। इस सन्दर्भ में अज्ञेय की प्रसिद्ध कहानी 'रोज' भी आ सकती है। 'रोज' कहानी में एक गहरी उदासी और जीवन की एकरसता बोध के दर्द का सत्य चित्र है—जो निस्सन्देह हमारे अपने मध्यवर्गीय जीवन की गहरी यथार्थता है। पर कुल मिलाकर 'रोज' कहानी है क्या ? एक स्थिति विशेष का स्वीकार मात्र है—इससे अधिक कुछ नहीं।' लेकिन साहित्यकार के लिए इससे भी बड़ी कोई चीज होती है—उस यथार्थ के पीड़ित मन को समग्र जीवन के परिप्रेक्ष्य से जोड़कर उसे कहीं ऊँचे उद्घाटित कर देना। यह सत्य इतना बड़ा इतना कठिन और दुर्बोध था कि आगे जैसे कोई रास्ता ही नहीं सूझ रहा था। फलतः अज्ञेय-जैनेन्द्र की शिल्प परम्परा में केवल यथार्थ के मात्र स्वीकार के सन्दर्भ में अन्यान्य शिल्प प्रयोग ही हो रहे थे।

(ब) इस अस्पष्टता, यथार्थ की ऊब और शिल्प प्रयोग की प्रतिक्रिया में दूसरी ओर सस्ती लेखन की रोमांटिक कहानियों की धारा का चल पड़ना—निम्न रुचि को सन्तुष्ट करने वाली। वही एक विषय सेक्स। वही एक शिल्प—दिवास्वप्न-भरा रोमांस। वही एक उद्देश्य—कहानियों की बढ़ती हुई मांग, सेक्स, सनसनी तेज नाटकीय स्थितियों (काल्पनिक) के बीच हत्या, बलात्कार शहरों की रंगीन रातों की रहस्य-भरी कहानियों के असंख्य पाठकों की भरमार और उनकी वही एक रुचि। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त आये हुए समाज, अर्थ और रुचि को भोजन देने वाली सस्ती भोंडी कहानियाँ।

(स) यह गत्यवरोध फलतः एक बड़े पैमाने पर स्पष्ट हुआ। आगे पाँच छ वर्षों तक कोई एक भी नया कहानीकार नहीं आया। बल्कि न आ सका। इसके दो बड़े कारण थे। एक तो विशुद्ध रचनात्मक प्रक्रिया के कारण। अर्थात् तत्कालीन कहानी-धारा एक ऐसी चरम सीमा पर आकर बैठ गई थी कि उसे जानना, समझना और उसे पारकर आगे बढ़ना, या उससे अपनी कोई अलग नई दिशा पाना प्रायः असम्भव सा सिद्ध हो रहा था। दूसरे उस काल के प्रगतिवादी उग्र आलोचकों की निर्मम लेखनी और उनके आतंक के सामने किसी नये के इस क्षेत्र में आने की जैसे हिम्मत नहीं हो पा रही थी। ये आलोचक नये के लिए कोई रास्ता दिखाने के बदले अपनी आतंकवादी लेखनी से उस चरम पथ

गये और भी अधिक उन्मात और कठोर बनाते गए। साथ ही सहानुभूति के स्थान पर इन आलोचकों ने अस्वीकारवादी दृष्टिकोण ग्रहण कर लिया था।

गतिहीनता या गत्यवरोध की उक्त तीनों स्थितियाँ रचनात्मक स्तर पर बड़े व्यापक रूप से काम कर रही थीं। और इन स्थितियों के कारण उस संक्रांति-काल में केवल दो ही दिशाएँ (?) परिलक्षित हो पा रही थीं।

प्रथम अज्ञेय जैनेन्द्र की धारा की अधिकांश कहानियाँ कल्पना और फन्टसी (पठार का धीरज) के आधार में निर्मित हो रही थीं। कल्पना प्रसूत कथानक सूक्ष्म, असाधारण कथ्य। अन्तर्मुखी चरित्र सिर्फ एक क्षण का एक मन स्थिति का भाव चित्र, एक दौड़ती हुई लहर का गति चित्र। इस संदर्भ में अज्ञेय के 'जयदोल (१९५०) कहानी संग्रह में लेखक का वक्तव्य उल्लेखनीय है। यहाँ तक कि यशपाल जैसे यथार्थवादी, वस्तुनिष्ठ कहानीकार, जो प्रेमचन्द की यथार्थवादी धारा की सच्ची विरासत के साथ कहानियाँ लिख रहे थे—भी इस परिणति काल में आकर काफी अंशों में कल्पना प्रसूत बन रहे थे। विशेषकर जब उनमें अपनी कहानियों की चरम सीमाओं को चमत्कृत करने का मोह जगा, तो उन्हें भी काल्पनिक जीवन दृश्य, उपक्रम और घटनाओं को कहानियों के अंतिम हिस्से में जोड़ना पड़ा।

दूसरे, इस गत्यवरोध के चरण में कहानी धारा पर कहानी की व्यावसायिकता, कहानी की देह में राजनीतिक नारों के स्वर, तत्कालीन स्थितियों से उत्पन्न अतिरंजित हिन्दू मुसलमानी द्रोह दंगों के दृश्य, शरणार्थी समस्या, नंगी नारी, भयानक सेक्स की दुर्गन्ध। यद्यपि इस परिणति में हिन्दी साहित्य उर्दू के मूर्धन्य कहानीकारों की अनूदित रचनाओं से भरने लगा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद—राशनिंगकाल से गुजरे हुए चोर बाजारी से परिवर्तित समाज के लिए सस्ते मनोरंजन की एक अपूर्व माँग आई थी। ऐसे सस्तेपन, विकृत मनोवृत्ति के साथ कहानी क्षेत्र में परम व्यावसायिकता (कहानीकार और पत्र पत्रिकाओं के मालिक दोनों स्तरों से समान रूप में) का गठबंधन शायद हिन्दी कहानी साहित्य में पहली बार हुआ था। पहली बार—वह भी अपने अत्यंत उग्र रूप में। परिणामतः व्यवसाय के स्तर से, मनोरंजन के बदले हुए मूल्य के स्तर से कहानी की माँग सहसा बढ़ जाती है। इस नई माँग का सीधा प्रभाव कहानीकार पर पड़ा। उसमें (निश्चय ही सिर्फ एक वर्ग में, पर अपेक्षाकृत एक बहुत बड़े वर्ग में) व्यवसाय चेतना प्रबल हो गई थी और 'रचना के आन्तरिक मूल्य की अपेक्षा उसकी द्रव्यार्जन शक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई'। परिणामतः जहाँ

इस सक्रांति काल के कहानीकारों के एक छोटे से वर्ग ने "बहुत ईमानदारी से साहित्यिक मूल्यों के विकास का प्रयत्न किया, वहां दूसरे वर्ग ने केवल लिखने के लिए लिखा और सामान्य पाठकों के लिए यह विवेक करना लगभग असम्भव कर दिया कि इन दोनों वर्गों की विभाजक रेखा कहां से आरम्भ होती है।"[1]

किन्तु उस छोटे कहानीकार के भी चारों ओर का वह समाज जो बड़ी तेजी से बदल रहा था, जिसमें जीवन की संकुलता बड़ी तीव्र थी, उसे समझने और अपनी कला में पकड़ने की जैसे उनके पास शक्ति और दृष्टि दोनों न हो। इसके ठीक विपरीत स्तर पर इस छोटे से कहानीकार वर्ग ने यथार्थ भावभूमि, चरित्रांकन और उस तेज जीवन की यथार्थ हलचल को छोड़कर अपेक्षाकृत ठहरे हुए, सर्वमान्य वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन खंड को अपनी कहानियों में अभिव्यक्ति दी। परिणामत: वह नया संघर्षशील सामाजिक पार्श्व का एक बहुत बड़ा भाग इस सक्रांति दौर से पूर्णत: अछूता रह गया।

लेखकीय दायित्व का यह उल्लेखनीय उल्लंघन नई कहानियों के आगमन की भूमिका में एक बड़ी चुनौती था।

जहां इस सक्रांतिकाल के प्राय: सभी कहानीकार इस नई चुनौती को स्वीकारने में असफल रहे।

नई कहानी क्या है?

इस नई सामाजिकता की चुनौती को आगे स्वीकार किया नयी कहानी ने। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना परम आवश्यक है कि यह नई कहानी क्या है? "नई कहानी से हमारा मतलब है उन कहानियों से, जो सच्चे अर्थों में कलात्मक निर्माण हैं, जो जीवन के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होने के साथ ही उसके किसी न किसी नये पहलू पर आधारित है, या जीवन के नए सत्यों को एकदम नई दृष्टि से दिखाने में समर्थ हैं ... नवीनता इसमें नहीं है कि उसमें किसी अछूते भू भाग के अजीब से प्राणियों का वर्णन है, बल्कि इसमें (नयापन) है कि साधारण मानवीय जीवन में वह कौन-सा विशेष नयापन है जो सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तन के कारण पैदा हो गया है, या बिना किसी परिवर्तन के भी जीवन का कौन सा ऐसा पहलू है, जो साहित्य में अब तक अछूता है।"[2]

---

१ नये बादल—मोहन राकेश, भूमिका, पृष्ठ ६।
२ भूमिका—हंसा जाई अकेला, मार्कण्डेय।

"आज कुछ लोग कहानी— नई कहानी' का सम्बन्ध एक विशेष तरह के शिल्प या वस्तु के साथ जोड़कर उसका मूल्यांकन करना चाहते हैं। हमारी रचना का क्षेत्र निःसीम है और रचना की वास्तविक सिद्धि उसके प्रभाव की व्यापकता में है। इसके लिए इतना ही आवश्यक है कि लेखक का दृष्टिकोण स्पष्ट हो और उसकी रचना उसके और पाठक के बीच एक घनिष्ठता की स्थापना कर सके। इसके लिए अभिव्यक्ति में जिस स्वाभाविकता की आवश्यकता है, वह जीवन की सहज अनुभूतियों से जन्म लेती है और वह स्वतः ही रचना को सहज संवेद्य बना देती है। ये अनुभूतियाँ हमें जीवन के हर पक्ष और हर पहलू से प्राप्त हो सकती हैं।"[१]

कहानियाँ केवल 'शिल्प', 'रंगीन वर्णन', 'कला' की कलाबाजी के बल पर खड़ी नहीं होतीं, उनका निर्माण जीवन्त वस्तु शिला पर होता है और इसीलिए वे पत्थर की तरह ठोस और कंक्रीट की तरह शक्ति सम्पन्न होती हैं। उनमें आपको बड़े बोल नहीं मिलेंगे, घुमाव फिराव या बाल की खाल निकालने वाली बारीकी नहीं मिलेगी, मिलेगी एक सरलता, एक सहजता, एक सादगी और एक सीधापन... लक्ष्य भी सीधा और अचूक होता है। कहानी की कोई एक बात या कोई एक विशेषता हमारे मन में नहीं बसती, बल्कि पूरी कहानी हमारे स्मृति पट पर चित्रित रहती है। इसका कारण यह है कि (कहानीकार) एक बात विशेष या एक चरित्र विशेष के इर्द गिर्द कथानक के जाल नहीं बुनते, बल्कि जीवन का एक जिन्दा टुकड़ा ही उठाते हैं और उसे अपनी सहज कला से गढ़कर सामने रख देते हैं।"

—भैरवप्रसाद गुप्त

"इसलिए कि बहुत सी कहानियाँ (आजकल) केवल स्थिति विशेष के प्रति एक गहरी उदासी और एक करुणा उत्पन्न करके रह जाती है। उनमें क्रियात्मकता नहीं रहती। ... आज की कहानियों में परिवेश बोध की विकसित चेतना बहुत महत्त्व की वस्तु है।'

—नित्यानन्द तिवारी—'लहर', नई कहानी विशेषांक

ऊपर के कथन, विचार नई कहानी के विषय में दो प्रतिनिधि कहानीकारों के हैं, फिर 'कहानी', 'नई कहानी' के उल्लेखनीय सम्पादक और विचारक भैरव प्रसाद गुप्त के है, और अंतिम अंश एक सजग पाठक आलोचक का है।

१ भूमिका—नये बादल, मोहन राकेश।

इन स्थापनाओं और विचारों से नई कहानी की प्रकृति की झलक मिलती है। इसके स्वरूप के तीन पक्ष—

(अ) महज सामाजिकता

(ब) अनुभूति

(स) परिवेश बोध की विकसित चेतना

यहां स्पष्ट रूप से उल्लेखनीय है। पीड़ा और प्रयोजन अनुक्रम के अन्तर्गत जिन सकट बिन्दुओं की हमने चर्चा की है नई कहानी उसी अभाव का उत्तर भी है तथा पूरक भी। इस नई कहानी का सबसे बड़ा स्वर यह उभरा कि इसने अपने काल परिस्थिति के जीवन और समाज, सघषकालीन स्थितियों से अपना सीधा सबध स्थापित किया। उसने अपना नया अथ दिया आजादी के बाद हमारे समाज में जो नई समस्याए उभरी, जो अपूव कोलाहल और हलचल अथवा उनसे सीधे उलझना और उनके भीतर से नये प्रश्नों की चुनौती को स्वीकार करना।

इस तरह से हम देखते हैं कि नई कहानी में जैसे कहानी की आत्मा में ही परिवतन हो गया। यह इतनी बड़ी बात क्योंकर घटी, इसके उत्तर में द्वितीय महायुद्ध के परिणाम, विशेषकर नतिक मूल्यों और मान्यताओं पर उसका चतुर्दिक् प्रभाव लिया जा सकता है। विशुद्ध सामाजिक स्तर से देखने पर हमारे पुराने स्थिर सत्य बहुत अधिक अर्थों में झूठे दिखाई देने लगे। 'भाई अपनी बहनों से उतना प्यार नहीं करते, जितना बहनें अपने भाइयों से'—हमारे यहां यह एक माना हुआ सत्य था। पर युद्ध की विभीषिका, दिनों दिन बढ़ती मँहगाई और देश के विभाजन के बाद जब लड़कियां नौकरी करने लगीं, वे न केवल आर्थिक रूप से स्वावलम्बिनी हुई, वरन माता पिता और छोटे भाई बहनों की पालनकर्ता बनीं तो घर में उनकी स्थिति अनायास बदल गई। और बेरोजगार भाइयों के लिए कहीं कहीं उनका व्यवहार वैसा ही उपेक्षापूर्ण हो गया, जैसा कभी पहले भाइयों का बहनों के प्रति होता था। न केवल यह, बल्कि माता पिता को भी उनके इस व्यवहार में कोई असगति नहीं दिखाई दी। उषा प्रियम्वदा ने अपनी कहानी 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' में इसी वस्तु सत्य को नई दृष्टि से परखा है।'

—उपेन्द्रनाथ अश्क

—लहर, नई कहानी विशेषांक, पृष्ठ ५२

नई कहानी के विकास का पहला चरण

हिंदी नई कहानी अपने विकास के पहले चरण मे इसी बदली हुई सामाजिक नैतिक परिस्थिति को जीवन की समग्रता के बीच नई दृष्टि से देखने लगी। क्या गांव, क्या कस्बे, क्या शहर, क्या गली, क्या नई बनती हुई बस्ती या उजडे हुए बाजार कूचे—इन सब क्षेत्रो मे उसकी दृष्टि सीधी उनकी यथार्थता से टकराई। उस दृष्टि मे उसने देखा कि पिछले कितने सामाजिक, राजनीतिक धार्मिक, नैतिक यहाँ तक कि व्यक्तिगत स्थिर मान्य सत्य झूठे दिखाई देने लगे। यह परिवर्तन केवल कहानीकार की ही नई दृष्टि के स्तर से नहीं हुआ, वरन यह परिवर्तन पाठक की रुचि मे भी आया। वह कल्पना के स्थान पर अपना समसामयिक जीवन देखने की नई माग करने लगा। इस नई माग तथा लेखक की नई दृष्टि का ही यह फल हुआ कि कहानी और नई कहानी के क्षेत्र म धडाधड नई कहानी की पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशन क्षेत्र मे अवतरित हुइ और दिनोदिन नई-से-नई विशुद्ध कहानी मासिक पत्रिकाएँ आने लगी, जैसे 'कहानी' 'नई कहानिया, 'विनोद 'नीहारिका' और 'सारिका' आदि। विकास का यह पहला चरण इतना वेगमय, शक्तिमय तथा उत्साहपूर्ण था कि देखते ही-देखते उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण कहानीकारो का एक नया दल इस नए क्षितिज से यहा छा गया—मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, मार्कण्डेय, शिवप्रसादसिंह, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल उषा प्रियम्वदा, मन्नू भडारी, फणीश्वरनाथ 'रेणु', शेखर जोशी और लक्ष्मीनारायण लाल आदि। इस नए चरण ने अपने आगमन के बीच बडी बुरी तरह से आये हुए उस गतिरोध को (रचना प्रक्रिया और विषय वस्तु तथा दृष्टि स्तर से) इस तरह से अपनी धारा मे बहा लिया जैसे बढी हुई गगा और सरजू नदी देखते ही देखते अपने बाधो को तोडकर उन्हे अपनी सहज धारा मे ले लेती है।

फिर तो गढे गढाये, अतिनिर्मित, अति शिल्प प्रधान तथा कृत्रिम कथानको तथा पात्रो के बाध टूट, और एक नई वेगवती सहज धारा ऐसी फूटी कि हमारा सारा समाज, सारी प्रकृति, जहाँ तक कहानीकार की नजर दौड सकती है—वह सब कुछ नई कहानी का विषय दिखा। वहीं के सभी जीते-जागते प्राणी उस उसकी नई कहानी के चरित्र के रूप म मिले। अनन्त विषय, अनन्त समस्याएँ और अनन्त चरित्र। ऐसा विस्तृत क्षेत्र, सहानुभूति की ऐसी उदारता, मनुष्य का

सम्पूर्ण समाज के साथ बांधकर देखने की ऐसी निर्वैयक्तिक दृष्टि, जहां हमारा जीवन और इस जीवन के अन्तस्तल में बैठी हुई, कामरत चेतना और संघर्षशील हृदय अपने उसी जीते जागते स्पंदन रूप में अभिव्यक्ति पाने लगा। अपनी उसी महती परम्परा में—जिसमें प्रेमचन्द का 'कफ़न', 'बड़े भाई साहब' अज्ञेय की 'रोज़', यशपाल का 'पराया सुख', जैनेन्द्र का 'मास्टरजी', अमृतराय का 'कस्बे का एक दिन' आदि कहानियां आती हैं। तभी मेरा विचार है कि नई कहानियों के श्रेष्ठ उदाहरण में आने वाली ये कहानियां—अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन', राकेश की 'मिस पाल' 'आर्द्रा', मार्कण्डेय की 'उत्तराधिकारी', राजेन्द्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है', निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया' भारती की 'गुलकी बन्नो', मन्नू भंडारी की 'यह भी सच है', फणीश्वरनाथ रेणु की 'मारे गए गुलफाम' उषा प्रियम्वदा की 'जिन्दगी और गुलाब', शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' आदि जहां एक ओर नई हैं, वहां दूसरी ओर यह परम्परा अर्जित उपलब्धि भी हैं।

"दृष्टि बदली, मानव और जीवन को देखने के ढंग बदले, तो कहानी का शिल्प भी बदला। पहले की-सी कथानक प्रधान, झटका देने और मधुर टीस उत्पन्न करने वाली गढ़ी-गढ़ाई कहानियों के बदले जीवन की गहमागहमी, रंगारंगी, कटु यथार्थता, जटिलता, संश्लिष्टता का प्रतिबिम्ब लिये हुए ('जिन्दगी और जोंक' अमरकान्त, 'जानवर और जानवर'—मोहन राकेश) सीधे-सादे स्केच की सी ('खेल'—रघुवीर सहाय, 'नया आदमी नया जन्म'—अमृतराय), निबन्ध की सी, संस्मरण चित्र ('अकल'—रामकुमार, 'घरउआ'—भैरवप्रसाद गुप्त, 'द्रौपदी'—लक्ष्मीनारायण लाल), कुछ प्रभावों अथवा स्मृतियों का गुम्फन मात्र ('खुशबू'—राजेन्द्र यादव), वर्णनात्मक ('शिमले के कलर्क की कहानी'—रामकुमार), चित्रात्मक ('निशाजी'—नरेश मेहता) डायरी के पन्नों अथवा पत्रों का रूप लिये हुए ('सईदा के खत'—अमृतराय)। एक ओर लोक-कथा और दूसरी ओर उपन्यास की हदों को छूती हुई तरह तरह की कहानियां लिखी जाने लगीं। पहले कहानियों में उपमाओं का प्रयोग होता था, जिससे उनकी सरलता तथा सुगमता द्विगुणित हो जाती थी, अब उनमें स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग होने लगा, जिससे उनकी जटिलता और संश्लिष्टता बढ़ी। निर्मल वर्मा की 'परिन्दे', मार्कण्डेय की 'धुन', राजेन्द्र यादव की 'अभिमन्यु की आत्महत्या' अमृतराय की 'मंगलाचरण' ऐसी ही कहानियां हैं।" —नई कहानी एक पर्यवेक्षण—'अश्क'

इस नई कहानी का इतना वेग इतना प्रभाव कि पुरानी पीढ़ी के अनेक प्रतिष्ठित विकासोन्मुख कहानीकारों ने इसको अपनाकर अपनी रचना प्रक्रिया को ही बदल दिया। उनकी दृष्टि बदली और स्वभावत उसीके अनुसार उनकी शिल्प विधि में आमूल परिवर्तन हुए। इसके उदाहरण में सबसे पहला महत्वपूर्ण नाम उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का लिया जा सकता है। उनका 'पलंग' कहानी-संग्रह इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है। इनके अतिरिक्त रामकुमार, अमृतराय, भैरवप्रसाद गुप्त, शरद जोशी, बलवन्तसिंह आदि के नाम महत्वपूर्ण हैं।

एक दूसरी कहानी-धारा

नई कहानी धारा के समानान्तर एक दूसरी कहानी धारा भी प्रवहमान है। जिसका अलग से मूल्यांकन और चरित्रबोध आवश्यक है। इस दूसरी कहानी धारा की सर्वथा अपनी दो प्रकृति और स्वरूप हैं

(१) नई कहानी लेखकों की अपनी एक पुरानी कहानी धारा।

(२) सर्वथा पुरानी कहानी—परम्परा का रूप।

पहली प्रकृति और स्वरूप के अन्तर्गत हिन्दी नई कहानी का उन्मेष आता है। इस नवोन्मेष की एक विशेषता यह भी थी कि जो नया कथाकार अपनी जन्म भूमि कर्मभूमि के विशेष अंचल से आया हुआ था, या उससे संस्कारतः सम्बन्धित था, उसने अपने उसी अंचल या देश विशेष को ही विषय सामग्री के रूप में ग्रहण किया। यह सत्य नई कहानी के लेखक के रचनाकार व्यक्तित्व की ईमानदारी का द्योतक तो था ही, साथ ही विषय सामग्री की यह नई ऐतिहासिकता उनकी रचना-प्रक्रिया की एक बहुत बड़ी पकड़ थी। प्रेरणा भूमि के भी रूप में, और स्वभावत उसीके अनुरूप रचना शिल्प के भी रूप में। तभी इस नई कहानी-धारा में एक ही लेखक द्वारा समान अर्थों में उसीकी लेखनी से एक ओर जहां सर्वथा नई कहानी की रचना हुई, वहां दूसरी ओर उसने पुरानी कहानी भी लिखी। पुरानी कहानी, रचना प्रक्रिया संदर्भ में।

यह नई पुरानी कहानी नए कथाकार द्वारा इस तरह एक साथ चली कि इसका मूल्यांकन और अर्थबोध करना पहले कठिन हो गया। किन्तु आगे जब उसी लेखक की दोनों तरह की कृतियों की एक सहज स्पष्ट धारा बनने लगी तो उन्हें अलग अलग पहचानने में सरलता हो गई। मोहन राकेश की सर्वथा नई कहानी थी 'मिस पाल' इसी के साथ उनकी पुरानी कहानी थी 'मलबे का मालिक'।

अमरकांत की नई कहानी 'दोपहर का भोजन' साथ ही पुरानी कहानी 'डिप्टी कलक्टर'। मार्कण्डेय की नई कहानी 'माली', उन्हीकी पुरानी कहानी 'गुलरा के बाबा'। शेखर जोशी की नई कहानी 'बू' पुरानी कहानी 'दाजू'। राजेन्द्र यादव की नई कहानी जहा लक्ष्मी कैद है', पुरानी कहानी 'खुशबू'। इसी तरह प्राय सभी नये कथाकारो से नई पुरानी कहानी का एक साथ ही समान रूप से लेखा-जोखा दिया जा सकता है। इस पूरे चरण मे, इस प्रसग मे केवल निर्मल वर्मा ही एक ऐसे उदाहरण हैं जो सर्वथा एक ही तरह की एक ही अर्थ मे सिर्फ नई कहानी के लेखक हैं।

नई-पुरानी की इस मिली जुली धारा से वर्तमान कहानी-साहित्य इस तरह से समृद्ध हो रहा है कि इसमे नये कथाकारो की रचनात्मक ईमानदारी और शक्ति दोनो का परिचय मिलता है। इसमे सहज ही एक व्यापकता, सहानुभूति, का विस्तार देखने को मिलता है। जो पहले अपने अह के भीतर मे जीवन की अबाध धारा से अलग करके जीवन को क्षण मात्र मे देखने की अजब प्रथा चली थी, जो पहले व्यक्ति को खडित रूप म परखने उसे उसके विराट परिवेश (प्रकृति अथ, राजनीति, समाज आदि) से अलग करके उसे चित्रित करने की रीति थी, उसके स्थान पर अब पूर्ण सदर्भ, पूर्ण चित्र-सकेत के उदाहरणो से वर्तमान कहानी साहित्य प्रकाशमय हो चला है।

दूसरी कोटि म द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, भरत-प्रसाद गुप्त, आनन्दप्रकाश जैन आदि रखे जा सकते हैं।

नई कहानी—दिशा-अध्ययन

नई कहानी, अपने प्रथम चरण से लेकर आज तक (१९६२) इसकी विकास दिशाओ का अध्ययन अपने-आप मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। ये नई कहानियाँ किस रूप और किन विशेष दिशाओ मे प्रतिफलित हुई हैं—इन तत्त्वो का मूल्याकन करना इसकी उपलब्धि का अध्ययन है।

विषय और सवेदनाओ के अध्ययन क्रम मे जो बात सबसे पहले हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह जीवन की छोटी छोटी अनुभूतियो मे अवगाहन विराट् सवेदनाओ की ओर इसका सहज सकेत। साथ ही यह भी सच है कि इसके आज तक के पूरे विकास म यह देखने को मिलता है कि अनुभूतियो और सवेदनाओ के समय लेखको ने इतने कम समय के भीतर जीवन और समाज के अतरतर

अपरिचित स्तरों को उभारा है। क्या ग्राम जीवन की कहानियां, क्या कस्बा या शहरी जीवन की कहानियां—इसकी नई कला ने जीवन के नए संदर्भों और नई वास्तविकता का बड़ी ईमानदारी से चित्रांकन किया है। इस चित्रांकन में विशेष बात है लेखकों की अपनी सांकेतिक प्रतिक्रिया, जो सर्वथा रचना प्रक्रिया के भीतर से उसका अभिन्न अंग बनकर उभरती है। मार्कण्डेय की ग्राम जीवन की कहानियां और कमलेश्वर की अपनी बस्ती की कहानियां इसके उदाहरण में रखी जा सकती हैं। यहां लेखक की अपार संवेदनशीलता तथा बदलते हुए जीवन के भीतर प्रसन्न पक्षों तथा ह्रासोन्मुखी जर्जर शक्तियों के प्रति कटु व्यंग्य तथा विद्रोह, इस प्रसंग के बड़े महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। मार्कण्डेय का 'भूदान', 'दाना भूसा', 'आदर्श कुक्कुट गृह', कमलेश्वर की 'नीली झील', 'बदनाम बस्ती'[1], 'सलमा'[2], 'फणीश्वर-नाथरेणु' की 'अच्छे आदमी'[3] इस नये क्षेत्र की उत्कृष्ट कहानियां हैं। यहां एक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है इन कहानियों का परम वैविध्य कहीं भी। किसी भी स्तर से एकरसता और दुर्बोधता का नामोनिशान नहीं। ऋजु कौशल और सहजता ही इनकी शक्ति है तथा एक निश्चित अभिप्राय है संघर्षशील, बदलते हुए जीवन के भीतर युद्धरत शक्तियों से डटकर जूझने और सीधे चुनौती देने का उद्देश्य।

वर्तमान नई कहानी साहित्य को लेकर एक बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि अनुभूति की नवीनता ही क्या नई कहानी की सीमा सामर्थ्य है? इसके उत्तर में सिर्फ इतना ही कहना पर्याप्त है कि नई कहानी में यह नवीनता उसका साध्य नहीं है, महज एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मुख्य है इस अनुभूति की नवीनता के भीतर लेखकों की अपनी दृष्टि—जिसका मूल्यांकन शायद हम अभी नहीं कर सकते, इसके सहज रूप को हम अगले दस वर्षों के बाद ज्यादा ईमानदारी से पहचान सकते हैं। क्योंकि दृष्टि मूल्यांकन ऐतिहासिक प्रक्रिया के भीतर से देखना है—जब कि एक काल विशेष का प्रवाह थम जाता है और उसके आगे जब एक नया प्रवाह, एक नया काल आता है, तब कर सकते हैं। उस भविष्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इस नई कहानी साहित्य का स्वर और उसका अर्थ अपनी पूरी स्पष्टता और अर्थवत्ता के साथ व्यक्त होगा। पर इतना कहना अतिकथन न होगा कि नई कहानी में जितनी विविध अनुभूतियां, विविध मानवीय दुःख-सुख के स्वर उभरे हैं, सबके सब एक स्तर के नहीं हैं, कहीं गहराई है, तो कहीं केवल

---

१ सारिका—अगस्त १९६०। २ नई धरती—सितम्बर ६२। ३ धर्मयुग कहानी-विशेषांक १९६२

विस्तार ही है। कही उत्कट ईमानदारी है तो कही सिर्फ आग्रह ही है । कहीं अविच्छिन्न जीवन्तता के तत्त्व पूरी तरह से हाथ मे आये ह तो कही सिर्फ वही खडित चित्र ही हैं—उदास और करुण—क्रियात्मकता—हीन-जड, स्पदन-रहित। यहा अनायास ही 'परिन्दे', जिन्दगी और जोंक 'मिस पाल', 'पलग', 'जहा लक्ष्मी कैद है', 'वापसी', 'सावित्री नम्बर दो', 'ददवू' आदि कहानियो की सुधि हो आती हैं—ठीक उसी तरह जसे अज्ञेय की 'रोज' कहानी की सुधि।

पर स्थिति के प्रति सचेतनता और वतमान यथाथ के प्रति सक्रियता की ओर नई कहानी धारा विशामोन्मुख और सजग है—यह इसकी परम मूल्यवान प्रकृति है। ज्यादा नही, पर एक वष मे दो एक ऐसी महत्त्वपूण कहानिया अवश्य मिलती ह जो अपने एतिहासिक परिप्रेक्ष्य म सजग रहकर दृष्टि की नवीनता के साथ हमारे दु ख सुख को अविच्छिन्न जीवन्तता से जोड देती है।

शिल्प अध्ययन की दृष्टि से यदि हम आज तक के नय कहानी साहित्य का मूल्याकन करें तो अय अनक बातें हमारे सामने आती हैं।

(अ) प्रेमचन्द के युग के प्रारम्भ म कहानी मे मुख्य तत्त्व ढढन पर जहां घटना मिलती थी, आगे जनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय की कहानी मे जहा मुख्यत चरित्र पर आग्रह था, ठीक इसी प्रसग म यदि इस नई कहानी का हम कोई मुख्य तत्त्व ढूढन चलें तो हम इन दोनो तत्त्वो से आगे वह नवीन तत्त्व मिलेगा—परिवेश बोध की विकसित चेतना।

(ब) कहानी के पीछे एक विचार आइडिया मुख्य रूप से प्रेरक शक्ति है। और वह विचार पूरी कहानी म घनीभूत रहता है। बिना किसी विस्तार के। बिना किसी अस्वाभाविक नाटकीय चरमसीमा के मोह के। कहानी के किसी भी अश म उस विचार की सुगधि मिल सकती है।

(स) विचार पूरी कहानी मे व्याप्त न रहकर केवल चरित्र के पीछे उसकी दीप्ति रहती है। ऐसी दीप्ति जो उस चरित्र को युनिवर्सलाइज करती है।

(द) कहानी म कोई विचार नही है—कहानी आदि से अत तक विचारहीन। उसमे केवल एक जिया हुआ जीवन-क्षण या अश मात्र रहता है और उस भोगे हुए क्षण को ही मुखरित करना, उसे ही कुशाग्र बनाना कहानीकार के जीवन का उद्देश्य रहता है। यह नई कहानी जीवन के इन अनुभूत क्षणो की झाकी देकर उसके प्रति विचार के लिए सब कुछ वह पाठक पर छोड देती है—किन्ही अर्थों मे जसे 'सरोयान और स्टिफिन स्विग' की कहानियाँ।

वस्तुत सच्चे अर्थों मे नई कहानी या किसी भी नई कला के अन्तगत यह द प्रकार की दिशा ही 'नई' कहलाती है। पिछली पीढी म यही तत्व अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे जब अज्ञेय अपनी कहानियो के द्वारा लकर अपने समय मे आये थे, तब उनकी कहानिया को भी 'नई' का विशेषण मिला था।[1] यही तत्व जब इस नई पीढी के कथाकारो ने अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और दाय के भीतर से अपने ढग से उभारा है तब इसे भी 'नई' का सहज विशेषण मिला है। यही भविष्य की भी कला का निकष होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

इस सदभ मे नई कहानियो का 'नया' तत्त्व यदि एक रेखा मे सहज ही रखा जाय तो परिवेश बोध की चेतना, अनुभूति का ग्रमन तथा जीवन के नए सदर्भों—समस्याओ से जूझने की शक्ति सम्पन्नता के ही तत्त्व होंगे।

नई कहानी का शिल्प-सौन्दय

वस्तु और शिल्प के नए प्रयोग का काल इससे पहले का था—जनेन्द्र और अज्ञेय का। हमारी यह पिछली पीढी इस सदभ म इतनी सजग और जागरूक थी कि इसके हाथो कहानी अपनी उच्चतम प्रयोगशीलता को प्राप्त हुई। इन सब प्रयोगो और शिल्प सौष्ठव क अन्तगत जो शिल्प प्रकार सबसे अधिक महत्त्वपूण और प्रेषणीयता के स्तर पर सबसे अधिक सम्पन्न थे उन्हीको इस नई पीढी ने अपने शिल्प मे अगीकृत किया। इस काल म मुख्य था कथ्य, सदभ, नई यथार्थता जिसमे शिल्प प्रयोग का प्रश्न ही नही था। बल्कि हम या कह सकते हैं कि शिल्प इसकी रचना प्रक्रिया का अत्यन्त स्वाभाविक सहज अग था। जिसे कहानी की आत्मा और स्वरूप मे अलग करके उस रूप म नही देखा जा सकता, जसा कि प्रेमचन्द, जनेन्द्र और अज्ञेय के काल म देखा जा सकता था। वहाँ कहानी का एक निश्चित रूप था, उसका एक सीमित शास्त्र था। शायद तभी उसकी एक शास्त्रीय एकरूपता थी। अमुक कहानी वणनात्मक है, ऐतिहासिक शली मे लिखी हुई। अमुक कहानी आत्म-कथात्मक शैली में है। अमुक कहानी का शिल्प डायरी का है, अमुक का पत्रात्मक और अमुक का पूवदीप्ति प्रधान (फ्लैशबैक टेकनीक)

---

[1] मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपनी अनुभूति ही लिखे, जो अनुभूति नहीं है, कोई सैद्धान्तिक प्रेरणा के वशीभूत होकर उसे लिखना आत्मशोध हो सकता है साहित्यिक सिद्धि नहीं।—अज्ञेय, शरणार्थी भूमिका, पृष्ठ ७

तथा अमुक का शिल्प-सम्भाषण प्रधान है, अपनी कहानियों मे इतने गठे गठाये, पूर्ण परिष्कृत शिल्प का उदय दिया कि उन्हीके कला मे जैसे उसकी अपनी चरम सीमा तय हो गई। उसके आगे का पक्ष था—बिम्बों और प्रतीकों का। अन्तर्मुखी रचना-शिल्प का।

पर ऐसा नहीं हुआ आगे। बल्कि इस स्वाभाविक चरमसीमा के प्रतिकूल नई कहानी का शिल्प पथ शुरू हुआ। शिल्प परिष्कार, शिल्प आग्रह मे कहानीकार की दृष्टि हटकर सीधे कहानी के नए सदर्भ बोध, जीवन बोध और परिवर्तन पर गई। फल यह हुआ कि शिल्प कहानीकार की दृष्टि का सहज अनुवर्ती मात्र बन गया और उसकी सचालिका कहानी की आत्मा स्वय बन गई। कहानी का विचार, उसकी अनुभूति, उसके अविच्छिन्न जीवन सदर्भ। जीवन की जीजिविषा सघर्षमय स्थितियों से सीधे लोहा लेने का प्रण।

न कटे छँटे कथानक, आदि मध्य अत की भावना से न सजग, न तराशी हुई उस तरह की घटनाएँ, न रोमान, न उस तरह के बिम्ब, न प्रतीक, न झटका देने वाले व नाटकीय अत, न लटके। शेखर जोशी, अमरकान्त, मार्कण्डेय के 'पानफूल' कहानी सग्रह की कहानियाँ इनके उदाहरण मे हैं।

नई कहानी के शिल्प भी दय म उसके कथ्य के अनुरूप जैसे कहानी का सारा शिल्प ही उदार से उदारतम हो गया। उसका बधा बँधाया शास्त्रीय रूप अपने आप ही उदार और सहज हो गया। कथा, लोक तत्व, सस्मरण, यात्रा-वर्णन की शैली, डायरी की कला, रमन पद्धति ये सब के सब तत्त्व मिल जुलकर एक ही कहानी म उजागर सहज हो गए। यह सर्वथा एक नया शिल्प ही बन गया।

कहानी का शिल्प कहानी की अतरात्मा म जैसे सराबोर हो गया। शिल्प उसकी आत्मा मे डूबकर एक हो गया। और इस तरह कहानी कला बड़ी नाजुक ममस्पर्शिनी बन गया। दूसरी ओर वह कहानी की उद्दाम शक्ति का वाहन हो उठी। इस सहज प्रक्रिया मे शिल्प की अपनी बारीकी कहानी के स्वभाव और शक्ति के साथ एकाकार होकर अपने सही रूप मे सवेदित हो उठी। इसके लिए उसे भाग्यवश पाठकों का प्रबुद्ध वर्ग विरासत रूप मे ही मिला, जो कहानी की प्रकाशित सवेदना तथा बारीकियों की व्याख्या और सराहना कर सके।

अब सवाल उठता है कि नई कहानी मे यदि शिल्प नया नहीं है, कुछ नया विशेष नहीं है तो यह किस तरह नई कहानी है। मेरा विचार है कि इस स्तर से शिल्प की नवीनता, नए गठन से ही कोई कहानी नई नहीं हो सकती। नए व

लिए मूल रूप से आवश्यक तत्त्व है नया जीवनानुभव और नई जीवन-दीप्ति, क्योंकि जीवन-दृष्टि ही वह सारभूत तत्त्व है जो चीजों का अर्थ बदलती है। यह नया अर्थ ही सारवान वस्तु है। यह नया अर्थ किस तरह बदलते हुए जीवन तथा उसके मूल्य में किस तरह कैसे घट रहा है, सार्थक हो रहा है उसके मर्म तक पहुँचना और उसे उद्घाटित करना नई कला का चिरंतन लक्ष्य है। वस्तुत नई कहानी की यही दिशा है। पर यह अभी उसकी उपलब्धि नहीं है—यह स्पष्ट है।

यही हर नई के प्रति एक आशंका का भाव अथवा खतरा भी खड़ा रहता है। यह खतरा है—नवीनता के प्रति आसक्ति। यह आसक्ति लेखकों को उनकी असली जगह से डिगाकर उसे फ़ाम की नवीनता अथवा शिल्प के चमत्कृत गह्वर में खींच ले जाती है। इधर नवीनता की यही आसक्ति अनेक कहानीकारों के माथे पर मंडरा रही है और वे अनावश्यक रूप से बिम्बों और प्रतीकों के जाल में फँस रहे हैं। जिस जाल को उन्होंने अपनी उद्दाम शक्ति से तोड़ फेंका था और कहानी की धारा को नया क्षेत्र, नया प्रसंग और नया उद्देश्य दिया था, वे ही स्वयं फिर उसी रास्ते पर मुड़ रहे हैं, इसके पीछे निश्चित रूप से वही नवीनता के प्रति आसक्ति है, उसकी दृष्टि के प्रति नहीं।

जहाँ फ़ाम और कथ्य दोनों एक हैं, अनुरूप है, अविच्छिन्न हैं—ऐसी कहानियाँ इस चरण में अनेक हैं और उन्हीं कहानियों की धारा नई कहानी के शिल्प-सौंदर्य की स्वस्थ धारा मानी जाय, शेष सब 'नए' के प्रति 'फैशन का भाव' माना जाय इसमें किसी को कोई एतराज नहीं है। नए के प्रति यही आसक्ति की भावना ही शायद ग्रामीण और शहरी जैसी कहानियों के अलगाव में सहायक सिद्ध हुई थी। क्योंकि कहानी का फ़ाम ही कहानी की आत्मा उसका आतरिक स्वरूप बन जाय, ऐसा कभी उपादेय हो नहीं सकता—उपलब्धि तो कभी भी नहीं। कहानी की मौलिक अनिवार्यता आखिरकार चरित्र ही है, वह जीवन अश ही है, जो कहानी के नए शिल्प का उत्स बिंदु है। इसीके अनुरूप कहानी अपने शिल्प को जैसे अपने आप ही बदलती और विकसित करती रहती है।

ललित निबन्ध

रामस्वरूप चतुर्वेदी

निबन्ध एक विशेष प्रकार की मन स्थिति की रचना है। या तो साहित्यिक इतिहास के किसी भी युग म निबन्ध लिखे जा सकते हैं, लिखे गए है, पर निबन्ध का विकास किन्ही विशेष प्रकार के कालो से अधिक सबद्ध देखा जाता है। अति व्याप्ति के भय से आशक्ति रहने पर भी कहा जा सकता है कि निबन्ध की रचना प्राय समाज और साहित्य के उदारतावादी (Liberal) कालो मे माध्यम विशेष के रूप म अधिक होती है ('निबन्ध' का शाब्दिक अर्थ है 'बँधा हुआ', पर आज उसकी प्रवृत्ति है खुली हुई, उन्मुक्त।)। यहा 'माध्यम विशेष पर बल देना चाहूँगा, क्योंकि किसी युग मे निबन्ध का माध्यम अभिव्यक्ति के स्तर पर महत्वपूर्ण रहा हो तभी हम कहेंगे कि उस युग म निबन्ध एक कलात्मक माध्यम के रूप म स्वीकृत और प्रतिष्ठित हुआ। निबन्ध रचना के ये काल यूरोपीय साहित्य—विशेषत फ्रेंच और अग्रेजी साहित्य के इतिहास म १९वी शती और २०वी शती के प्रारभ म दिखते हैं, जिस काल म उदारतावाद समूचे युग के चिंतन की महत्त्वपूर्ण वृत्ति थी। निबन्ध रचना और इस उदारतावाद का आतरिक सवेदना के स्तर पर क्या सम्बन्ध है, इसे हम आगे देखेंगे।

हिन्दी के एक सफल निबन्धकार ने, जिन्होने निबन्ध को उसके वास्तविक स्वरूप म—और यह वास्तविक स्वरूप क्या है, इसकी भी हम चर्चा करनी है—समझा है, एक स्थान पर निबन्ध की रचना वृत्ति के बारे म विश्लेषण करते हुए कहा है, "पाश्चात्य साहित्य म ऐसे निबन्धो का विकास आधुनिक युग म हुआ है। आख्यायिका की तरह यह निबन्ध कला भी आधुनिक युग की रचना है। ऐसे निबन्धो की सबसे बडी विशेषता यह है कि ये मन की स्वच्छन्द रचनाएँ हैं। उनमे न कवि की उदात्त कल्पना रहती है, न आख्यायिका लेखक की सूक्ष्म दृष्टि, और न विज्ञो की गभीर तर्क पूर्ण विवेचना। उनमे लेखक की सच्ची अनुभूति रहती है, उनमे उसके सच्चे भावो की सच्ची अभिव्यक्ति होती है, उनमे उसका उल्लास रहता है। कवि उच्च मार्ग से प्रेरित होकर काव्य की रचना करते हैं, विज्ञ ज्ञान की कसौटी पर सत्य की परीक्षा कर प्रबन्ध लिखते हैं। आख्यायिका लेखक कल्पना के द्वारा मनुष्य जीवन का रहस्य प्रत्यक्ष कराने के लिए चरित्र वचित्र्य और घटना वैचित्र्य की सृष्टि करते है। पर ये निबन्ध तो उस मानसिक स्थिति मे लिखे जात

हैं, जिसमे न ज्ञान की गरिमा होती है और न कल्पना की महिमा जिसमे जीवन का गौरव भूलकर हम अपने मे ही लीन हो जाते हैं, जिसमे हम ससार को अपनी ही दृष्टि से देखते है और अपने ही भाव से ग्रहण करते हैं।"[१] इस लम्बे उद्धरण से निबन्ध की रचना प्रक्रिया पर अच्छा प्रकाश पडता है। द्रष्टव्य है कि यह ससार को 'अपनी ही दृष्टि से देखना और 'अपने ही भाव से ग्रहण करना उदारतावादी विचार धारा की सबसे बडी विशेषता है। क्योंकि उदारतावादी जहा 'अपनी ही दृष्टि से देखे हुए को सत्य मानता है, वही दूसरो की दृष्टि से भी उस सत्य तक पहुँचा जा सकता है, इस सम्भावना को भी स्वीकार करता है।

यह सही है कि निबन्ध (Essay) का जन्म और नामकरण फ्रासीसी लेखक मौन्तेन (१५३३ १५९२) के साथ सबद्ध किया जाता है, पर व्यापक रूप मे इस माध्यम की स्वीकृति और फिर प्रचार १८वी शती से आरम्भ हुआ, और इस काव्य रूप का चरमोत्कर्ष १९वी शती मे देखने को मिलता है, जो उदारतावाद के अपने उत्कर्ष का काल है। मिल की रचना 'ऑन लिबर्टी' १८५९ मे प्रकाशित हुई, और अग्रेजी के श्रेष्ठतम निबन्धकार चार्ल्स लैम्ब ('इलाया') के निबन्धो के सकलन क्रमश १८२३ और १८३३ मे प्रकाशित हुए। यही अग्रेजी के प्रख्यात रोमाटिक कवियो का भी काल है। फ्रास की राज्यक्राति १७८९ मे हुई थी और रोमान्टिक कवियो की प्रथम रचना, वर्ड्सवर्थ और कोलरिज का सयुक्त सकलन 'लिरिकल बैलेड्स १७९८ मे प्रकाशित हुआ।

इन तिथि क्रमो, और उनके अतगत परिव्याप्त कलात्मक सवेदना का विश्लेषण करके यदि देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि रोमाटिसिज्म और उदारतावाद की भाव भूमि परस्पर गहरे स्तर पर सपृक्त है, जिसमे अपनी ही दृष्टि' और 'अपने ही भाव का असाधारण महत्त्व है। हिन्दी मे भी निबन्ध की यह उन्मुक्त प्रवृत्ति उदारतावाद के काल मे विशेषत विकसित हुई। प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट के समय मे अग्रेजी उदारतावाद का प्रभाव भारतीय शिक्षित समाज पर बडी तेजी से पड रहा था। यह उदारतावादी मनोवृत्ति, जो पहले ललित निबन्धो मे व्यक्त होती हुई दिखती है, परवर्ती काल मे छायावादी गीतो मे मुखर होने लगती है, जो हिन्दी साहित्य मे रोमाटिसिज्म को विशिष्ट रूप मे प्रतिफलित करने वाला काव्य है। यो रचनात्मक सघटन के स्तर पर ललित निबन्ध और प्रगीत की स्वरूपगत विशेषताएँ भी काफी हद तक एक-सी हैं। सामान्यत प्रगीत

---

१ 'कुछ' पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, 'क्या लिखूँ' शीर्षक निबन्ध पृष्ठ ४

के चार लक्षण बताए जाते हैं—संक्षिप्ति, आत्मगत वृत्ति संगीतात्मकता और प्रभाव की एकरूपता। कविता और गद्य रूप के अन्तर को ध्यान में रखते हुए यदि संगीतात्मकता के तत्त्व को छोड़ दिया जाय तो शेष तीनों लक्षण (संक्षिप्ति आत्मगत वृत्ति और प्रभाव की एकरूपता) प्रगीत और निबंध में प्रायः समान मात्रा में देखे जा सकते हैं। इस दृष्टि से निबंध गद्य की प्रगीत रचना है। उत्कट वैयक्तिकता की तीव्र अभिव्यक्ति इन दोनों काव्य रूपों में देखने को मिलती है।

'अपनी दृष्टि' का अतिरिक्त महत्त्व, उदारतावाद और रोमांटिसिज्म, निबंध और प्रगीत में समान भाव से व्याप्त हैं। क्योंकि मूलतः इन दोनों पद्धतियों और उनके अन्तर्गत विकसित तथा पुरस्कृत इन दोनों काव्य रूपों में मानवीय व्यक्तित्व के स्वच्छन्द आचरण और चिंतन को विशेष महत्त्व मिलता है। यहाँ पहले अपने को केन्द्र बिंदु बनाकर तभी बात आगे बढ़ती है। इस सारी स्थिति को यों कहा जा सकता है—सामाजिक विकास की दृष्टि से उदारतावादी काल के अन्तर्गत साहित्य के क्षेत्र में रोमांटिक प्रवृत्तियों को विशेष बल मिलता है, जिनके सत्याग्रह में प्रगीत और निबंध के काव्य रूप प्रमुखतः अभिव्यक्ति के माध्यम बनते हैं। स्पष्ट ही इस प्रकार के निबंधों में 'पर' की अपेक्षा 'स्व' का महत्त्व अधिक रहता है, किसी विषय के स्पष्टीकरण या शास्त्रीय प्रतिपादन के लिए प्रस्तुत कृतियाँ इन निबंधों से अलग 'प्रबंध' या 'लेख' कही जायगी। कभी-कभी इन विषयपरक रचनाओं को अलग करने की दृष्टि से वास्तविक निबंधों को 'ललित निबंध' भी कहा जाता है। प्रस्तुत अध्याय में काव्य रूप के स्तर पर प्रतिष्ठित इन ललित निबंधों की चर्चा ही अभीष्ट है। अपने व्यापक रूप में तो निबंध एक बड़ा गरीब परवर माध्यम है, जिसमें कवि, उपन्यासकार, आलोचक, शोधकर्ता सभी कुछ न कुछ लिखते हैं, यहाँ ऐसी सूचनात्मक गद्य कृतियों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में उदारतावादी और रोमांटिक वृत्तियों का आरंभिक प्रतिफलन दो रूपों में दिखाई देता है—श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय प्रभृति की कविताओं में, और प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट तथा बालमुकुन्द गुप्त के निबंधों में। इस स्थिति को और स्पष्ट करके यों कहा जा सकता है कि उदारतावादी वृत्ति निबंधों में अपेक्षया सीधे अभिव्यक्त होती है बिना रोमांटिसिज्म को माध्यम रूप में अपनाए। पर कविता के क्षेत्र में प्रतिफलित होने के पूर्व यह रोमांटिसिज्म का कलात्मक रूपाकार धारण कर लेती है। उदारतावादी सामाजिक चिंतन और प्रगीतों के बीच की साहित्यिक कड़ियाँ हैं—

निबन्ध और रोमांटिसिज्म की भावना। अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनों साहित्यों में, रोमांटिक गीतों की पृष्ठभूमि में उदारतावादी विचारधारा से प्रभावित निबन्धकार दिखाई देते हैं।

जैसा संकेत किया गया हिन्दी में निबन्ध-लेखन का कार्य उस युग में आरम्भ होता है जब हमारे देश के शिक्षित समाज में उदारतावादी चिंतन पद्धति का व्यापक प्रभाव पड़ रहा था। यही कारण है कि निबन्ध साहित्य का प्रारंभिक काल ही उसका उत्कर्ष काल भी है। कालांतर में ज्यों ज्यों उदारतावादी चिंतन की मान्यताएँ पिछड़ती गई निबन्ध का काव्य रूप अप्रचलित होता गया। और आज के इस आधुनिक युग में निबन्ध और प्रगीत के माध्यम की संभावनाएँ चुकी सी लगती हैं। वर्तमान काल में उदारतावादी व्यवस्था के स्थान पर जनतांत्रिक पद्धति विकसित हुई है, और रोमांटिसिज्म के स्थान पर आधुनिक भाव-बोध का विकास हो रहा है। रोमांटिसिज्म में अतीत के प्रति एक अनिवार्य सम्मोहन का भाव है, जबकि आधुनिक संवेदना में इस सम्मोहन को नष्ट करके वर्तमान की नितांत संगति और भविष्य के आवाहन पर विशेष बल दिया जा रहा है। इन विशिष्ट परिस्थितियों में प्रगीत और निबन्ध युग की संवेदना से संपृक्त नहीं हो पाते।

हिन्दी निबन्ध की संवेदनात्मक पृष्ठभूमि के विश्लेषण के उपरांत यदि हम तत्कालीन बाह्य स्थितियों पर दृष्टिपात करें तो निबन्ध का प्रादुर्भाव पत्र पत्रिकाओं के विकास के साथ जुड़ा दिखाई देता है। हिन्दी के अन्यतम निबन्धकार बालकृष्ण भट्ट (१८४४–१९१४) और प्रतापनारायण मिश्र (१८५६–१८९४) क्रमश 'हिन्दी प्रदीप' तथा 'ब्राह्मण' के संस्थापक संपादक थे, और इन पत्रों में ही उनके निबन्ध अधिकतर प्रकाशित हुए। या कहा जा सकता है कि भारतेंदु काल से पत्र पत्रिकाओं का जो सिलसिला जमा वह द्विवेदी युग तक बराबर मजबूत होता जाता है। और हिन्दी गद्य का यह आरंभिक काल निबन्ध कला का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि भारतवर्ष में पत्रकारिता का विकास बहुत-कुछ उदारतावादी विचार-धारा से परिचालित रहा है। भारतीय राष्ट्रीयता के अभ्युत्थान काल में प्राय सभी उदारतावादी नेता पत्रकार भी थे। हिन्दी के भी आरंभिक पत्र मात्र साहित्यिक गति विधि तक अपने को सीमित न रखकर समूची

राष्ट्रीय परिस्थितियों की आलोचना भी किया करते थे। बालमुकुंद गुप्त अपने ललित निबन्धों में 'लार्ड लाड' से सीधे ही बात करते हैं। वस्तुतः तो उस उदारतावादी आंदोलन का मुख्य सूत्र अकबर इलाहाबादी ने यह कहकर दिया था—'जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो'। और बालमुकुंद गुप्त-जैसे पत्रकार ने तोप का मुकाबला अखबार से ही किया।

रोमांटिक गीतों में जहाँ प्रकृति चित्रण और वैयक्तिक प्रणय के सूक्ष्म अंकन होते हैं वहाँ निबन्धों की अनिवार्य विशेषता उनकी विनोदप्रियता—सेंस आफ ह्यूमर—है। हिन्दी लेखकों में इस विनोद वृत्ति के अभाव की चर्चा हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने प्रसिद्ध ललित निबन्ध 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है?' में की है। यह विनोद का तत्त्व वस्तुतः किसी भी साहित्य की निबन्ध कला का प्राण-तत्त्व है। ब्रिटिश सेंस ऑफ ह्यूमर कई क्षेत्रों में विख्यात है। पर साहित्य के क्षेत्र में इसकी सबसे सफल अभिव्यक्ति लैंब-जैसे निबन्धकारों की कृतियों में देखने को मिलती है। हिन्दी के आरम्भिक निबन्धकारों बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र प्रभृति में भी यह विनोद का भाव सबसे ऊपर है। शायद उदारतावादी युग में इस विनोद का विकास अधिक हुआ। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपर्युक्त निबन्ध में यह प्रतिपादित किया है कि डिक्टेटरों में स्वभावतः विनोद का अभाव रहता है और यदि किसी प्रकार से उनके व्यक्तित्व में विनोद का कुछ अंश पहुंचाया जा सके तो वे जनतांत्रिक नेता हो सकते हैं। हिन्दी के निबन्धकार द्वारा विनोद में कही गई यह बात काफी सारपूर्ण है, इसे बहुत से लोगों ने अनुभव किया होगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समसामयिकों ने निबन्ध के माध्यम को विशेष रूप से क्यों अपनाया, इसका एक कारण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन में मिलता है—"हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक लेखकों में जो एक समान गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिन्दादिली।" यह सजीवता या जिन्दादिली का भाव इस युग के तीसरे प्रसिद्ध निबन्धकार बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५-१९२३) के निबन्धों में भी पर्याप्त रूप से मिलता है। इनके निबन्ध भी अधिकतर इनके अपने पत्र 'आनंद कादंबिनी' में प्रकाशित हुए।

हिन्दी निबन्ध का दूसरा युग महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४–१९३८) और उनके समवर्तियों में देखने को मिलता है। पर भारतेन्दु युग के निबन्धों जैसा लालित्य इस युग में नहीं दिखता। इसका मुख्य कारण संभवतः इन दोनों युगों के केन्द्रीय साहित्यकारों—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी के अपने व्यक्तित्व

का अंतर है। भारतेंदु में यदि रईसी और जिंदादिली के तत्त्व अधिक मात्रा में थे तो आचार्य द्विवेदी के चरित्र में एक कट्टरता और मर्यादाप्रियता का भाव दिखाई देता है। फिर भी इस युग के कई निबंधकार ऐसे हैं जिन्हें सीधे प्रतापनारायण मिश्र की परंपरा में रखा जा सकता है। बालमुकुंद गुप्त (१८६५–१९०७) हिन्दी निबन्ध साहित्य की श्रेष्ठतम उपलब्धियों के प्रतीक हैं। कला और शिल्प की दृष्टि से इनके निबन्ध अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में कहीं अधिक परिष्कृत हैं। पर बालमुकुंद गुप्त के अतिरिक्त इस युग के अन्य निबन्धकारों में व्यक्तित्व का वैसा उन्मुक्त स्वरूप देखने को नहीं मिलता। माधव मिश्र (१८७१–१९०७), गोविंदनारायण मिश्र (१८५९–१९२६) अध्यापक पूर्णसिंह (१८८१–१९३१), पद्मसिंह शर्मा (१८७६–१९३३) इस युग के अन्य प्रसिद्ध निबन्धकार तथा शैलीकार हैं। इनमें से अंतिम दो निबन्धकार की अपेक्षा शैलीकार अधिक हैं। दोनों का हिन्दी गद्य अपने आपमें अप्रतिम है। बालमुकुंद गुप्त के शिवशंभु के चिट्ठे के वजन पर विजयानंद दुबे की चिट्ठियाँ हैं। प्रसिद्ध कथाकार विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' ने विजयानन्द दुबे के नाम से 'चाँद' में धारावाहिक रूप से इन चिट्ठियों को प्रकाशित कराया। 'उसने कहा था' के प्रख्यात लेखक चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने भी इस काल में कुछ निबन्ध लिखे थे।

निबन्ध साहित्य के इस द्वितीय उत्थान काल के अन्तर्गत कुछ ऐसे भी निबन्धकार हुए जिन्होंने निबन्ध के ढाँचे को स्वीकार करते हुए उसके कथ्य की प्रकृति में परिवर्तन किया। यों द्विवेदी युग के कई निबन्धकार अपनी बौद्धिकता और गंभीरता के साथ निबन्ध की मौलिक प्रकृति की रक्षा कर सके हैं। पर विशेष रूप से दो निबन्ध लेखक रामचंद्र शुक्ल (१८८४–१९४१) तथा श्यामसुंदरदास (१८७५ १९४५) निबन्ध की आत्मीयता तथा अनौपचारिकता का प्रयोग करते हुए भी निबन्ध के स्वरूप को एक एकेडेमिक स्पर्श दे देते हैं, किन्तु यह स्मरणीय है कि इनका एकेडेमिक स्पर्श मन तक व्यंग्य शैली की फुहार के कारण शुष्कता अथवा दार्शनिकता का भ्रम नहीं देता। वस्तुतः आचार्य शुक्ल तथा श्यामसुंदरदास की रचनाएँ निबंध रचना के सीमांत पर अवस्थित हैं।

द्विवेदी युग की समाप्ति के साथ साथ हिन्दी निबन्ध साहित्य का रूप धीरे-धीरे संकुचित होने लगता है। अपने निबन्ध संग्रह 'चिंतामणि' भाग–२ में स्वयं रामचंद्र शुक्ल ने हिन्दी में निबन्धों के अभाव की चर्चा की थी—"एक प्रकृत निबन्ध जिनमें विचार प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य और उनके

हृदय के भावों को अच्छी ऊनर हो, हिन्दी में कम देखने में आ रहे हैं।" हिन्दी-निबन्ध का लेखा-जोखा प्रस्तुत करने वाले प्राय सभी लेखकों ने इस शिकायत को किसी न किसी रूप में सामने रखा है। श्यामसुन्दरदास ने अपने 'हिन्दी साहित्य' में लिखा है— 'हिन्दी में अब तक निबन्धों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त हिन्दी के अन्य सभी निबन्ध साधारण कोटि के हैं। हिन्दी निबन्ध का पूरा क्रमबद्ध ब्यौरा प्रस्तुत करने वाली अपनी पुस्तक हिन्दी निबन्ध का समापन करते हुए प्रभाकर माचवे ने कहा है—"निबन्धों का प्रणयन अभी साधारण गति और साधारण ढंग से ही हो रहा है। यद्यपि कभी कभी किसी बुद्धिमान् या विद्यानिवास मिश्र के 'छितवन की छाह'-जैसे साहित्यिक व्यंग्यमय विचार छटात्मक निबन्धों के दर्शन हो जाते हैं, फिर भी वह कुल मिलाकर है बहुत थोड़ा।'

निबन्ध रचना की ओर लेखक वर्ग उत्तरोत्तर कम प्रवृत्त हो रहा है, इस तथ्य की चर्चा तो हिन्दी के साहित्य चिंतकों ने की है, पर इस काव्य रूप की ह्रासशील वृत्ति का विश्लेषण करने की चेष्टा किसी ने नहीं की। जान वेन ने अपने एक सद्य प्रकाशित निबन्ध 'द कॉनफ्लिक्ट ऑफ फॉर्म्स इन काटम्परेरी इंग्लिश लिटरेचर' ('क्रिटिकल क्वाटरली' वसन्त १९६२) में कहा है—'साहित्य रूपों का उदय क्यों होता है, क्या वे कुछ समय तक विकसित होते हैं और फिर क्या उनका ह्रास होने लगता है, इसके कारण अधिकतर सामाजिक हैं, प्रचलन की दृष्टि से साहित्य रूप ऊपर चढ़ते हैं और नीचे गिरते हैं यह इस पर आधारित है कि समाज उनका स्वागत करता है या नहीं।' यहाँ वेन ने सामाजिक धारणा के केवल एक पक्ष की ही ओर संकेत किया है, और वह पक्ष है पाठक का, जो निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है। पर रचनाकार का पक्ष भी कम महत्त्व का नहीं है। उपन्यास या कविता या नाटक लिखने की प्रेरणा रचनाकार को अपने समाज की प्रतिक्रिया में भी मिलती है, पर उसका अपना रचनात्मक व्यक्तित्व भी कुछ ऐसा संघटित होता है कि वह किसी एक माध्यम विशेष में लिखे अथवा नहीं। साहित्य रूपों के प्रचलन अथवा अप्रचलन के पीछे कृतिकार का यह रचनात्मक व्यक्तित्व मूल रूप से उत्तरदायी है। जैसा इस संक्षिप्त अध्ययन के प्रारंभ में ही सुझाया गया है, निबन्ध रचना का अपना काल उदारतावादी युग रहा है। इस उदारतावादी युग की परिसमाप्ति और उसके साथ साथ रोमांटिसिज्म की वृत्ति के क्रमश अप्रचलन से ही जुड़ा हुआ हिन्दी निबन्ध का आख्यान

है। छायावादी प्रगीत और ललित निबन्ध माध्यम विशेष के रूप में आज स्वीकृत नहीं हैं। कोई मौजी पर प्रतिभावान रचनाकार इन चुके हुए माध्यमों को भी अपनाकर यहाँ थोड़ा-बहुत आलोक उत्पन्न कर दे, यह दूसरी बात है। अपनी उपर्युक्त पुस्तक 'हिन्दी निबन्ध' में यह स्वीकार करते हुए भी कि "भारतेंदु-युग में निबन्ध रचना जैसे निखरी और जिस ऊँचाई पर पहुँची, उसके बाद वैसा और उस पद का नहीं आया" (पृष्ठ–३५) प्रभाकर माचवे उसी अध्याय के अंत में लिखते हैं "हिन्दी में निबन्ध के विकास का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।' वैसा और न आने की व्यथा और अंत के सिंहावलोकन में निबन्ध साहित्य "कुल मिलाकर है बहुत थोड़ा" इस स्वीकारोक्ति के बावजूद माचवे को हिन्दी निबन्ध के विकास का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है, यह उनका साहित्यिक शिष्टाचार और सौजन्य ही कहा जायगा। आखिर बुरी भविष्यवाणी कोई क्या करे!

समीक्षण की इस आवश्यक पृष्ठभूमि के बाद अब अपने मूल विषय पर आना है। आलोच्य काल (१९४७ १९६०) के अंतर्गत हिन्दी में जो नये और पुराने निबन्धकार सक्रिय रहे हैं उनका अपेक्षाकृत विस्तृत ब्यौरा देना इस अध्याय का एक मुख्य दायित्व है। यह मान लेने पर—और जिसके लिए तर्कों की दिशा पहले ही संकेतित की जा चुकी है—कि समसामयिक हिन्दी साहित्य में निबंधों का सर्जन प्रमुख रूप से प्रधान धारा के अंतर्गत न होकर, प्रकारान्तर से हो रहा है, इस अध्याय की सीमा अपने आप संकुचित हो जाती है। फिर यह भी कि एक सीमित अवधि में ललित निबंध के माध्यम के सक्रिय रहने के कारण, और अपनी अल्प संख्या के भी कारण हिन्दी निबंध में प्रवृत्तिगत भेद कम मिलते हैं। निबंध (प्रगीत के साथ) लेखक के व्यक्तित्व का चरम प्रकाशन है। अतः सभी लेखकों के अलग अलग छँटे हुए व्यक्तित्वों के बावजूद निबंध के अपने रचनात्मक संघटन में विशेष स्तर भेद नहीं दिखाई देता। और इस प्रकार प्रतापनारायण मिश्र तथा विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में वैसा गुणात्मक अंतर नहीं मिलता जैसा कि श्रीनिवासदास और मोहन 'राकेश' के उपन्यासों में मिलता है।

समसामयिक काल में सक्रिय निबंधकारों की चर्चा बहुत-कुछ कालक्रमानुसार रखना संगत होगा। और इस दृष्टि से यह आवश्यक होगा कि हम संक्षेप में पहले उन निबंधकारों के कृतित्व पर विचार कर लें जिनका रचनाकाल आलोच्य काल से ठीक पूर्व पड़ता है। द्विवेदी युग के निबंधकारों की तुलना में इन लेखकों के

उन्होने प्राय बेमल तौर पर जुटा दिया है। उनकी शली को मूलत प्रभाववादी कहा जा सकता है, पर य प्रभाव उनके व्यक्तित्व के गहरे स्तरो से सपृक्त नही हो पाते। भारतीय दर्शन का विकास हमारे इतिहास के मध्यकाल से अवरुद्ध हो गया था। और आधुनिक काल म दार्शनिक चितन करने के स्थान पर दार्शनिकता का आभास देने वाली एक शली का आविष्कार हिन्दी के बहुत से लेखको ने अनायास ही कर डाला है। ये लोग इस मनहो दार्शनिकता म आक्रात होकर मानो अपने दार्शनिक चितन की कमी को पूरा कर लेना चाहते है। माखनलाल चतुर्वेदी की गणना किसी सीमा तक इस कोटि के अदर की जा सकती है। कविता म प्रतीको और बिम्बो के माध्यम म व्यक्त होने वाली रोमाटिक वृत्ति गद्य के ठास धरातल पर आकर अपना वाछित प्रभाव खो बैठती है, क्योकि तब उसकी सरलता सहजता सप्रेषित न होकर मात्र कह दी जाती है। चतुर्वेदी की गद्य-शली मे इन दोनो के ही उदाहरण मौजूद हैं—अनावश्यक दार्शनिकता के भी और अनावश्यक सरलता के भी।

हिन्दी के पुराने निबन्धकारो म गुलाबराय (१८८८–१९६३) अपनी मृत्यु के पूर्व तक काफी सक्रिय थे। उनकी शली निबन्ध-कला की दृष्टि से अत्यत उपयुक्त है, इस अर्थ म कि उनके पास वह विनोद-वृत्ति है जो निबन्ध-कला की प्राण मानी जाती है। 'मेरी असफलताएँ' एक क्रमबद्ध रचना होने पर भी मूलत निबधो का सकलन है। इन निबन्धो मे लेखक अपने ऊपर हँस सका है, जो विनोद का सबसे निर्मल रूप है। लेखक का पाडित्य उसके कृतित्व मे बोझ नही बन पाता। पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि गुलाबराय के निबन्धो मे विचारोत्तेजन के लिए कम सामग्री मिलती है। इस विचारोत्तेजन और विनोदवृत्ति का निबन्ध की दृष्टि से आदर्श सामजस्य आगे चलकर हजारीप्रसाद द्विवेदी की शैली मे मिलता है। गुलाबराय के दो निबन्ध-सकलन प्रकाशित हुए हैं—'मन की बातें' (१९५४) और 'मेरे निबन्ध' (१९५५)।

जैनेन्द्रकुमार (१९०५) का कथा साहित्य उनके निबन्धो को सर्वत्र आक्रान्त नही कर सका है। हमारे साहित्य म उनकी ख्याति एक विचारक के रूप म भी है। 'जड की बात' तक पहुँचना उनकी रचनात्मकता का उद्देश्य कहा जा सकता है। पर उनके निबन्धो मे उलझन भले हो, नीरसता नहीं है, क्योकि उनके चिंतन की प्रणाली बहुत कुछ अनौपचारिक है इसीलिए उनके निबन्ध प्रकृति म गुरु गभीर होते हुए भी शली की दृष्टि से ललित निबन्ध ही कहे जायँगे। जैनेन्द्र के निबन्धो क

कई सकलन है—'पूर्वोदय' (१९५०), 'मथन' (१९५३), 'सोच विचार', ये और व । इनमे और इनके अतिरिक्त भी जो सकलन हैं उनमे लेखक के तात्त्विक, आलोचनात्मक और ललित निबन्ध मिले जुले दिखाई देते है।

पत्रकारिता के स्तर से निबन्ध शैली को विकसित करने वालो मे रामवृक्ष बेनीपुरी (१९००) का नाम प्रमुख है। उनकी शैली मे राष्ट्रीयता भावुकता और ओजस्विता का मिला हुआ रूप माखनलाल चतुर्वेदी का स्मरण दिलाता है। स्पष्ट ही इस प्रकार के निबन्धो मे विचार का तत्त्व कम और भावावेग अधिक रहता है। पर इसके बावजूद बेनीपुरी की शैली की सजीवता आकर्षक है। उसमे एक सवेदनशील व्यक्तित्व की तेज प्रतिक्रिया है। यदि इस प्रतिक्रिया का रूप इतना तात्कालिक न होता तो शायद बेनीपुरी के निबन्ध कलात्मक दृष्टि से अधिक प्रौढ होते। क्योकि निबन्ध की शैली का चटकीलापन साधन हो सकता है, साध्य नहीं। 'गेहू और गुलाब' (१९५०) तथा 'वदे वाणी विनायकौ' (१९५७) लेखक के प्रमुख निबन्ध-सकलन है।

बनारसीदास चतुर्वेदी (१८९२) की गद्य शैली की आत्मीयता उनके निबन्धो रेखाचित्रो और सस्मरणो मे समान रूप से मिलती है। शुद्ध निबन्ध उन्होने यद्यपि कम ही लिखे हैं पर उनके बहुत-से रेखाचित्र और सस्मरण निबन्ध के निकट आ जाते हैं। 'विशाल भारत' के सपादन काल मे उन्होने बहुत-से विषयो से सबद्ध निबन्ध लिखे, और उनमे से कुछ हमारी विचार परिधि मे आते है। मूलत पत्रकार होने के नाते उद्धरण देना उन्हे विशेष रूप से प्रिय है। ये उद्धरण सपादकीय लेखो तथा टिप्पणियो की प्रकृति के तो अनुकूल है पर निबन्ध के सहज प्रवाह मे इनसे व्याघात ही उत्पन्न होता है। कहना न होगा कि यह सहज प्रवाह निबन्ध शैली की प्रमुख विशेषता है।

हिन्दी निबन्ध का एक बार फिर से प्राणप्रतिष्ठा हजारीप्रसाद द्विवेदी (१९०७) के माध्यम से मिलती है। उनके निबन्ध उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण इतिहास और आलोचना कृतियो तथा प्रसिद्ध उपन्यास द्वारा आक्रान्त नहीं किये जा सके है। उनकी निबन्ध रचनाओ की तुलना किसी भी अन्य भाषा के श्रेष्ठ निबन्धो से अत्यत सम्मानपूर्वक की जा सकती है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धो मे हिन्दी निबन्ध कला का श्रेष्ठतम रूप देखने को मिलता है। व्यापक मानवतावादी दृष्टि और एक गभीर सास्कृतिक निष्ठा उनकी निबन्ध कला की प्रमुख विशेषताएँ है, जो उनकी गहरी और पैनी विनोद वृत्ति के सहयोग से और अधिक चमक उठती

लिखेगा जैसे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अशोक के फूल के सम्बन्ध म अपनी सहानुभूति और सम्मोहन के भाव को व्यक्त किया है ('भारतीय साहित्य मे और इसीलिए जीवन मे भी, इस पुष्प का प्रवेश और निगम दोना ही विचित्र नाटकीय व्यापार है" और,"आज अशोक के पुष्प स्तवका का देखकर मेरा मन उदास हो गया है, कल न जाने किस वस्तु को देखकर किस सहृदय के हृदय मे उदासी की रेखा खेल उठेगी।"—'अशोक के फूल') ।

'अशोक के फूल (१६४८) के अतिरिक्त हजारीप्रसाद द्विवेदी के अन्य निबन्ध सकलन ह—'कल्पलता (१६५०) तथा विचार और वितर्क' (नवीन सस्करण १६५४ ई०) । या, साहित्यिक क्षेत्र मे पहले सकलन की ख्याति अधिक है, पर निबन्ध कला की उत्कृष्टता सवत्र एक-जसी है।

प्रमुखत सस्कृति विषयक निबन्ध वासुदेवशरण अग्रवाल (१६०४) न भी लिखे हैं, पर इनमे व्यक्तित्व की विशिष्ट अभिव्यक्ति न होकर विषय विवेचन आग्रह अधिक है। फिर भी इन निबन्धा की शली म एक सहजता है, जिसके कारण इन्हे ललित निबन्धा की कोटि म रखा जा सकता है। भारतीय सस्कृति के विभिन्न पक्ष और लोकवार्ता इन निबन्धा के विचारणीय विषय हैं। 'पृथ्वीपुत्र' (१६४८), 'कल्पवृक्ष' (१६५३), 'कला और सस्कृति' (१६५२) तथा 'मातृभूमि (१६५३) शीषक सकलना म दश के सास्कृतिक जीवन का तात्विक परिशीलन मिलता है। रायकृष्णदास (१८६२) ने भी सस्कृति विषयक निबन्ध लिखे हैं। उनकी शली भावावेग प्रधान है।

शांतिप्रिय द्विवेदी (१६०६) की ख्याति आलोचक के रूप मे है। पर उनके गद्य का लालित्य मूलत एक शलीकार का है। इसीलिए उनकी आलोचना म यत्र तत्र निबन्ध के तत्त्व मिलते हैं। 'सामयिकी' मे सकलित कुछ निबन्ध ललित निबन्ध की परिधि मे आ जाते हैं। शिल्प की दृष्टि से शातिप्रिय द्विवदी के गद्य का अपना व्यक्तित्व है। लेखक की 'पथचिह्न और 'परिव्राजक की प्रजा शीषक दो आत्म कथात्मक कृतिया म भी निबन्ध-कला के गुण मिलत हैं।

रखाचित्र और निबन्ध का मिला-जुला रूप हमें कई लेखका म मिलता है। विनयमोहन शमा (१६०५) श्रीराम शर्मा (१८६२) तथा दवन्द्र सत्यार्थी (१६०८) का गद्य-कृतिया कुछ इसी प्रकार की हैं। विनयमोहन शमा ने अधिकतर सामान्य चरित्रा को उभारा है, जसा उनके सकलन रखा और रग (१६५५) मे देखा जा सकता है। शिकार साहित्य क प्रसिद्ध लखक श्रीराम शर्मा का गद्यशली

की सजीवता उनकी अपनी है। उत्तर भारत के कुछ जिलों की पृष्ठभूमि में ग्रामीण जीवन के कुछ बड़े मार्मिक पक्ष उन्होंने प्रस्तुत किए हैं। उनके निबन्धों और रेखाचित्रों दोनों में ही निबन्ध के तत्त्व काफी सीमा तक मिलते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी भारतीय लोक साहित्य के बड़े निष्ठावान अध्येता है। अपनी उन्मुक्त शैली में लोक जीवन के विविध अंगों के अध्ययन उन्होंने जिस रूप में लिखे हैं, उन्हें निबन्ध भी कहा जा सकता है और रेखाचित्र भी। पर उनके संकलनों में यत्र-तत्र विशुद्ध निबन्ध भी मिल जाते हैं। सत्यार्थी के निबन्धों में एक ओर अपनी आधुनिक संवेदना की अभिव्यक्ति मिलती है, और दूसरी ओर लोक गीतों के संग्रहकर्ता का घुमन्तू और उन्मुक्त जीवन भी दिखता है। देश की मिट्टी की गंध और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति जागरूकता—ये दोनों ही उनके निबन्धों की विशेषताएँ कही जा सकती हैं। 'धरती गाती है' (१६४८) 'एक युग एक प्रतीक' (१६४८) तथा 'रेखाएँ बोल उठीं' (१६४६) सत्यार्थी के निबन्ध संकलन हैं। भदन्त आनन्द कौसल्यायन के निबन्ध भी रेखाचित्रों और संस्मरणों की सीमा रेखाओं में अंतर्भुक्त हो जाते हैं। उनकी इन गद्य रचनाओं में हास्य की मधुरता बराबर रहती है।

निबन्ध की सीमा रेखा जितनी आसानी से रेखाचित्र से मिल जाती है, प्रायः उतनी ही आसानी से संस्मरण से भी मिलती है इस बात को पं० पद्मसिंह शर्मा की गद्य कृतियों के संदर्भ में अच्छी तरह से समझा जा सकता है। महाकवि अकबर अथवा पं० गणपति शर्मा के सम्बन्ध में उनके संस्मरण निबन्ध के बहुत समीप आ जाते हैं। रेखाचित्र में पात्र के अन्दर और बाहर के स्थिर और सूक्ष्म वर्णन का महत्त्व है संस्मरण में पात्र की गत्यात्मक प्रकृति और उसके सम्बन्ध में लेखक की प्रतिक्रियाएँ उभरकर आती हैं। निबन्ध में सामान्यतः किसी पात्र विशेष को प्रमुखतः स्वीकार करके नहीं चला जाता, उसमें तो शीर्षक एक बहाना ही होता है। शीर्षक को बहाना मानकर रेखाचित्र अथवा संस्मरण लिखना बहुत बड़ी अशिष्टता होगी (यद्यपि यह सच है कि हिन्दी में इस प्रकार के स्वयं लेखक प्रधान रेखाचित्रों अथवा संस्मरणों का प्रचलन इधर काफी बढ़ गया है)। इन अंतरों के होते हुए भी निबन्ध की मूल शैली का उपयोग रेखाचित्र और संस्मरण दोनों ही करते हैं।

इस प्रकार के संस्मरणात्मक निबन्ध कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (१६०६) ने लिखे हैं। इनकी शैली में एक स्वस्थ प्रवाह और जीवंतता बराबर मिलती है,

विचार सरणि का कोई महत्व नही। पर वस्तु स्थिति यह है कि निबन्ध मे विचार के किसी-न किसी पक्ष को सुस्पष्ट और उभरा होना अनिवार्य है। उस विचार के प्रतिपादन मे स्वच्छदता और उन्मुक्तता बरती जाती है। उडान के लिए ठोस भूमि का होना उतना ही आवश्यक है जितना कि खुला आकाश। इस ठोस भूमि और उडान कौशल का जितना सामजस्य होगा, निबध की रचना उतनी ही सफल होगी।

इस सामजस्य का अच्छा रूप 'कुट्टिचातन' के निबधो मे दर्शन को मिलता है। समस्या का एक बौद्धिक स्तर पर प्रस्तुतीकरण होता है, पर बडे प्रीतिकर और ललित सन्दर्भ मे। राह चलते मार्ग पूछने और पानी की साधारण-सी प्रक्रिया का लेकर व्यग की हल्की, सूक्ष्म छाया मे कुछ तात्विक प्रश्न लेखक हमारे सामने रखता है। भाषा निहायत अनलकृत, पर सधी हुई और प्रवाहपूर्ण। शीर्षक का वस्तुत बहाना बना सकने की क्षमता 'कुट्टिचातन' के निबन्धो मे दीख पडती है। रचनाकार के बौद्धिक स्तर का इतना सहज रूप कम सामने आता है। 'मार्गदर्शन' तथा 'कुछ वगवाद'-जैसे निबन्ध बडे सधे हाथो मे लिखे गए हैं। 'कुट्टिचातन' के निबन्धो का एक सकलन 'सवरग (१९५६) प्रकाशित हुआ है।

बालकृष्ण राव (१९१३) ने अपनी लेखमाला 'कमलाकान्त जी ने कहा' मे शिवशभु और दुबेजी के चिट्ठो की परपरा को एक नए ढग से उठाना चाहा है। गोष्ठी सलाप की शैली को अपनाते हुए कुछ सामयिक समस्याओ को कभी हल्के और कभी तीखे व्यग के माध्यम से चर्चा का विषय बनाया गया है। चिट्ठी के स्थान पर गोष्ठी सलाप एक नया प्रयोग है, और निबन्ध शैली की अनौपचारिकता उसमे खपती भी अच्छी तरह है। उदारतावादी विचारधारा से प्रभावित एक चिन्तक का बडा सूक्ष्म अकन 'कमलाकान्त जी ने कहा' शीर्षक माला के निबन्धो मे देखने को मिलता है। राव के हाथो मे निबन्ध कला का मूल रूप खूब निखरा है।

सास्कृतिक विषयो को लेकर चलने वाले निबधकारो मे भगवतशरण उपाध्याय (१९१०) का नाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। विविध समस्याओ को आपने उनके व्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय सदर्भ मे देखने की चेष्टा की है। शैली रोचक है, पर स्थान स्थान पर पत्रकारिता के रूप से प्रभावित है। इतिहास की प्रक्रिया को लेखक ने अधिक आधुनिक ढग से देखना चाहा है, किन्तु मनोरजन के धरातल पर उतर आने पर उनका निबध कला फीकी पड जाती है, और विचार दृष्टि धुधली हो उठती है। 'ठूठा आम' और 'सास्कृतिक निबध' (१९६०)

सफलता का मूल कारण रचनाकार की तन्मयता है। इस तन्मयता को भग करने वाले कुछ नए ढंग के निबंध प्रभाकर माचवे ने लिखे हैं। इस क्षेत्र में लक्ष्मीचन्द्र जैन (१९०९) के प्रयोग भी साहसपूर्ण हैं। निबंध के निष्पादन स्वरूप में आपने कुछ मौलिक परिवर्तन किए हैं, जिससे लेखक का सूक्ष्म व्यंग और गहरा हो गया है। 'जो वे स्वयं न कह पाए' शीर्षक रचनामाला हिंदी गद्य की नई क्षमता की परिचायक है। 'कागज की किश्तियाँ' (१९५८) में संकलित निबंध मूलतः विचार-प्रधान हैं। नई शैली के निबंधों का प्रकाशन बाद में हुआ है।

देवेश दास (१९११) का हिंदी गद्य अपने आपमें एक नया और प्रीतिकर प्रयोग है। बँगला का भावावेग, खड़ी बोली की प्रखरता और अंग्रेज़ी का सूक्ष्म व्यंग-कौशल—इन सब ने मिलकर दास के गद्य को एक अपूर्व छटा प्रदान की है। बंगाल के तालों की शीतलता और मारवाड़ के रेतीले प्रदेश की शुष्कता दोनों ही उनके निबंधों में रूपायित हुई हैं। लेखक की 'राजसी' (१९६०) अपने आपमें एक समग्र कृति है, फिर भी उसका प्रत्येक अंश एक स्वतन्त्र निबंध है। निबंध शैली का बड़ा रुचिकर प्रयोग उनकी इस रचना में मिलता है।

हिंदी में प्रायः सभी समसामयिक माध्यमों का प्रयोग रघुवीरसहाय (१९२९) ने सर्वथा नए और अछूते ढंग से किया है। कविता ही नहीं उनकी कहानियों और निबंधों में भी आधुनिक भाव-बोध स्पष्टतः प्रतिफलित होता दिखाई पड़ता है। सामान्य और अकिंचन की संगति पहचानकर उसे बड़े सहज भाव से संप्रेषित करना रघुवीरसहाय की कला का मूल सूत्र है। यहाँ तक कि साहित्यिक सृजन की समस्याओं से संबद्ध निबंधों में भी लेखक का यही सहज भाव देखने को मिलता है। रघुवीरसहाय की रचनाओं में एक ऐसा अलस भाव है जो निष्क्रियता को जन्म नहीं देता वरन् प्रगाढ़ चिंतन और आत्मालोचन को संभव बनाता है। इन रचनाओं से लगता है कि लेखक कहीं किसी तरह की उजलत में नहीं है। और वैसी ही ठोस पर प्रवाहपूर्ण उसकी भाषा है, जो किसी बनी-बनाई साहित्यिक शैली का अनुसरण नहीं करती वरन् स्वतः नीचे से ऊपर की ओर उठती है। निबंध रघुवीरसहाय ने कम लिखे हैं, पर 'सीढ़ियों पर धूप में' (१९६०) में संकलित और शायद सीढ़ियों पर धूप में ही लिखे गए उनके निबंध 'लेखक के चारों ओर', 'दिल्ली वसंत' तथा 'हिंदी के एक संपादक से भेंट' आधुनिक भाव बोध के उस प्रबल शक्ति-संवेग और सृजन सामर्थ्य के परिचायक हैं जो संभावना विहीन लोगों में भी स्वतः संभावना को उत्पन्न करता है। निबंध जैसे सुनिश्चित और स्थिर माध्यम में सर्वथा मौलिक

प्रयोग रघुवीरसहाय के कृतित्व की अपराजेय शक्ति को प्रकट करते हैं।

हिंदी के नये लेखको म कुछ एस भी हैं, जिन्होने यदा कदा इस माध्यम म कुछ लिखा है। गगाप्रसाद पाण्डय, नामवरसिंह और रघुवश की निबध कृतिया पत्र पत्रिकाओ म प्रकाशित हुई हैं। कुछ निबधकारो ने प्रमुख रूप से हास्य व्यग की शली म निबन्ध लिखे हैं। हरिशकर परसाई, मोहन राकश, अनतकुमार 'पाषाण और मदन वात्स्यायन के निबध ऐसे ही है। 'पाषाण' और मदन वात्स्यायन ने निबन्ध के शिल्प मे भी कुछ प्रयोग किए हैं।

हिन्दी निबन्ध के समग्र परन्तु सक्षिप्त से इतिहास का विश्लेषण स्पष्ट कर देता है कि समसामयिक साहित्य म अन्य कुछ माध्यमो के समान निबध का माध्यम अपनी प्रभविष्णुता खो रहा है। कविता, नाटक या उपन्यास की भाति प्रमुख माध्यम तो यह पहले भी न था। उदारतावादी काल म उसका उदय और विकास हुआ, पर आज के जनतान्त्रिक युग म उदारतावादी विचार धारा और रोमाटिक वत्ति के क्रमश पिछड जाने पर रोमाटिक के साथ उसकी भी सभावनाए चुकी दिखाई देती है। इसका मूल कारण यह है कि इन दोना ही माध्यमा की प्रकृति अत्यत सहजधर्मी है, और इसलिए आधुनिक युग क जटिल सवेदन को व्यक्त करने के लिए उनम अनुकूलता नही है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक काल तीव्र स्वचेतनता का काल है और अत्यधिक स्वचेतन व्यक्तित्व स वतमान युग के तनाव स मुक्त वातावरण म निबध-जसी प्रकृत्या मन की शिथिल स्थिति की रचना सभव नही। निबध शिल्प की मूल वत्ति भावो का मुक्त सह-चरण (Free association of ideas) है। पर आज हम इस उन्मुक्त सहचरण को मनोविश्लेपण के आधार पर इतना अधिक विश्लेषित कर चुके है कि इस पद्धति का कलाकार के व्यक्तित्व म रचनात्मक स्तर पर समाहित हो सकना कठिन हो गया है। निबध का रूप जसा कहा गया, सहजधर्मी है, आधुनिक रचनाकार के व्यक्तित्व की तीव्र स्वचेतनता से उसका मेल नही खाता। इस स्वचेतनता के कारण व्यक्तित्व के गोपन की प्रेरणा अधिक मिल सकती है उन्मुक्त आत्म विवत्ति विरल ही गई है।

आधुनिक काल म अकाल्पनिक वृत्ता के लिए सजनात्मक गद्य का प्रयोग एक नया आविष्कार है। निबध स आरभ होकर इन माध्यमा का विकास रेखाचित्र सस्मरण, डायरी, रिपोर्ताज तथा यात्रा-सस्मरण के रूपा म हुआ है। यह सृजनात्मक भाषा की क्षमता है जो वास्तविक और यथार्थ विवरणो को ललित साहित्य

की कोटि में पहुँचा देती है। निबंध की मूल शैली का उपयोग करने वाले यात्रा-संस्मरण, डायरी, जर्नल आदि के माध्यमों में विकास की स्थिति अधिक दिखाई देती है, जहाँ शिल्प-कौशल की विविधता अधिक अपेक्षित है। सहजधर्मी निबंध स्वतः आज के जटिल जीवन परिवेश के अनुकूल नहीं रहा, उसकी शैली से क्रमशः विकसित और प्रेरित अन्य अकाल्पनिक गद्य रूप की संभावनाएँ ही अब महत्त्वपूर्ण दिखती हैं।

अन्य गद्य-विधाएँ

रमेश कुन्तल मेघ

समानान्तर हिन्दी साहित्य के विकास में १९४७ ई० एक ऐसा युगप्रवर्तक
गाज रहा है जिसमें स्वाधीनता अन्तर्राष्ट्रीयता और प्रगति-योजना की भावना
से जन, समाज और संस्कृति को आन्दोलित किया। साहित्य, कला और संस्कृति
के क्षेत्र में इसका परिणाम नई नई कला तथा कला शैलियों के विकास, नई गद्य
विधाओं की खोज तथा पुरानी विधाओं के परिष्कार, साहित्य में व्यक्ति तथा
समूह के बिच प्रतिबिंब अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक उपलब्धियों के ग्रहण और संशोधन
आदि में परिलक्षित होता है। इससे पहले के दशक के अंत में आचार्य रामचन्द्र
गुप्त राष्ट्रवाद की समन्वयगामी साधना की प्रतिष्ठा कर चुके थे, मधुर छाया
वादी कवि चयनकर प्रसाद स्वामी मानवतावाद में व्यक्तिनिष्ठा का रंग गाढ़ा
कर चुके थे तथा प्रेमचन्द महाभारत जैसे बाह्य संघर्षों वाले महाकाव्यात्मक
उपन्यास लिख चुके थे। सन ४७ तक मार्क्स फ्रायड और गांधी के प्रभाव स्थिर-
से हो चले थे तथा अरविन्द इलियट सार्त्र विनोबा आदि के दर्शन अपना
असर दिखाने लगे थे। प्रमुख पद्य गद्य विधाओं पर तो ये सब प्रभाव पड़ ही
अन्य गद्य विधाओं में भी वे स्पष्टतर होते गये। इन्होंने पूर्ववर्ती विधाओं का
पूर्ण विकास तथा आधुनिकता में उनका संयोग भी किया। यह अवधि महान
कलाकृतियों की प्रचुरता तथा महान कलाकारों की अपेक्षाकृत कमी के कारण
विचक्षण है।

इस अवधि की अन्य गद्य विधाओं में जीवनी, आत्मचरित, यात्रा, रिपोर्ताज
संस्मरण रेखाचित्र इंटरव्यू (साक्षात्कार), गद्यगीत पत्र डायरी चार-लेख
(वल लेख प्रा० या बली लटम) आदि प्रमुख हैं। इनमें से जीवनी, आत्मचरित
यात्रा गद्यगीत, संस्मरण आदि में परंपरागत विषयों का रूपान्तर तथा कला की
दृष्टि में आधुनिकता का समाहार हुआ और रिपोर्ताज, इंटरव्यू तथा चारलेख
का लगभग नवीन विकास हुआ है। जीवनियों में महाकाव्यात्मकता तथा औपन्या-
सिकता का अधिक प्रौढ़ प्रयोग हुआ है और ऐतिहासिकता लुप्तप्राय हो गई है।
यही नहीं, इनमें राजनीति, संस्कृति और समाज के परिवेश अधिक व्यापक हुए
है। आत्मचरितों में आत्ममुखी कवित्व और निर्भीक आत्मविश्लेषण की छाप पड़ी
है। यात्राओं में भौगोलिक 'देश' के आयाम के साथ साथ 'काल और कला' के

आयाम भी जुड़े है। संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी आदि में काव्य, चित्रकला, फोटोग्राफी, मनोविज्ञान के सौंदर्य बोध ग्रहीत हुए है। नई विधाओ मे इंटरव्यू (साक्षात्कार) मे एक ताजगी और जिज्ञासा मिलती है जिसमे समस्याओं, प्रश्नो और विचारो का केंद्रीकरण हो जाता है। गद्यगीत में काव्य (विशेषत वेणुगीति) के साथ साथ कथाभास (विशेषत लघुतम कथा) का समावेश भी हो गया है। रिपोर्ताज प्रगतिवादी आंदोलन की एक जानदार विरासत है जिनमे देश एवं समाज का इतिहास दर्शन अथवा पत्रकारिताभास से युक्त साहित्यिक सूचना की प्रधानता रहती है। चारनेख व्यक्तिगत पत्रो के सास्कृतिक रूप है जिनमे व्यक्तिगत दृष्टिकोण तो गौण लेकिन सास्कृतिक दृष्टिकोण प्रमुख हो जाता है। प्रसगानुसार हम इन विधाओ के रूपो तथा मूल अतर्भाव तत्वो का निरूपण करने चलेंगे। किन्तु इन सभी विधाओ की तीन विशेषताएँ साफ दृष्टिगोचर होती है (क) इनमे शब्द माध्यम द्वारा चित्रकला, सगीत कला, मूर्तिकला आदि के सौन्दर्य-बोधो को भी प्राप्त करने की दिशाएँ हैं, (ख) मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, पुरातत्व, इतिहास-दर्शन, नवशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान आदि का प्रदत्त ज्ञान भी परिव्याप्त है तथा (ग) नाटक, महाकाव्य, गीतिकाव्य, कथा कहानी की विधाओ और प्रभावो का उपयोग रेखाचित्र, डायरी, चारलेख जीवनी, पत्र, गद्यगीत, इंटरव्यू आदि के लिखने में किया गया है।

अब हम क्रमश उपर्युक्त गद्य विधाओ की भूमिका, मूल अवबोध्य तत्व एव वस्तुपरक सर्वेक्षण पेश करेंगे।

जीवनी साहित्य में प्रमुखता एक व्यक्ति को मिलती है जिसके जीवन की मार्मिक और सारपूर्ण घटनाओ का अकन नही, चित्र होता है। इस वजह से वह इतिहास और उपन्यास के बीच स्थित होती है जिसमे इतिहास का घटना क्रम तथा उपन्यास की वर्णन रोचकता है। जीवन में लेखक की चरितनायक या नायिका के प्रति सवेदना तथा तत्सबंधित सूचनाएँ, और उसकी प्रतिभा—दोनो महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं क्योकि उसकी रचनात्मक कल्पना को मनमानी छूट नहीं होती। वह सामग्री का मर्म और महत्व की दृष्टि से चयन करता है। उसके लेखन में तटस्थता की अपेक्षा सवेदना और निष्पक्षता अधिक आवश्यक है। यदि वह चरितनायक का समसामयिक होता है तो बहुधा उसके जीवन के साथ अपना जीवन मिला देने की गलती कर बैठता है। फलस्वरूप साक्ष्य निरपेक्ष नहीं मिल पाते। जीवनी में चरित-नायक की वीरपूजा न होकर उसकी

खामियाँ खूबियाँ भी दर्शाई जानी चाहिएँ। इसीलिए निष्पक्षता तथा जानकारी जीवनी के खास उपादान हैं। शैली की दृष्टि से संकलित सामग्री रङ्ग का उपयोग इस प्रकार होता है कि वह एक सूत्र म पिरोई गई माला-सा लगे। अत जीवनियाँ साहचर्य-संभूत तथा दृष्टिकोण संभूत होती हैं।

इस अवधि म हिन्दी का जीवनी साहित्य बढ़ा है लेकिन साहित्यकार चरित-नायक के पद पर कम ही आसीन हो सके है। यद्यपि परम्परा के रूप म हम शिवनंदनसहाय-कृत 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' की जीवनी कई दशको पहले मिली है जो अपनी तन्मयता, मार्मिकता और कलात्मकता मे यूरोपीय कलाकारो की जीवनियो से टक्कर लेती है, फिर भी इस दिशा म इस काल म बरुआ की 'माखनलाल चतुर्वेदी की जीवनी' ही महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है जिसम लेखक ने अगाध श्रद्धा के साथ कवि का इतिहास परक विकास प्रस्तुत किया है। इसके पूर्ण होने पर हम कुछ अधिक कह सकेंगे।

देश विदेश के महापुरुषो की काफी जीवनियाँ लिखी गई है जिनमे उनके सामाजिक और राजनीतिक पक्षो की प्रधानता तथा चारित्र्य की गौणता नजर आती है। ये कहानियाँ साहित्यिक से अधिक ऐतिहासिक और कलात्मक से अधिक विचार विश्लेषण म धीर-गम्भीर हैं। इनम हम देश विदेश का तत्कालीन इतिहास, समाज और चिंतन दृष्टिकोण संभूत पाते हैं। राहुल सांकृत्यायन ने 'स्तालिन एक जीवनी' मे घटनाओ के साथ-साथ उनका विश्लेषण भी किया है। तत्कालीन राजनीतिक और आर्थिक परिवेश म जीवन के विकास को दिखाकर उन्होने एक नई दृष्टि दी है। अपनी अन्य दो राजनीतिक जीवनियो 'कार्लमार्क्स और माओ-त्से तुंग' मे भी उन्होने सामाजिक और आर्थिक पक्षो पर ही जोर दिया है तथा चरित्रनायको के व्यक्तिगत जीवन की अपेक्षा उनके विचारो और ग्रन्थो का विवरण विश्लेषण अधिक किया है। इसी प्रकार बलराज मधोक ने 'श्यामाप्रसाद मुकर्जी एक जीवनी' म उनका उनके राजनीतिक विचारो और अपनी विचारधारा के परिवेश म अंकन किया है। पूर्णचन्द सनक ने 'चन्द्रशेखर आजाद' मे क्रान्तिकारियो की रहस्य रोमांच-साहसयुक्त जीवन की झाँकियाँ दी है जिनमे एकसूत्रता का अभाव किन्तु रोचकता है। विजयकुमार पुजारी ने 'डा० बाबा साहब अंबेडकर' तथा पांडुरंग देशपांडे ने 'लोकमान्य तिलक' नामक जीवनियो म अपेक्षाकृत तटस्थता न दिखाकर नायको के नेता रूप का ही आराधन किया है। इनम घर बाहर वाला पूर्ण व्यक्तित्व नही उभर सका है। अनूदित जीवनियाँ तो

आत्मकथा' तथा 'चाणक्य की आत्मकथा' भी (मानीचन्द्र द्वारा) लिखी जा रही हैं।

आत्मचरित म लेखक और चरितनायक एक ही हो जात हैं घटनाओं के बजाय व्यक्तित्व का प्रकाशन होता ह और निष्पक्षता के बजाय आत्मोद्घाटन प्रमुख हो जाता है। इसमे सस्मरण व रेखाचित्र दोना ही घुले मिले चलते है। लेखक स्वय अपना विश्लेषण भी करता चलता ह और दृष्टिकोणो के द्वारा पाठका का प्रवृत्तिमूलक सूचनाएँ भी देता ह। इस विधा म लेखक के कई अज्ञात और गोपन पहलू प्रकट होत हैं जिससे उसके चरित्र और कृतित्व को समझने की कुंजिया मिल जाती ह। आत्मचरित लेखक एक चचल डोर पर झूलता ह जहा अहकार या आत्मप्रशसा या शील सकोच उसे कभी भी पदच्युत कर सकते हैं। यही नही, अनेकानेक समकालीन पात्रो की वजह से अनुकूल प्रतिकूल द्वेष प्रेम की सम्भावना से लेखक अपने तथा अन्य पात्रो के बीच निष्पक्ष सतुलन नही रख पाता।

इस काल के आत्मचरितो मे शील सकोच, आत्मविश्लेषण तथा निर्भीकता के दर्शन होते हे और यह गर्व की बात है कि उनम अहकार का लगभग अभाव है, चाहे विनयशीलता के बहाने आत्मप्रशसा द्वारा परोक्ष क्षतिपूर्ति भले ही की गई हो। इसके अलावा ये आत्मचरित प्राय कवियो, लेखको और आलोचको द्वारा लिखे गए हैं अत भाव प्रगल्भता, रोचकता और विश्लेषण का सगम स्वाभाविक ही है।

पाडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' नामक आत्मकथा हिन्दी साहित्य को इस अवधि की सर्वोत्तम देन है। विषय की दृष्टि से इसमे लेखक के अब तक के अज्ञात आरम्भिक इक्कीस वर्षो की आत्मकथा ह जिसमे से आरम्भ क प्रकरण ही आत्मकथा हैं, बाकी सस्मरण ह। अत यह अपूर्ण सस्मरणात्मक आत्मकथा है। किन्तु भाषा शैली का बाकापन, व्यक्तित्व का अनूठापन, सचाई का खरापन और सवेदना की मिठास मानो इस कृति ने एक साथ बटोर ली ह। चित्रणा में व्यग, काव्य तथा मोहकता की त्रिवेणी है। इसीकी पूरक शातिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की प्रजा' कही जा सकती ह जिसमें एक सवहारा लेखक की अतर्वेदना, कला सवेदना, जीवन की मार्मिकता और व्यक्तित्व की सरलता सहज प्रवाहित हो उठी ह। यह आत्मकथा साधारणीकरण की श्रेष्ठ-भूमि को छू लेती है। इसमें

संस्मरण घुल मिल गए हैं और कहीं कहीं तो ललित निबंधों-जैसे अंश भी मिल जाते हैं।

संस्मरण प्रधान आत्मचरित की कोटि में सुमित्रानंदन पंत-कृत 'साठ वर्ष एक रेखांकन' आयगा जहां कवि ने अपनी कला की महती चेतनाओं और प्रेरणाओं का भी भव्य दिग्दर्शन किया है। आत्मचरित खंडों को प्रस्तुत करने वाली कृति क्षेमचन्द्र 'सुमन' द्वारा संपादित 'जीवन स्मृतियां' है जिसमें पंत, महादेवी, शांतिप्रिय द्विवेदी, गुलाबराय प्रभृति साहित्यकारों के आत्मचरितात्मक लेख हैं। इनमें हम खंड दर्शन अथवा संक्षिप्त पर्यालोचन ही पाते हैं। धीरेन्द्र वर्मा ने भी ललित लेखों की रंगत पर 'मेरी कालिज डायरी' लिखी है जिसमें एक विकासमान किशोर का उभार दृष्टिगोचर होता है। 'बचपन के दो दिन' देवराज उपाध्याय के बाल्य जीवन का आत्मचरित कहा जा सकता है जिसमें उन्होंने दस बारह साल की अवस्था के पहले की कुछ मधुमय स्मृतियों को अंकित किया है। इसकी विशेषता है मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में अपनी उन शैशवकालीन स्मृतियों का प्रौढ़ लेखक द्वारा विश्लेषण। विनोदशंकर व्यास की 'उलझी स्मृतियां' भी आत्मचरितात्मक रचना है।

पूर्ण आत्मचरितों में श्री वियोगी हरि का 'मेरा जीवन प्रवाह' है जिसमें एक साहित्यकार तथा सामाजिक कार्यकर्ता के सम्मिलित व्यक्तित्व के साथ साथ साहित्यिक और सामाजिक समस्याएँ भी उभरी हैं। यहां लेखक का जीवन बहुत ईमानदारी के साथ उतरा है। दूसरी आत्मकथा गुलाबराय की 'मेरी असफलताएँ' है जिसमें एक साहित्यकार, व्यक्ति और अध्यापक की जीवन दृष्टियाँ तथा तज्जन्य समस्याओं की झांकी है। तीसरी आत्मकथा गोविंददास कृत 'आत्मनिरीक्षण' है। वस्तुतः इसमें राजनीतिक गतिविधियों का दिग्दर्शन तथा असहयोग आंदोलन का इतिहास भी गुंथ गया है। यह आत्मचरित आत्म चिंतन-युक्त है। राहुल की 'मेरी जीवन यात्रा' स्वयं में एक इतिहास, संस्कृति, भ्रमण और रोमांचक जीवन का प्रतीक है।

आत्मकथा में एक नए प्रयास की दृष्टि से भगवतशरण उपाध्याय की 'मैंने देखा' नामक पुस्तक है जिसमें आत्मकथाकार भारत के प्राचीन नगर हैं जो सदियों के दौरान में स्वयं बोल उठते हैं। यह रोचक इतिहास के सन्निकट है।

एक और अनूठी कृति है जो बहुत समय के बाद बनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा संपादित होकर निकली है—रामप्रसाद बिस्मिल की 'आत्मकथा'। मृत्यु से प्यार,

जीवन की महत्ता और देशभक्ति के उर्ध्व क्रम-छोटी सी ... में सर्वत्र तेजोदीप्त है।

यात्रा साहित्य मे व्यक्तियो या समस्याओ के अंकन की जगह प्रदेश विशेष का आंचलिक इतिवृत्त होता है यद्यपि व्यक्तियो के भी रेखाचित्र तथा संस्मरण आ ही जाते हैं। इस विधा की सफलता का प्रमाण पाठको द्वारा विवरणो से तादात्म्य है। इसलिए यात्री लेखक को यात्रा प्रदेश या स्थल के प्रति सजग तथा सहानुभूतिपूर्ण तो होना ही चाहिए वहा के नगर-टोलो, संस्कृति रीति रिवाजो इतिहास आदि का भी ज्ञाता होना चाहिए। इसका लेखक पत्रकार या इतिहासकार से अधिक चित्रकार हो क्योकि चित्रात्मकता इसी विधा की अभिव्यक्ति म सबसे अधिक अपेक्षित है। अत शुद्ध सैलानी भावना के साथ साथ गन्तव्यता का समावेश यात्रा को नीरस होने से बचा सकता है। यात्रा साहित्य विभिन्न देशो या जनपदो की आंचलिकता, जन-जीवन तथा समाज से सर्वाधिक परिचय कराता है। यात्रा प्रयास प्रधान भी होती है और संस्मरण प्रधान भी। इस अवधि म दोनो तरह का प्रचुर यात्रा साहित्य मिलता है।

प्रथम कोटि के घुमक्कड और घुमक्कड शास्त्र के लेखक राहुल सांकृत्यायन ने सुव्यवस्थित ढग से हिमालय परिचय ग्रंथावली ही लिख डाली है, जिसम विवरणो का बाहुल्य गजेटियरो की प्रामाणिक सामग्री की छानबीन, प्रदेश और संस्कृति का रोचक वर्णन मिलता है। 'किन्नर देश मे', 'कुमाऊँ', 'दार्जिलिंग परिचय', 'यात्रा निबन्धावली' आदि ऐसे ही ग्रंथ हैं। इनमे भौगोलिक ऐतिहासिक तथा अर्थ शास्त्रीय विवरणो की अधिकता से बहुधा रोचकता भग्न होती जाती है। 'यात्रा के पन्ने' म उन्होने तिब्बत की तीन यात्राओ की यादगारें दी हैं। दूसरे घुमक्कड देवेन्द्र सत्यार्थी हैं जिन्होने 'चाद सूरज के बीरन' मे लोक संस्कृति तथा लोक साहित्य और गीतो की खोज के लिए अपनी जनपदीय यात्राओ को काव्यात्मक मधुरता से राग रंजित करके प्रस्तुत किया है। इसी तरह मुनि कातिसागर ने खडहरो के वैभव म पुरातत्त्व के लिए अपनी यात्राओ का कही कही उल्लेख किया है जिसम यात्रा की अपेक्षा कलाकृतियो की खोज प्रमुख हो गई है। तीसरे पर्यटक अज्ञेय हैं जिनकी दो यात्रा-पुस्तकें छपी हैं—'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक बूँद सहसा उछली'। पहली पुस्तक मे प्रवास प्रधान यात्राएँ हैं जिनकी रोचकता और कला शैली अद्भुत है। इसमे कहानीकार का कौशल, कवि की तीव्रानुभूति

तथा यात्री की सहृदयता का मेल है। प्रभाव की गहराई और मनोदशाओं के सप्रेषण के लिए लेखक ने हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि के उद्धरण भी दिये हैं। दूसरी पुस्तक में लेखक की यूरोप यात्राओं के वृत्त तथा संस्मरण है। लेखक ने रोम, स्विट्जरलैंड, संयुक्त राज्य अमेरिका, बर्लिन, क्रीट, पेरिस, हालैंड आदि के महत्त्वपूर्ण स्थलों, सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक वैभव के केन्द्रों, ऐतिहासिक स्थलों की फोटोग्राफिक झाकियां देने के साथ साथ लोगों के चरित्र भी अनुस्यूत किये हैं। इसी परपरा में मोहन राकेश की 'आखिरी चट्टान तक' नामक पुस्तक है—जिसमें लेखक आँखें मुख और काफी कटा सा होकर देश के सुदूर दक्षिण के क्षेत्रों—गोआ, मगलोर, कनानोर, कालीकट, कन्याकुमारी आदि—के चित्रण के संग-संग साधारण लोगों के हृदय तल में भी पैठने की कोशिश करता है। इधर, बिलकुल अभी, नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'केरल की सारदीय परिक्रमा' में उस क्षेत्र के सांस्कृतिक तथा साहित्यिक व्यक्तियों और गतिविधियोंके परिचय के साथ अपने अनुभव एव विश्लेषण भी दिये है। प्रभाकर द्विवेदी की 'पार उतरि कहँ जइहौ' भी एक सरस कृति है।

कुछ यात्रा पुस्तकें प्रदेश विशेष की प्राकृतिक और सांस्कृतिक छवियों की अपेक्षा राजनैतिक सामाजिक और अर्थशास्त्रीय विश्लेषणों पर अधिक बल देती हैं। इनमें लेखक केवल शुद्ध कला यात्री न होकर एक सजग विश्लेषक भी बन जाता है। इनमें सामाजिक प्रयोजनात्मकता प्रधान होती है और ये मनोरंजन के साथ साथ युगीन समस्याएँ भी उठाती है। भगवतशरण उपाध्याय की 'मैंने देखा', 'वो दुनिया' और 'कलकत्ता से पेकिंग', जगदीशचन्द्र जैन की 'चीनी जनता के बीच', रघुनाथसिंह की 'दक्षिण पूर्व एशिया', यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' अमरकुमार जैन की 'दूसरी दुनिया' आदि ऐसी ही प्रमुख पुस्तकें हैं। इन सूचनात्मक पुस्तकों के आलबन अक्सर विदेश ही हैं। इसी श्रेणी मे शिवदान सिंह चौहान की 'काश्मीर देश व संस्कृति' आती है—जिसमे शुद्ध सैलानी भावना की अपेक्षा—काश्मीर की कला, इतिहास, राजनीति आदि के सम्बन्ध मे लेखक के दृष्टिकोण की प्रमुखता है। इस पूरे सदर्भ मे वह काश्मीरी जनों की दुःखद अवस्था का भी मार्मिक और सशक्त अकन करता है।

वन-यात्रा सम्बन्धी दो रोचक पुस्तकें भी निकली है—श्रीनिधि सिद्धांतालंकार विरचित 'शिवालक की घाटियों में' तथा 'मालिनी के वनों में'। दोनों पुस्तकें पशु हिंसा या शिकार के बिना भी वन यात्रा के भीषण सुदर रोमाचक और रोचक,

कोमल और कठोर वर्णनाओं में रसाविष्ट कर लेती हैं। इनमें वन के हिंस्र और सरल पशुओं की नैसर्गिक जिन्दगी, स्वभाव और घटनाओं का चित्रण है। हाँ, लेखक के वर्णनों में अतिशयोक्ति की मात्रा काफी है। पुरातत्व चर्चा अप्रासंगिक है।

रिपोर्ताज और इंटरव्यू (साक्षात्कार) पत्रकारिता के क्षेत्र की विधाएँ हैं जिनका उपयोग स्वतन्त्र विधाओं के अतिरिक्त यात्रा (जैसे यशपाल जैन की 'उत्तराखंड के पथ पर') रेखाचित्र आदि में भी हो रहा है। इनमें रिपोर्ताजों का सम्बन्ध वर्तमान से होता है—जिनमें लेखक छोटी छोटी घटनाओं के वातावरण में अपने अंतर्वेगों द्वारा पाठक को प्रभावित करता है। ये सूचनात्मक तथा तरंगात्मक होते हैं। अद्यतन विकास के कारण इनमें काल्पनिक घटनाएं जुड़ने लगी हैं, काल संधान अतीतापेक्षी भी हो गया है—तथा चरित्र भी संलग्न किये जाने लगे हैं। इंटरव्यू में भी प्रत्यक्ष पात्र के सम्मुख प्रश्नोत्तर रूप में समस्याएँ, दृष्टिकोण और विचारों पर बहस की जाती है तथा उनका स्पष्टीकरण किया जाता है। अब इंटरव्यू में अतीत-कालीन पात्रों से भी फैंटेसी या स्वप्न पद्धति में साक्षात्कार मिलता है। इस शैली में देश-काल की काफी उलट पुलट (टाइम शिफ्ट) हो जाती है। यहाँ लेखक प्रश्नकर्ता के रूप में आता है और खुद भी एक पात्र होता है।

रामनारायण उपाध्याय ने 'गरीब और अमीर पुस्तकें' में रिपोर्ताजों की जिस शैली का उपयोग किया है उसमें लेख और जर्नलीज़ के भी तत्त्व मिल जाते हैं। किन्तु रिपोर्ताज की प्रमुख विधा के साथ भूगोल इतिहास, अनुभव संस्मरण, स्केच डायरी आदि का चलचित्रात्मक खंड भंग (कट आउट) के तकनीकी प्रयोग करने में कामताप्रसादसिंह 'काम' कृत 'मैं छोटा नागपुर में हूँ' पुस्तक है। इसमें छोटा नागपुर का जीवन, संस्कृति तथा परंपरा और प्रकृति, नगर तथा सभ्यता आदि का कान्त संयोग हुआ है। रामकुमार की 'यूरोप के स्कैच' में रेखा चित्र की चित्रात्मकता के साथ काव्य और विवेचना का भी संगम हुआ है, जिससे ये रिपोर्ताज और स्केच दोनों हो गए हैं। पेरिस के चित्रकार, कोपेनहेगेन की विशाल झील, नेपल्स का नीला आकाश आदि विषयों के चित्रात्मक विवरण हैं। 'कागज की किश्तियां' में लक्ष्मीचन्द्र जैन ने 'जब पाम्पे आई को प्रलय ने वरा' नामक काल्पनिक रेडियो कमेंट्री में काल विपर्यय का अच्छा उपयोग किया है। डायरी शैली में भी रिपोर्ताज लिखने में अमृतलाल नागर कृत 'गदर के फूल' है जिसमें प्राचीन जन श्रुतियों, लोक कथाओं, इतिहास, वीर गीतों आदि का उपयोग करके अवध की

भ्राति का बयान है। इसी शली मे जगदीशचन्द्र जैन की 'पेकिंग की डायरी' भी है जो तथ्यपरक हो गई है। रामआसरे कृत 'माओ के देश मे' नामक यात्रा-वत्तात मे भी रिपोर्ताज के सफल प्रयाग हैं।

इधर रिपोर्ताज के विविध आयामो का विकास करने म यशपाल ने 'चक्कर क्लब', सत्यकाम विद्यालकार ने 'इत्तक्वत्तक कत्यम्', धमवीर भारती ने 'कहनी अनकहनी', प्रभाकर माचवे ने 'जब प्रभाकर पाताल गये' आदि विभिन्न पत्रिकाओ म विभिन्न शलियो म लिखकर उसकी क्षमताओ का बोध कराया है।

इटरव्यू अपेक्षाकृत नई विधा है। किन्तु 'एण्टन चेखव एक इटरव्यू' नामक राजेन्द्र यादव की पुस्तक एक प्रौढ उपलब्धि मानी जायगी। यह एक काल्पनिक इटरव्यू है, जो चेखव से सम्बद्ध और चेखव की कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध रचनाओ, पत्रो, सस्मरणो, आलोचनाओ आदि पर आधारित है। इस कृति मे महान् रूसी कहानीकार का जीवन, कृतित्व, देश, कृतियो के पात्र, कला की समस्याओ, साहित्यिक समालोचनाओ आदि का भी सर्वेक्षण हुआ है। आधार भी प्रामाणिक हैं जसे चेखव द्वारा व्यक्तियो को लिखे गए पत्र, कुप्रिन, तोल्स्तोय, गोर्की, स्टेनिस्लावस्की आदि के सस्मरण। इसी तरह लक्ष्मीचन्द्र जन ने अपनी पूव इंगित पुस्तक मे इतिहास और कल्पना के मेल से 'महावीर एक इटरव्यू' लिखा है।

इटरव्यू साहित्य की दूसरी उपलब्धि पदमसिंह शमा 'कमलेश' की 'मैं इनसे मिला' शीर्षक है। इनमे समसामयिकता का बधन है। विषय विस्तार का अवकाश नही है और कुछ समस्याओ का केंद्रीकरण है। साहित्यकारो की कृतियां तथा जीवन-दर्शन को समझने के लिए यह पुस्तक महत्त्व की है। शरद देवडा की 'पत्थर का लैम्प पोस्ट' नामक पुस्तक मे भी मनोहर इटरव्यू सकलित है।

इस अवधि म बहुत ही मनोरम और आतरिक पठ वाले सस्मरणो तथा रेखा चित्रो की प्रचुरता है। सस्मरण और रेखाचित्र के बीच कठोर विभाजक रेखा खींचना नामुमकिन है। रेखाचित्र मे चित्रात्मकता पहली शत है चाहे किसी नगर का चित्र हो, या व्यक्ति, या स्थान अथवा वस्तु का। यहा बहुधा लेखक निर्वैयक्तिक सा हो जाता है। जब रेखाचित्र कथाभास देने लगते हैं, अथवा कलाकार के व्यक्तिगत अनुभवो के अलावा दृष्टिकोणो से भी सराबोर हो जाते हैं तो व वणनात्मक सस्मरण हो जाया करते हैं। सस्मरण कथा न होकर कथाभास हैं तथा रेखाचित्र रगचित्र न होकर शब्दचित्र हैं। सस्मरणो मे अतीत का परिवेश अनिवायत होता है लेकिन रेखाचित्रो के लिए ऐसी जरूरत नही भी है। सस्मरण, आत्मकथा तथा

कृति 'श्री सुमित्रानंदन स्मृति चित्र' है।

रेखाचित्रों की दृष्टि से रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'माटी की मूरतें' लिखकर एक कला-चिह्न कायम किया है, जिसमें लेखक ने अपनी बाल्यावस्था के स्मृतिचित्रों द्वारा जनसाधारण के बीच के महाभारतीय पात्र प्रस्तुत किये हैं। जनसाधारण पात्रों को मंत्र से फूंक देने वाली निराली शैली, मुहावरों और ग्रामीण शब्दों से युक्त भाषा के साथ साथ लेखक की प्रभावपूर्ण वैयक्तिक प्रतिक्रियाएँ भी घुली मिली हैं। अपनी दूसरी कृति 'मील के पत्थर' में उन्होंने मूलतः लेखकों और नेताओं के रेखाचित्र दिये हैं, जिनमें अनेकानेक संदर्भ व प्रसंग जुड़े हैं। शैली सूक्ष्म किंवा विश्लेषणात्मक हो गई है। कुछ उपनीषक भी स्केचों की तरह बड़े प्यारे हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी ने भी 'एक युग प्रतीक' में रेखाचित्रों और निबन्धों का परस्पर सटा दिया है, किन्तु अपनी अलबेली शैली द्वारा उन्होंने इन रेखाचित्रों को स्थायी महत्त्व प्रदान किया है जिनमें अनेक सांस्कृतिक महाजनों के भव्य व्यक्तित्व झलक उठे हैं। बनारसीदास चतुर्वेदी रेखाचित्र का एक सम्पूर्ण साहित्य ही दे रहे हैं, जिसमें उन्होंने अपने दीर्घ जीवन के चतुर्दिक सम्पर्कों तथा बहुविध अनुभवों को प्रस्तुत किया है। इनमें सांस्कृतिक, राजनीतिक साहित्यिक नेताओं के अनेक अज्ञात और बहुमूल्य रेखाचित्रों के साथ-साथ सुजान अहीर, अंधी चमारिन, मनसुख और बल्ला-जग साधारण जनों के चरित्र भी उभारे गए हैं।

गद्यगीत को छायावादी युग में परिष्कृति और प्रौढ़ता मिल चुकी थी। इस अवधि में इस विधा के क्षीण और लुप्त होने के संकेत मिल रहे हैं, क्योंकि नई कविताएँ, भाव-कथाएं तथा (कहीं-कहीं) नई कहानी (भी) इसका आस्वाद कर रही हैं।

यह एक भावप्रवीण और रसात्मक पूर्ण विधा है। इसमें एक ही भाव मनोनायक तथा सरस गद्य की भाषा द्वारा मुक्तक काव्य की रसात्मकता का संधान कर सकता है। इसमें भावावेग, अनुभूति की विभूति एवं अभिव्यंजना-कौशल की विशेषता होती है। ये विशेषताएँ प्रगीति की भी हैं, अतः गद्यगीत में भी भावों या अनुभूतियों का केंद्रीकरण होता है। इसमें लघुकथनता का होना भी अपेक्षित है। इस अवधि में गद्यगीत नाट्य कथाओं में भी विकसित हो गए हैं। अब उनमें कथात्मक या प्रभावात्मक कथात्मकता का भी समावेश हुआ है। अब व्यावहारिकता में गद्य तथा विचार में कल्पना का संयोग बन गया है। इस हिंदी गद्यगीतकार रचयि

प्रभाव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीताजलि' का पडा था और अब खलील जिब्रान के भावकथात्मक गद्यगीतो, ह्विटमन की गद्य कविताओ तथा भारतीय विदग्ध सूक्तियो आदि का प्रभाव सर्वोपरि है। आज गद्य काव्य छद के बध से तो पूर्ववत् मुक्त है, किन्तु प्रयोजन से बँधा हुआ है। अत कहा जा सकता है कि इस अवधि मे जो भी गद्यगीत लिखे गए है व पहले की तरह आध्यात्मिक और लौकिक प्रेम, राष्ट्रीय और ऐतिहासिक भावो तथा प्राकृतिक सौदयमूल्या स युक्त तो हैं ही सूक्ति प्रधान भाव-कथात्मक तथा लघु-कथात्मक भी हो गए हैं। अब इनम रविबाबू की भावुकता, खलील जिब्रान की विचारात्मकता तथा नय युग की सामूहिकता का मेल है।

बालकृष्ण बलदुआ ने 'अपने गीत', दिनेशनदिनी डालमिया ने स्पदन', शकुन्तला-कुमारी 'रेणु' ने 'उन्मुक्ति', शिवचद्र नागर ने 'प्रणयगीत और रामप्रसाद रावी ने 'पूजा' मे प्रेम के लौकिक, आध्यात्मिक, रहस्योन्मुख तथा भक्तिपरक पक्षा की अभिव्यजना की है। दिनेशनदिनी ने मासल सौदय, 'रेणु' ने उदात्त और प्रेम रावी ने भक्ति भावना पर प्रधानता दी है। आत्मप्रकाशन और मनोदशाओ की सूक्ष्म अनुभूतियो को प्रकट करने की दष्टि से ब्योहार राजेन्द्रसिंह का 'मौन के स्वर', कान्ति त्रिपाठी का 'जीवन दीप', रघुवरनारायणसिंह का 'हृदय-तरग विमला रानी का 'अवसाद' आदि प्रमुख हैं। विद्यावती भागव, 'रेणु', विमलारानी कान्ति त्रिपाठी आदि महिलाओ ने छोटे छोटे गद्य-गीतो की 'साधना' वाली परम्परागत शैली का ही उपयोग किया है।

गद्यगीतो को भाव कथाओ, लघु कथाओ और सूक्तियो आदि मे परिबद्ध करने मे दिनकर, गोयलीय की पुस्तकें महत्त्व की है। दिनकर ने 'उजली आग म गद्य-काव्यो को भाव कथा के निकट पहुँचा दिया है। उनमे काव्यत्व की कोमलता तथा विचारो के दीप्त बिन्दु हैं। कहीं-कहीं दार्शनिकता के सफल मेल के अपेक्षाकृत अभाव से अनेक स्थलो पर विशृखलता मिलती है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ म अयोध्याप्रसाद गोयलीय न गद्यगीता और लघुकथाओ का सयोग कराकर 'हितोपदश' वाला ज्ञान गुम्फन लाने की चेष्टा की है। बकुठनाथ मेहरोत्रा ने 'ऊँचे और ऊँचे' मे लघु गद्यगीतात्मक कथाओ द्वारा भावो के मार्मिक गुम्फन की चेष्टा की है। अपेक्षाकृत बडे आकार मे गद्यगीतात्मक विधा वाले 'तब की बात और थी' नामक पुस्तक मे हरिशकर परसाई न लघु कथा तथा प्रतीक-कथा का मेल कराया है (यद्यपि ये गद्यगीत न होकर कथात्मक लगते हैं)।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीनारायण चतुर्वेदी, हरिशंकर, राहुल सांकृत्यायन आदि के पत्रों के संकलन द्वारा उनकी साहित्यिक सोद्देश्यताओं एवं मान्यताओं को समझने का अवसर दिया है। विनोदशंकर व्यास ने 'प्रसाद और उनके समकालीन' में निराला, वनीपुरी, नवजादिकलाल, शिवपूजन सहाय आदि के पत्र, बच्चन ने पंत के पत्र ('कवियों में सौम्य संत' में) तथा मानव एवं नागर ने महादेवी वर्मा के पत्र संकलित किये हैं, जो अधिक आत्मीय और वैयक्तिक हैं। महादेवी के पत्र तो उनकी सृजन प्रक्रिया को समझने में सर्वाधिक मदद करते हैं। जवाहरलाल नेहरू द्वारा संकलित 'कुछ पुरानी चिट्ठियाँ' देश की राष्ट्रीय तथा विश्व की अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर सम्पर्क एवं चिंतन के धरातल से प्रकाश डालती हैं।

इस अवधि में तो क्या, हिन्दी साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास में ही साहित्यकारों की डायरियाँ प्रकाशित नहीं हुईं। हाँ, डायरी शैली में रोचक वृत्तांत, साहित्यिक एवं सामाजिक समस्याएँ, भाव दशाएँ आदि प्रस्तुत करने में 'काम' कृत 'मैं छोटा नागपुर में हूँ', शरद देवड़ा कृत 'पत्थर का लम्प पोस्ट', राहुल कृत 'यात्रा के पन्ने' आदि उदाहरण हैं। किन्तु इस अवधि में एक अत्यंत अनूठी और श्रेष्ठ साहित्यिक डायरी छपी है—सुंदरलाल त्रिपाठी की 'दैनंदिनी'। यह डायरी के ढाँचे में निबन्ध लेखन की नई शैली का निर्भीक और सुंदर प्रयोग है। इस डायरी में चार्ल्स लम्ब की सी आत्मीयता, एक ममर्ज्ञ कवि की सी सूक्ष्म भाव प्रवणता तथा एक व्यक्ति की जीवन दृष्टि का उच्चकोटि की कलात्मकता के द्वारा सांगोपांग अंकन हुआ है। यह कृति इस युग की एक अप्रतिम देन है।

इन्हीं पत्रों डायरियों में से उभरकर चारु लेख (बेल लेत्र) प्रस्तुत हैं। यह सद्य प्रस्फुटित कला है जो अभी भी कम स्वतन्त्र हो पाई है। इसके अंतर्भाव्य तत्त्वों का निरूपण हम ऊपर कर चुके हैं। यात्रा वृत्तांतों, उपन्यास, डायरी आदि में कुछ चारु लेख अनायास ही बन गए हैं, जैसे राहुल सांकृत्यायन की 'यात्रा के पन्ने' में राजस्थान, बिहार संबंधी अंश, हजारीप्रसाद द्विवेदी के धारावाहिक रूप में प्रकाशित 'चारु चंद्रलेख' में अनेक अध्याय सुंदरलाल त्रिपाठी की 'दैनंदिनी' के कुछ अंश। अपेक्षाकृत पृथक ढंग से भगवतशरण उपाध्याय ने कलकत्ता से पेकिंग में पेकिंग तथा चीन संबंधी कुछ सांस्कृतिक और साहित्यिक चारु लेख भी लिखे हैं। उदाहरण हरिशंकर परसाई द्वारा कल्पना में प्रकाशित 'हो रहे' और अंत में' शीर्षक छद्मपत्र हैं, जो चारुलेख की लाक्षणिकता से चमत्कृत हैं।

आलोचना

बच्चनसिंह

किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के सामने सबसे प्रमुख समस्या नवनिर्माण की होती है। इस निर्माण का क्षेत्र आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण तक ही सीमित न होकर साहित्य संस्कृति आदि तक फैला होता है। साहित्य संस्कृति का अनिवार्य अंग है और किसी देश का सांस्कृतिक उन्नयन मुख्यतः साहित्य पर निर्भर करता है। साहित्य के दो पक्ष होते हैं—रचनात्मक और आलोचनात्मक। रचनात्मक साहित्य देश की संवेदनशीलता का मापक है तो आलोचनात्मक साहित्य उसकी बौद्धिकता का। जिस राष्ट्र की आलोचना जितनी गहरी और व्यापक होगी बौद्धिक दृष्टि से वह उतना ही प्रबुद्ध माना जायगा।

प्रत्येक दृष्टि से इस नए लोकतन्त्र की जागरूकता में कमी न थी, यद्यपि वह निःसंदिग्ध रूप से सतर्क नहीं कहा जा सकता। सन् '४७ के पूर्व ही हिन्दी आलोचना जिस धरातल पर प्रतिष्ठित हो चुकी थी वह हिन्दी ही के लिए नहीं वरन् समस्त राष्ट्र के लिए गौरव की वस्तु है। राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन होने के अनन्तर हिन्दी को अपने दायित्व का और भी अधिक बोध हुआ। कहना न होगा कि हिन्दी आलोचना इस दायित्व को सँभालने के लिए बराबर प्रयत्नशील रही है।

इस समय सबसे महत्त्व की बात थी अपने स्वतन्त्र स्वरूप को समझने की। पाश्चात्य आलोचना हमें चिंतन के क्षेत्र में नए संकेत दे सकती है और देती रही है। पर विदेशी पूंजी के आधार पर हम स्वतन्त्र जीवन की कल्पना नहीं कर सकते। हमारे आलोचकों ने इसे अच्छी तरह समझा और अपनी समृद्ध विरासत की ओर उनकी दृष्टि गई। स्वातन्त्र्य पूर्व भारत में भी इधर लोगों का ध्यान गया था। किंतु अब उस विरासत को मूल में हिन्दी अनुवाद द्वारा अधिक से अधिक लोगों को उपलब्ध कराना आवश्यक हो गया, क्योंकि इसीके माध्यम से हम आलोचना की भाषा का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, उसीके आधार पर हम नवीन निर्माण कर सकते हैं और उसीके आधार पर नए मार्ग का अन्वेषण भी कर सकते थे।

नए साहित्य के सृजन ने आलोचना के सामने नई समस्याएँ भी खड़ी कीं। उसके मूल्यांकन और कलात्मक विवेचन पुराने मानों के आधार पर संभव नहीं थे। इसलिए अपनी परंपरा को युगीन सन्दर्भों में देखना जरूरी हो गया। बहुत सी पुरानी मर्यादाएँ टूट गईं, कुछ झूठी पड़ गईं। फिर भी अपनी अतिशय समृद्ध

मनन की छाप है, जो उन्हें आचार्य शुक्ल से अलग कर देती है। ये मूलतः इन्हें शुक्ल परंपरा में ही मानना होगा, क्योंकि शुक्ल जी की सीमाओं का निर्देश करते हुए भी वे मूलतः उसी परंपरा का विकास कर रहे थे। इनको अलग-अलग लेने का एक कारण और भी है। अब तक प्रकाशित आलोचनाओं में इन्हें किसी-न किसी वर्ग में बांधने की कोशिश की गई है। पर इस प्रकार के वर्गीकरण की पद्धति अवैज्ञानिक है। न तो वाजपेयी जी को सौष्ठववादी की संज्ञा दी जा सकती है, और न द्विवेदी जी को ऐतिहासिक आलोचक की अभिधा। वे इनमें अँट नहीं पाते। स्वतंत्र भारत में वाजपेयी जी ने नव भारत की आकांक्षाओं के अनुरूप अपने मूल्य वर्गों को विकसित किया। द्विवेदी जी ने 'सामूहिक मुक्ति' की आवाज उठाई। डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि दिन पर दिन शास्त्रनिष्ठता की ओर बढ़ती गई। फलतः सैद्धांतिक समीक्षा के क्षेत्र में व्यापक तुलनात्मक दृष्टि अपनाकर भारतीय काव्य शास्त्र को उन्होंने पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सम्बन्धों में देखा।

सन '४७ के बाद पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के दो निबंध संग्रह प्रकाशित हुए 'आधुनिक साहित्य' तथा 'नया साहित्य : नये प्रश्न'। इन निबंध संग्रहों के शीर्षकों से स्पष्ट है कि वाजपेयी जी आधुनिक चेतना के प्रति सबसे अधिक जागरूक हैं। सन '४७ के काफी पहले प्रकाशित उनके निबंध संग्रह 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' को भी इसमें जोड़ दिया जाय तो हमारा मंतव्य और भी स्पष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि वे बीसवीं शती की नवीन साहित्यिक संवेदना (सेंसिबिलिटी) से पहले ही से संपृक्त हैं। आज तो यह और भी साफ हो गया है कि अपनी समसामयिक साहित्य का आलोचक ही सच्चा आलोचक हो सकता है। यदि वह अपनी समसामयिक कृतियों की आलोचना नहीं भी करता है तो भी उसके प्रति उसे जागरूक रहना चाहिए। वाजपेयी जी ने अपने समसामयिक साहित्य की आलोचनाएँ ही नहीं की हैं बल्कि समय समय पर उठने वाली दुरूह साहित्यिक समस्याओं और अवरोधों को सुलझाने में भी सक्रिय योग दिया है।

जिस प्रकार अपने काव्य के संबंध में दिए गए कवियों के वक्तव्यों के आधार पर उनकी रचनाओं को नहीं परखा जा सकता, उसी प्रकार आलोचकों द्वारा निर्दिष्ट समीक्षात्मक सरणियों को उनके संबंध में सही नहीं माना जा सकता। इसलिए जो वाजपेयी द्वारा निर्दिष्ट अनेक मूल्यात्मक समीक्षात्मक सिद्धांतों की तुला पर उनकी कृतियों को तौलना चाहेगा वह सतह में पड़ेगा। इस 'गाटकट' में आलोचक चिंतन के श्रम से बचकर रेडीमेड पैमाने में आलोच्य को नाप

समीक्षा दृष्टि की वह मूलत परिवर्तित न होकर भी विकसित होती रही है। इसके प्रमाण म कहा जा सकना है कि यद्यपि उन्हें नीतिवादी या उपयोगितावादी तुलाओ पर काव्य को तोलना अभीष्ट नही था फिर भी अपनी समीक्षा पद्धति म उन्होने उच्चतम नतिक मूल्यो को समाविष्ट किया है। समय और समाज की आवश्यकताओ पर साहित्य को आकना उन्हे बहुत रुचिकर नही था, लेकिन उनकी परवर्ती आलोचनाओ म इसको यथोचित स्थान दिया गया।

वाजपेयी जी की विकसित समीक्षात्मक दृष्टि को 'आधुनिक साहित्य और 'नया साहित्य नए प्रश्न म देखा जा सकता है। 'साकेत की समीक्षा उन्होने अधिक व्यापक दृष्टि से की है। इसम उसकी आधुनिकता के स्वरूप का विश्लेषण तो किया ही गया है उसके नवनिर्माण के प्रयास का मानस तथा कामायनी के सदभ म भी देखा गया है। तुलना का यह दृष्टिकोण 'साकेत' के काव्य सौष्ठव का उदघाटन करते हुए उसके अपने स्थान का निर्देश भी कर देता है। 'कामायनी की आलोचना करते समय वस्तु विन्यास चरित्र चित्रण, वस्तु वणन, भाव निरूपण, महाकाव्यत्व आदि शीर्षक शुक्ल जी के पटन की याद दिलाते है। शुक्ल जी की ही भाति बीच बीच म भाव, विभाव, रस अलकार ध्वनि का भी उल्लेख किया गया है। फिर भी शुक्ल जी और वाजपेयी जी का दृष्टिभेद यहाँ भी है ही। इस समीक्षा म मूलत उन्होने वस्तु वणन और भावात्मकता के समन्वय तथा कवि की अनुभूतिशीलता को ही केन्द्रीय विवेच्य बनाया है। कुरुक्षेत्र की आलोचना वचारिक स्तर पर ही हुई है क्योंकि उसका वण्य भी बौद्धिक है।

पर जब उसी पुस्तक म वाजपेयी जी जानकीवल्लभ जी शास्त्री की साहित्य सबधी उस व्याख्या को, जो अत्यन्त अस्पष्ट है और अस्पष्ट होने के कारण भ्रामक भी है नवयुग की साहित्यिक प्रवृत्तियो का प्रतिबिंब मान लेते हैं तो नया समीक्षक उनसे सहमत नही हो पाता। उस परिभाषा को उद्धत कर देना आवश्यक है— 'सत्य मौन है, वाणी मुखर। सत्य नित्य निर्मल है वाणी सस्कार परिष्कार की अपेक्षा करनेवाली—। सत्य सपूर्ण रूप से कभी भी व्यक्त नही किया जा सकता। अधिक-से अधिक सत्य को व्यक्त करने के लिए प्रयत्नशील महामनस्वियो की पवित्र तथा परिष्कृत वाणी का ही नाम साहित्य है।" यह साहित्य की रहस्यवादी व्याख्या है। आज सत्य को नित्य निमल कहना बेमानी है क्योंकि सत्य सापेक्ष है। पर वाजपेयीजी ने सभवत इसलिए स्वीकार कर लिया है कि यह किसी हद तक उनके मन के अनुकूल पडती है। इस परिभाषा की तुलना मे व आचाय

रामचद्र शुक्ल की परिभाषा को, जिसमे उन्होने जगत को ब्रह्म की अभिव्यक्ति तथा साहित्य को जगत के नाना भावो की अभिव्यक्ति माना है, सकीर्ण कहते हैं। सत्य और साहित्य के बीच जगत् और उसके नाना भावो को ले जाकर शुक्ल जी साहित्य को आध्यात्मिक तत्त्व से विच्छिन्न कर देते है। आगे वाजपेयी जी कहते है—"साहित्य का जगत् से सबध जोड देने के कारण शुक्ल जी साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक आदर्श की ओर इतना अधिक झुक गए कि उनके विशुद्ध मानसिक और भावमूलक स्वरूप का स्वतत्र आकलन न हो पाया।" इसस जो प्रश्न उठता है वह आज की समीक्षा से अनिवार्यत सम्बद्ध है। पहली शका जो मन म उठती है वह यह कि क्या वाजपेयी जी साहित्य का जगत से सबध स्थापन अवाछनीय मानते है ? इसीका पूरक एक प्रश्न और उत्पन्न होता है यदि साहित्य और जीवन का सबध है तो किस प्रकार का ह और वह कितना पेचीदा है ?

इस तरह की शका का समाधान वहा हो जाता है जहा व साहित्य की अपनी परिभाषा देते हैं—"साहित्य का मानव जीवन स चिरतन सबध है। साहित्य का स्रष्टा मनुष्य है, मनुष्य के लिए ही साहित्य की सृष्टि है। मानव जीवन साहित्य का उपादान और विषयवस्तु रहा है और रहगा। मानव जीवन विकासशील वस्तु है, इसलिए साहित्य भी विकासशील है। विकासशील मानव-जीवन क महत्वपूर्ण अशो की अभिव्यक्ति, यही साहित्य की मोटी परिभाषा हो सकती है।' इससे स्पष्ट है कि वे साहित्य और जीवन का अनिवार्य सबध मानते हैं, लेकिन यह सबध स्वभावसिद्ध होना चाहिए, आरोपित नही। जहा साहित्य सामाजिक, राजनीतिक, सामाजिक सघटन का प्रयोग साधन बना वहा वह दूषित हो जाता है। साहित्य और समाज का घनिष्ठ से घनिष्ठ सबध मानकर भी वे दोनो के अन्तर पर बल देते हैं। सामाजिक जीवन का साहित्यकार के लिए वे उतना ही महत्त्व मानत हैं जितना वह उसके विराट, सवकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना मे सहायक बन सके। वे यह स्वीकार करते हैं कि साहित्यकार को बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप नए विचारो का स्वागत करना चाहिए। लेकिन इन परिवतनो के साथ समाज की नैतिक आध्यात्मिक मर्यादाओ तथा काव्य के माप के परिवतन व। वे भ्रमपूर्ण मानत हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वाजपेयी जी के स्वय के समीक्षात्मक माप इन परिवतनो के फलस्वरूप नही निर्मित हुए है ?

वे साहित्य को अमिट सौदर्य सृष्टि मानत हैं। साहित्यकार चारो ओर फैले हुए जीवन का अध्ययन करता है और उससे प्राप्त 'सुष्ठुतम अनुभूतियो का

काव्यप्रणाली से अभिव्यंजन' करता है। इन अनुभूतियों में जीवन का रस है अ
अभिव्यंजन में स्वानुभूत सौन्दर्य की आभा। साहित्य के लिए वे इस ही अल
मानते हैं। वाजपेयी जी की शब्दावली—काव्यशास्त्रीय शब्दावली—की व्याख्या
अपेक्षित है, अन्यथा अनेक प्रकार की भ्रांत धारणाएं प्रादुर्भूत हो सकती
है। 'सुष्ठुतम अनुभूतियां चारों ओर फैले हुए जीवन से ही मिलती हैं, इसलिए
उनके संबंधों में कोई भ्रान्ति नहीं है। यदि अनुभूतियों में जीवन का रस है तो वह
वैयक्तिक न होकर व्यापक होगी।

वे कला के लिए कला के विरोधी हैं। वे अनास्था विघटन के प्रतिकूल हैं।
कवि के लिए एक अनिवार्य आस्था का होना वे जरूरी मानते हैं। वे श्रेष्ठ
साहित्य में उच्चतर नैतिक चेतना को भी आवश्यक बतलाते हैं क्योंकि यह
नैतिक चेतना मानव संबंधों को संपन्नता देती है। यही नहीं वह रसात्मक अनुभूति
को प्रांजल और परिपूर्ण बनाती है। 'नया साहित्य नए प्रश्न' में वे कहते हैं—
'यदि हमारी काव्य संस्कृति समृद्ध होती, तो हम समझते कि अंतिम विश्लेषण में
कविता का यह श्रेष्ठत्व उसके मूल में स्थित जीवन चेतना का ही श्रेष्ठत्व है।'
यह वाजपेयी जी की विकसित समीक्षात्मक चेतना का परिणाम है।

पश्चिम में साहित्य और नैतिकता का प्रश्न काफी दुरूह और विवाद्य रहा है।
पर भारतीय काव्यशास्त्र इस प्रकार के विचार में उलझा ही नहीं, क्योंकि इसके
औचित्य में उसे कभी संदेह नहीं रहा। वाजपेयी जी ने उच्चतर नैतिक मूल्यों का
नहीं बल्कि नीतिवादिता का विरोध किया है। द्विवेदीयुगीन वह नीतिवादिता
जिसकी चरम परिणति शुक्लजी में देखी जाती है, उन्हें मान्य नहीं हुई। तुलसी-
दास का मर्यादावाद नूतन काव्य के संदर्भ में स्वीकार्य नहीं था। नीतिवादिता
पूर्वनिश्चित धारणाओं का पोषण करती है जब कि नैतिक मूल्य मानवीय
जीवन की संपन्नता से संबद्ध होते हैं। संभवतः वाजपेयी जी का पूरा ध्यान तब
आकृष्ट हुआ जब उन्होंने कथा साहित्य का मूल्यांकन आरम्भ किया। प्रसाद का
'कंकाल' यथार्थवादी होने पर भी अपने नये नैतिक मूल्यों के कारण ही उन्हें अच्छा
लगा था। उसमें लेखक ने परंपराभुक्त नीतिवादी मूल्यों का खोखलापन दिख-
लाते हुए नये मूल्यों का निर्देश किया था। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' का विवेचन नैतिक
मूल्यों के आधार पर किया गया है। उसमें नीतिवादिता नहीं है। लेखक ने नये
नैतिक मूल्यों को सिरजा है। पर वे रचनात्मक न होकर विघटनात्मक हैं। इसका

मूल दोप लोकदृष्टि और लेखक की स्थापना के बीच उपस्थित अलघ्य खाई है। य सभी मूल्य वयक्तिक है, निर्वयक्तिक नही। अपनी एकात वयक्तिकता के कारण वह 'एक करण भावना से दूसरी करुण भावना म भटकती रहती है। जनेन्द्र के सबध म विचार करत समय य कहते हैं —"हम रूढिबद्ध सामाजिक नतिकता के हामी नही हैं। परतु हम उस मनोविज्ञान का अवश्य समभना चाहत हैं जो समस्त सामाजिक व्यवहारा पर एक प्रश्न चिह्न लगाकर रह जाता है और बदले मे कोई नया निर्देश या रचनात्मक सुभाव नहीं देता।" जनेन्द्र के नये मूल्यो के केन्द्र म कोई शक्ति-सपन्न जीवन चेतना नही है, व यथाथ की भूमि से कटकर जिन कल्पित मूल्यो का सजन करत हैं य असामाजिक ही नही हैं बल्कि समाज विरोधी भी हैं। जीवन की प्रत्यक सभावना से रिक्त होने के कारण उनके पात्रो के मूल्यगत सघष निष्प्रभ और निष्फल है। जनेन्द्र के विपरीत वे प्रेमचद के मूल्यो को अधिक सारवान और रचनात्मक मानत हैं यद्यपि वे आदर्शवादी अधिक हैं। यशपाल और राहुल के सबध म उनका कहना है— फिर ये दोनो लेखक मनुष्य के नतिक व्यक्तित्व का कोरम कोर अधाश्रित मानते हैं और क्षण क्षण म उसकी खिल्ली उडाने को तयार रहते है। आलिंगन-चुबन, व्यभिचार और मास मदिरा के नजारे इनक उपन्यासो म जितने अधिक हैं किसी भी बडे लेखक मे शायद ही हो। इन्ही कारणो से हमारे ये दो प्रतिभाशाली लेखक हिन्दी साहित्य को ईप्सित विकास की ठोस भूमि पर नही पहुँचा सके हैं और हम अब भी नय प्रेमचन्द और नये प्रसाद की प्रतीक्षा म हैं।" यह सही है कि अपनी इन कमजोरियो के कारण यशपाल द्वारा सर्जित नये नैतिक और सामाजिक मूल्य, जो यथाथ की भूमिका पर प्रतिष्ठित है, प्रेमचन्द के रचनात्मक दष्टिकोण का सम्यक् विकास नही कर सके हैं।

काव्य की अपक्षा उपन्यास की समीक्षा मे वाजपेयी जी की सामाजिक दृष्टि अधिक उभरी है। इस सामाजिक दष्टि का गठबधन किसी मतवाद से नही किया जा सकता। 'शेखर एक जीवनी' क चरित्र चित्रण और कलागत प्रौढत्व को स्वीकार करते हुए उन्होने प्रश्न किया है— '—कला और निरीक्षण-सबधी लेखक की मार्मिकता और मनोवैज्ञानिक गहरी पठ हम कहा ले जाती है ? केवल मनोरजन और चमत्कारी कथा ही पयाप्त है या उस कथा की प्रेरणा और सामाजिक प्रभाव का आकलन करना भी हमारा कतव्य है।" उनक विचार से चेतना के अभाव मे शेखर का विद्रोह निष्क्रिय मूल्यो की सष्टि करता है। अश्क के उपन्यासो की यथाथता को स्वीकार करत हुए भी वे उन्ह प्रेमचद के उपन्यासो की

भाँति स्वस्थ, उल्लासपूर्ण और विकासोन्मुख नहीं मानते, क्योंकि अश्क निष्क्रियता और हल्के विस्तार की छाया की सृष्टि करते हैं। इन उपन्यासों को उन्होंने यथार्थ के संदर्भ में ही परखने की चेष्टा की है। अश्क के संबंध में वे कहते हैं "उनके उपन्यासों को पढ़ते हुए यह जान पड़ता है कि हम एक अतिशय सजीव किंतु वस्तुतः निर्जीव संसार के प्राणियों के बीच आ गए हैं।" इस विरोधाभास में गहरी सचाई है, क्योंकि वह एक बड़ी सचाई की माँग करती है।

कथा साहित्य की समीक्षा में जो अभिनिवेश वाजपेयी जी का दिखाई पड़ता है वह अप्रतिम है। प्रेमचन्द की स्वस्थ जीवन-चेतना तथा यथार्थ के परिपार्श्व में उन्होंने विभिन्न उपन्यासकारों की जिस दृष्टि असम्पूर्णता का उल्लेख किया है वह उनकी प्रौढ़ बौद्धिकता और चिंतन का परिचायक है। जैनेन्द्र के सीमित दृष्टिकोण व विषयहीनता, काल्पनिक ह्रासोन्मुखी मूल्यों पर उन्होंने कदाचित् पहली बार प्रहार किया। अन्य उपन्यासकारों की लघुता विशालता का आकलन उन्होंने मानवीय जीवन की शक्तिमत्ता और संभावनाओं के संबंध में किया है जो इस क्षेत्र में समीक्षा की नूतन दृष्टि थी। पर वाजपेयी जी ने उपन्यासों के वस्तु (कांटेण्ट) पक्ष पर जिस तरह गहराई में पैठकर विचार किया है उस तरह उनके 'रूप' पर नहीं। या यों कहें कि 'रूप' उपेक्षित हो गया है अथवा छूट गया है। 'वस्तु' और 'रूप' को वाजपेयी जी स्वयं अलग नहीं मानते, इसलिए भी वस्तु के संदर्भ में ही वह विचार्य हो जाता है। फिर भी कथा साहित्य के संबंध में उन्होंने जो स्वल्प समीक्षा सरणि अपनाई है वह अनेक संभावनाओं से युक्त है। उनके काव्य-संबंधी विचारों से उनकी समीक्षा पद्धति से मतभेद हो सकता है, लेकिन कथा साहित्य में अपनाए गए उनके समीक्षात्मक मान या दृष्टिकोण हिन्दी की कथा समीक्षा के लिए अत्यन्त शक्तिवर्द्धक और प्रेरक सिद्ध होंगे।

कथा साहित्य की ही भाँति नाट्य-साहित्य की समीक्षा में भी उन्होंने अद्भुत पकड़ और तलस्पर्शी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। प्रसाद के नाटकों को 'स्वच्छन्दतावादी' की संज्ञा देना और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को 'पुनरुत्थानवादी' कहना उनके मौलिक चिंतन तथा यथार्थ की पहचान का ही फल है।

वाजपेयी जी की चिंताओं और उद्भावनाओं की मौलिकता उनके काव्य शास्त्र-संबंधी विचारों में भी देखी जा सकती है। वे रस सिद्धान्त को व्यापक अर्थ में काव्य का प्रतिमान बनाने के पक्ष में हैं पर शुक्ल जी की भाँति वे उसकी अलौकिकता के प्रति शंका प्रकट करते हैं। इस अलौकिकता से अनेक प्रकार के पाखंडों

की सृष्टि हुई है और काव्य में व्यक्तिवादिता को प्रश्रय भी मिला है। लेकिन शुक्ल जी की अपेक्षा वे संस्कृत आचार्यों की विचारणाओं के अधिक निकट हैं। उदाहरण के लिए 'साधारणीकरण' संबंधी उनकी मान्यताओं का उल्लेख किया जा सकता है। शुक्ल जी आलम्बन धर्म के साधारणीकरण पर जोर देकर संस्कृत आचार्यों की परंपरा से अलग हो जाते हैं। डा० नगेन्द्र कवि की अनुभूति में सहृदय के तादात्म्य-स्थापन में साधारणीकरण की निष्पत्ति मानते हैं। पर वाजपेयी जी कवि के समस्त काव्य व्यापार का साधारणीकरण मानते हैं। वस्तुतः 'विभावादि' के साधारणीकरण की यह नई व्याख्या है। वाजपेयी जी द्वारा प्रयुक्त शब्दावली में आधुनिक चिंतन की अनेक छाप दिखाई दे जाती है। उन्होंने विभिन्न काव्य-संप्रदायों के विकास क्रम और उनके अंतस्संबंधों पर बल देकर भारतीय काव्य शास्त्र की पुनर्रचना पर जो जोर दिया है वह उनकी आधुनिक दृष्टि का परिणाम है।

इधर वाजपेयी जी 'रचनात्मक और क्रियाशील जनतंत्र' की अपेक्षा साहित्यिक कृतियों के मूल्यांकन पर जोर देने लगे हैं। आज की अनास्था और विघटन मूलक मनोवृत्तियों को रचनात्मक जीवन से संबद्ध करना अत्यंत आवश्यक हो गया है। भारत के बाहर साहित्य के विकास की वे दो दिशाएँ मानते हैं—१ एशिया अफ्रीका के साम्राज्य शासित देशों को अपनी सारी हमदर्दी देना और उन्हें साम्राज्यशाही के भार से मुक्त करने के लिए प्रस्तुत रहना, २ एटम सभ्यता से विश्व को त्राण दिलाना। इनको वे साहित्यिक प्रतिभा का बड़ा कार्य मानते हैं। यदि वाजपेयी जी ने आगे और विचार किया होता तो वे शायद इस विषय पर भी विचार करते कि आखिर आज की रचनाओं में रचनात्मक और क्रियात्मक जनतन्त्र भावना क्यों नहीं अभिव्यक्त हो पाती? इसका उत्तर इस प्रश्न में है कि क्या जनतंत्र स्वयं में रचनात्मक और क्रियात्मक है?

प्रयोगवाद पर वाजपेयी जी ने जो गहरा प्रहार किया है उसके मूल में संभवतः उनकी रचनात्मक जनतंत्र की चेतना ही रही है। इससे यह भी कहा जाने लगा कि उनकी आधुनिकता संकुचित हो गई है और उनके सुनिर्दिष्ट प्रमानों का लचीलापन खत्म हो गया है। प्रयोगवाद के संबंध में उनकी धारणा को असंतुलित माना जा सकता है, पर असंयमित नहीं। असंतुलित वह इसलिए है कि उसकी उपलब्धियाँ उनकी विवेचना में नहीं आ पाई हैं किंतु असंयमित वह इसलिए नहीं है कि उनके उल्लिखित अभाव वहाँ पर मौजूद हैं।

अब संक्षेप मे वाजपेयी जी की उन उपलब्धियो पर विचार कर लेना चाहिए जो उन्हे सौन्दर्यानुसंधान से लेकर रचनात्मक जनतंत्र तक की यात्रा मे प्राप्त हुई है। वे समीक्षक का प्रथम कर्तव्य काव्य सौष्ठव की विवेचना मे मानते हैं। काव्य का प्रतिमान आलोच्य के भीतर ही खोजना चाहिए। रचना को समझने और मूल्यांकित करने के लिए शास्त्रीय प्रतिमान सहायक सिद्ध हो सकते हैं उनका आरोप आलोचना को रीतिबद्ध कर देगा। साहित्य को किसी भी साहित्येतर दृष्टिकोण से देखना उन्हे कतई पसन्द नहीं है। काव्य सौष्ठव और जीवन चेतना को वे अलग नहीं मानते। उपयोगितावाद और नीतिवाद को क्षमा न करते हुए भी वे उच्चतर नैतिक मूल्यों से साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते है। साहित्य मे विघटनात्मक मूल्यो और विकृत मनोवृत्तियो का चित्रण उन्हे वाछनीय नही है। आज के नए जनतंत्र के लिए वे आस्थामूलक और रचनात्मक दृष्टिकोण को आवश्यक मानते हैं। इस तरह उन्होने नए युग के अनुरूप नवीन साहित्यिक चेतना जगाई और पुरातन अभिरुचियो का नया संस्कार दिया। उनकी काव्य सम्बन्धी मान्यताओ मे जगह जगह जो अन्तर्विरोध दिखाई देता है, वह उनकी विकसनशील समीक्षा पद्धति को समग्रत न देखने के कारण। उनकी राष्ट्रीय दृष्टि ने उनकी समीक्षा को ही नवीन दीप्ति नही दी है बल्कि इसका प्रभाव हिन्दी समीक्षा के दिशा निर्देश पर भी पड़ा है।

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी दूसरे आलोचक हैं, जिनकी मूल्यगत उपलब्धियां काफी महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय है। उन्होने आलोचना मे बहुत कुछ नया जोड़ा है उसे नई दृष्टि दी हैं। स्वतंत्र भारत मे 'नाथ सम्प्रदाय', 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' और 'हिन्दी साहित्य' के अतिरिक्त उसके कई निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुए हैं। पहले दो ग्रथो मे मुख्यत उनकी शोध गरिमा और पाडित्य की झाकी मिलती है। तीसरा ग्रथ एक प्रकार का इतिहास—साहित्य का इतिहास—है, जो इतिहास का नया दृष्टिकोण तो प्रस्तुत करता है पर उसका आलोचनात्मक अंश उतना प्रशस्त नही बन पाया है। उनकी आलोचनात्मक दिशा के निर्देशक उनके निबन्ध ही हैं।

द्विवेदी जी के व्यक्तित्व मे कुछ विचित्र विरोधाभास मिलता है। पांडित्य और सरलता, सास्कृतिक नरतत्व और युगीन चेतना, गभीरता और उन्मुक्तता आदि का एक ही बिन्दु पर मिलना उनके व्यक्तित्व को एक हद तक दुर्बोध बना देता है। इस दुर्बोधता को न समझने का परिणाम है कि कुछ लोगो ने उनके गहन

पाडित्य को देखकर उन्हे एक ओर मक्डानल्ड और विटरनित्स कहा तो दूसरी ओर आलोचना के क्षेत्र से खारिज कर दिया। उनका कहना है कि द्विवेदी जी ने आधुनिक साहित्य पर नही लिखा है। इसलिए वे आलोचक की कोटि मे नही आते। पर जिस पाश्चात्य विद्वान् के आधार पर उक्त दृष्टिकोण बनाया गया है उसने यह भी कहा है कि आधुनिक या समसामयिक साहित्य के सम्बन्ध मे न लिखने पर भी यदि लेखक मे (आलोचक मे) युगीन चेतना का सम्यक विकास हुआ है तो उसे भी आलोचक मानना ही होगा। द्विवेदी जी मक्डानल्ड होने के नाते हिन्दी साहित्य मे प्रतिष्ठित नही हुए हैं, उनके महत्त्व के मूल मे उनका आधुनिक दृष्टिकोण है। उनकी उपलब्धियो का आकलन करने के लिए उनके इस दृष्टिकोण का विवेचन अत्यन्त आवश्यक है।

नवीन मानवतावाद आधुनिक युगीन चेतना की उपज है जिसका प्रादुर्भाव छायावादी कविता के साथ साथ होता है। द्विवेदी जी का मानवतावाद रवीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है पर वह उसकी प्रतिकृति नही है। रूमानियत से सपृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है। दूसरे शब्दो मे वह अपेक्षाकृत यथार्थ के अधिक निकट है, यद्यपि उसे यथार्थवादी नही कहा जा सकता। यह अतर बगाल और उत्तरप्रदेश की भूमि का भी हो सकता है। यह मानवतावाद मध्यकालीन मानवता से भिन्न है। इन दोनो मे बुनियादी अतर आ गया है। जहा पहला धर्म और ईश्वर पर आधृत था वहा दूसरा मनुष्य की ऐहिक दृष्टि और मूल्य मर्यादा बोध पर स्थित है। जो मानवतावाद धर्म और ईश्वर को लेकर चला वह मनुष्य की सीमाओ का विश्वासी था और एक सीमा तक मानवीयता को सकुचित भी कर देता था। उसके मतानुसार मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियो का उन्नयन ईश्वर की कृपा तथा धार्मिक नियमन पर निर्भर था। प्रसिद्ध विचारक ह्यूल्मे की विचार धारा ऐसी ही थी।

द्विवेदी जी का मानवतावाद जैसा पहले ही कहा जा चुका है नवीन मानवतावाद है जो मनुष्य की अशेष सभावनाओ के प्रति आस्थावान है। मनुष्य की श्रेष्ठता उसकी विजय यात्रा मे निहित उनकी अटूट निष्ठा मे है। 'रवीन्द्रनाथ की आशाभूमि' निबन्ध मे वे लिखते हैं—' वे मनुष्य की एकता मे विश्वास रखते थे। वही जीतेगा जिसमे प्राण की उच्छल धारा का वेग होगा। जो सड़े विचारो और सूखे आचारो से लिपटे हैं वे कितने भी शक्तिशाली क्यो न हो, अपने ऊपर उन्होने स्वेच्छा से मृत्यु की खाल डाल ली है। मनुष्यता आगे बढ़ेगी, उसे रोकने का प्रयत्न

व्यर्थ होगा—" इस जीवन दर्शन को द्विवेदी जी ने अपने ढंग से आत्मसात् किया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि वे मानव की पशुता के प्रति सचेत नहीं है। उनका विश्वास है कि इस पशुता का उन्मूलन धर्म अथवा ईश्वर नहीं स्वयं मनुष्य करेगा। ऐसा करने के लिए उसे तूफानों से गुजरना होगा संघर्षों से जूझना होगा। महाभारत के पात्रों के सम्बन्ध में उनका वक्तव्य है—"महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का विशाल वन है। इस ग्रंथ में ऐसे पात्र बहुत कम हैं—नहीं है कहना अधिक ठीक है—जो महलों में पलकर चमके हैं। सब के सब एक तूफान के भीतर से गुजरे हैं, महाभारत और रामायण दोनों में ही वीरत्व का आदर्श मनुष्यता का उन्नायक है, छीना झपटी की बहादुरी का प्रतिषेधक है।—दोनों का प्रधान स्वर है अनीति का दमन, नीति का उन्नयन, पशुता का विरोध और मनुष्यता का प्रवर्धन।"

इस मनुष्यता या मानवीयता के चित्रण के लिए उच्चकोटि के साहित्य में प्रयोजनातीत सत्य की अभिव्यक्ति होनी चाहिए। यह 'प्रयोजनातीत' शब्द व्याख्या की माग करता है क्योंकि यह उनका जीवन-दर्शन है और इसीका प्रतिफलन वे साहित्य में भी देखना चाहते हैं। जीवशास्त्रीय लालसा की पूर्ति प्रयोजन है। इससे अतीत होना मनुष्य का ऐश्वर्य है। प्रयोजनातीत पदार्थ का नाम प्रेम है, भक्ति है—मनुष्यता है। इसीको साहित्य का मर्म कहते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य का मर्म वही समझ सकता है जो साधना और तपस्या का मूल्य समझे। मनुष्यत्व धर्मी जीवन पशु सुलभ धरातल से ऊपर उठ जाता है।

साहित्य में व्यक्ति और समष्टि का विचार करते हुए भी वे उपर्युक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचते हैं— 'जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव करावे, वही उपादेय है। उसके भावपक्ष के लिए किसी देश विशेष या काल विशेष की नैतिक आचार परंपरा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है। हमें दृढ़ता से केवल एक बात पर अटल रहना चाहिए और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक या उपन्यास साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है वह हमें पशु सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाकर समस्त जगत् के सुख-दुःख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं। हम उस एक की अनुभूति में सहायता पहुँचा रहा है या नहीं, जिस व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान से उसे उपलब्धि-योग्य बनाया है। जो भी साहित्य हमें बाहर

पड़े—अर्थात् हमारी पशु सामान्य वृत्तियों को बड़ी करके दिखावे—हमें स्वार्थी और खण्ड विच्छिन्न बनावे, हम साहित्य नहीं कह सकते—चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो।"

द्विवेदी जी का मानवतावाद आदर्शवादी मानवतावाद है। किसी कदर इसे रोमैंटिक मानवतावाद की संज्ञा भी दी जा सकती है। इसके विश्लेषण में कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब हम किसी खास श्रेणी में उसे स्थापित नहीं कर पाते। पीछे भी इसका संकेत किया जा चुका है कि न तो वह शुद्ध रोमैंटिक है, और न यथार्थवादी। अपने रोमैंटिक आदर्शों के कारण न तो वे यथार्थवादी हैं और यथार्थ वादी मानवीय मूल्यों के कारण न कोरे रोमैंटिक हैं। रोमैंटिक दृष्टिकोण ऐहिकता परक होते हुए भी उसका अतिक्रमण कर जाता है। वे वैज्ञानिक मानवतावाद की श्रेणी में नहीं गिने जा सकते, क्योंकि कोरी भौतिक प्रगति और सामाजिक सुख सुविधा तक ही वे अपने को सीमित नहीं कर पाते।

उनकी रोमैंटिक दृष्टि रवि बाबू से मिली है, छायावादी युग से प्राप्त हुई है और उनका सामाजिक दृष्टिकोण उत्तर प्रदेश की मिट्टी, प्रेमचन्द, शुक्ल जी की भूमि में, जो उनकी भी जन्मभूमि है, उगा और पनपा है। साहित्य से गहरा सम्पर्क होने के कारण उच्चतर आदर्शों की परम्परा उन्हें अनायास ही मिल गई है। साधना, त्याग, तपश्चर्या आदि मध्ययुगीन भक्तों की देन है। साहित्य और संस्कृति की परम्परा किसी को विरासत में नहीं मिलती उसे परिश्रमपूर्वक अर्जित करना पड़ता है। द्विवेदी जी ने भी उसे अत्यधिक श्रम से अर्जित किया है। पर इस परम्परा को, अपने आधुनिक दृष्टिकोण के कारण उन्होंने नए ढंग से परखा है। परम्परा और मानवतावादी दृष्टिकोण वे बिन्दु हैं जिनको मिला देने से उनकी व्यापक समीक्षा की आधार रेखा निर्मित होती है।

विगत डेढ़ दशक में द्विवेदी जी ने जो कुछ लिखा है उसे उपयुक्त आधार पर ही विवेचित किया जा सकता है। जिस अविच्छिन्न परम्परा का शिलान्यास 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में हुआ है उसी पर 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' तथा 'नाथ सम्प्रदाय' का भवन भी खड़ा है। किन्तु ये ग्रन्थ उतने समीक्षात्मक नहीं हैं जितने शोधपरक हैं। फिर भी 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' द्वारा पुराने ग्रन्थों को नए ढंग से देखा गया है। रासो के सम्बन्ध में द्विवेदी जी ने जिस ढंग से सोचा है उससे उसके पठन पाठन की परिपाटी बदल गई है। उसे एक सीमित दायरे से निकाल कर उन्होंने व्यापक विचार भूमि पर प्रतिष्ठित किया है।

'कबीर' मे उनके मानवतावाद के अनेक पोषक तत्त्व मिलते है। कबीरदास मे रूढ़िया, साम्प्रदायिक भावनाओ और निरर्थक वाह्याचारो पर आक्रमण की जो प्रवृत्ति मिलती है वह उनके मानवतावाद के अनुरूप है। सतो और भक्तो ने जाति प्रथा पर जो जोरदार आक्रमण किया है उसे भी द्विवेदी जी ने अच्छी तरह उभारा है। यही पर शुक्ल जी और द्विवेदी जी के दृष्टिकोण और जीवन दर्शन मे गहरा मतभेद हो जाता है। रामानन्द के प्रसग म यह और भी स्पष्ट हो उठा है—

"भक्तिमार्ग मे इनकी उदारता का अभिप्राय यह कदापि नही है जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते हैं—कि रामानन्द वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे। समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न भिन्न कर्तव्यो की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र मे उन्होने सबका समान अधिकार स्वीकार किया।"

"यह अनुमान असगत नही कहा जा सकता कि रामानुज के मत मे भक्ति ही बडी चीज थी, तत्त्ववाद नही। उनके कितने ही शिष्य उनकी भाति वर्णाश्रम-व्यवस्था नही मानते।"

"उन्होने अपने शिष्यो पर आचार धर्म लादा नही। प्रत्येक को अपने स्वभाव, रुचि और संस्कार के अनुसार भक्ति की साधना की छूट दी। यह महागुरु ही कर सकता है। शिष्य को अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का पूर्ण अवसर आकाश धर्मा गुरु ही दे सकता है।"

—'हिन्दी साहित्य'

रामानन्द वर्णाश्रम धर्म मानते थे कि नही, इसका कोई सुनिश्चित प्रमाण नही है। अब तो रामानन्द की एतिहासिकता के बारे मे भी सन्देह उठने लगे है। केवल अनुमान (हाईपोथियिसिस) के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है। किन्तु शुक्ल जी और द्विवेदीजी के अनुमान एक दूसरे के विपरीत हैं। यह उनके दृष्टिकोण का अन्तर है। वर्णाश्रम व्यवस्था से प्रतिबधित होने के कारण एक का दृष्टिकोण कतिपय प्रसगो मे अपेक्षाकृत सकुचित है तो दूसरे का उन्मुक्त, व्यापक तथा युगीन है।

सूर, तुलसी आदि का मूल्याकन भी उन्होने मानवतावादी दृष्टिकोण से किया है। सूर की श्रेष्ठता 'निखिलानन्द सदोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकात आत्म-समर्पण' मे है। तुलसी की भक्ति विनीत मनोभाव उत्पन्न करती है, उनके चरित्र मनुष्य मनुष्य के बीच सदभावना और परदु खकातरता की सदवृत्तिया जगाते हैं। प्रेमचन्द का आकलन भी उनके मानवतावादी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है और

यही उनकी श्रेष्ठता का मेरुदड है। उनके आलोचनात्मक विश्लेषण मे 'आत्म-समर्पण विनीत मनोभाव, 'त्याग', 'साधना', 'तपश्चर्या', 'सयम', शब्द' बार-बार प्रयुक्त हुए हैं और इसीको वे *प्रयोजनातीत भी* कहते है।

पर क्या द्विवेदी जी के समीक्षा सिद्धान्तो को आलोचना का—साहित्यिक आलोचना का—सुनिर्दिष्ट मानदड स्वीकारा जा सकता है? द्विवेदी जी ने मनुष्यता को साहित्य और रस का पर्याय मान लिया है। इससे एक बडी बाधा यह उत्पन्न होती है कि साहित्य और असाहित्य के बीच कोई विभाजक रेखा नही खीची जा सकती। साहित्य पहले साहित्य है, इसके बाद वह कुछ और है। यद्यपि यह 'कुछ और' उसके औदात्य अनौदात्य के लिए बहुत कुछ दायी है फिर भी 'कुछ और' की उदात्तता ही किसी कृति को साहित्य बना पाने मे असमर्थ है। इस 'कुछ और' को कुछ देर के लिए 'मानवतावाद' का नाम दे देने मे कोई हर्ज नही है। लेकिन इसके अभाव मे भी कोई कृति साहित्यिक कही जा सकती है उससे रसानुभूति हो सकती है। किंतु साहित्यिक गुणो के अभाव मे कोई रचना श्रेष्ठ हो सकेगी, इसमे पूरा सदेह है।

वस्तुत उनका ठीक मूल्याकन व्यावहारिक समीक्षा के आधार पर किया ही नही जाना चाहिए। वे विचारो के समीक्षक (क्रिटिक ऑफ आइडियाज) है। उनका महत्व साहित्य के मूल्यो के बदलने तथा उन्ह नवीन मानवतावादी मान्यताओ से जोडने मे है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल का पुनर्मूल्याकन करना, कबीर के विवेचन मे परपराभुक्त काव्य सबधी स्थिर मान्यताओ पर प्रश्नचिह्न लगाना, भक्ति-काल के नरतत्व का विश्लेषण, बिहारी की रीतिबद्धता या रीतिसिद्धता को अस्वीकृत करना आदि उनकी वे उपलब्धियाँ हैं जो उन्ह उन समीक्षको की कोटि मे रखती हैं जो *समय समय पर युगानुरूप नए मूल्याकन पर जोर देते हैं।*

डॉ॰ नगेन्द्र ने हिंदी आलोचना को दो दृष्टियो से सवर्द्धित किया है—व्यावहारिक आलोचना की दृष्टि से तथा सैद्धातिक आलोचना की दृष्टि से। उनकी अधिकाश पुस्तकें स्वतत्र भारत मे ही प्रकाशित हुई हैं और इस बीच उनकी मान्यताओ म परिपक्वता भी आई है। उनकी स्वच्छन्दता एव आलोचनाओ के आधार पर उन्ह *फ्रायडवादी आलोचक कहा गया है और कुछ लोग आज भी उसी भ्रांति* के शिकार बने हुए हैं। वे रसवादी आलोचक हैं अथ से इति तक। इनका रसवाद आनन्दवाद का पर्याय है जो अन्य आलोचको से इन्ह अलग कर देता है। यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डॉ॰ नगेन्द्र की आलोचनाओ मे वत्त बनाए जायें तो

वाजपयी जी की स्थिति मध्यवर्ती ठहरती है। उनकी वत्त परिधि एक ओर द्विवेदी जी की परिधि का स्पश करती है तो दूसरी ओर नगे द्र जी की परिधि का। द्विवेदी जी और नगेन्द्र जी की परिधियाँ एक दूसरे से अछूती रह जाती हैं। द्विवेदी जी के मानवतावादी समीक्षा सिद्धा तो मे साहित्येतर तत्त्वो की बहुलता है। वाजपयी जी साहित्यिक मूल्यो पर बल देत हुए भी यथास्थान साहित्येतर मूल्यो का उपयोग करत हैं। किन्तु नगेन्द्र जी एकातत साहित्यिक समीक्षा सिद्धान्तो के पक्षपाती हैं। साहित्येतर मूल्यो से उनका सबध प्राय नही है।

सवप्रथम नगेन्द्र जी छायावादी आलोचक के रूप मे प्रतिष्ठित हुए। प्रीति और विस्मय से समन्वित छायावादी काव्य की अ तमुखी साधना, सौदय चेतना और कलात्मक छवियो से वे विशेष आकृष्ट हुए। उसकी अतमुखी साधना के विश्लेषणाथ उन्होने फ्रायडीय मनोविज्ञान के अ तश्चेतन तत्त्व का आधार ग्रहण किया। बाद मे इस मनोविज्ञान से उनके रसवाद को पोषण मिला। 'सुमित्रान दन पत' के एक वष बाद ही 'साकेत एक अध्ययन' का प्रकाशन उनकी शास्त्रीय रुचि का ही परिचायक है। कहने का तात्पय यह है कि काव्यशास्त्र के अध्ययन की ओर वे पहले ही से स्वतन्त्रता पूवकाल म ही, उन्मुख हो चुके थे। 'रीतिकाव्य की भूमिका तथा 'देव और उनकी कविता' के अध्ययन तथा लेखन के सिलसिले मे उनकी रस वादी दृष्टि पूणत पुष्ट हो गई। वस्तुत रीतिकाव्य ने उनके आलोचनात्मक दृष्टि-कोण के निर्माण में विशेष योग दिया है। इसे उनकी आलोचना का मोड भी कहा जा सकता है।

रीतिकाव्य के सम्ब ध मे वे कहते हैं—"हिन्दी साहित्य के इतिहास मे रीति-काव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धातिक दष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी मे अवतरित करते हुए विवेचन एव प्रयोग दोनो क द्वारा रसवाद की पूण प्रतिष्ठा कर और उधर सजना के क्षेत्र मे कविता के कलापक्ष की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक परम्परा का अपूव विकास कर ब्रजभाषा क कला प्रसाधन के सम्यक परिष्कार प्रसाधन द्वारा रीतिकवियो ने हिन्दी की समृद्धि म महत्त्वपूण योगदान किया है।" इस उद्धरण मे दो निष्कष निकलते हैं। एक यह कि इसके द्वारा रसवाद की पूण प्रतिष्ठा हुई और दूसरा यह कि इससे कविता क कलारूप को सिद्धि मिली। वस्तुत नगेन्द्र जी के आलोचना सिद्धात के य ही मूल-भूत तत्त्व हैं। इसी सिलसिले मे व काव्य की दो स्थितियां—आनन्द की सिद्धावस्था और साधनावस्था—का उल्लेख करत हुए दानो के लिए अलग अलग माना

क्या होगी ? मनोरंजन की दृष्टि से इसका महत्त्व निर्विवाद है। किन्तु इसके साथ यह प्रश्न लगा हुआ है कि मनोरञ्जन की दृष्टि से 'रमणीयार्थ प्रतिपादक' काव्य किस दर्जे का होगा। उद्धरण का अंतिम अंश भी कम विवाद्य नहीं है। काव्य कला का स्वतन्त्र क्षेत्र तो है लेकिन उसे जीवन से भी स्वतन्त्र मान लेना काफी खतरनाक है, क्योंकि इससे 'कला के लिए कला' का समर्थन होने लगता है।

इस संदर्भ में नगेन्द्र जी के 'कविता क्या है' निबंध पर भी विचार कर लेना चाहिए। शुक्ल जी के उसी शीर्षक के निबंध से उसकी तुलना रोचक होने के साथ साथ उनके दृष्टिभेद को भी स्पष्ट करेगी। किंतु स्थानाभाव में यहां पर कतिपय प्रासंगिक विषय ही उल्लेख्य होंगे। नगेन्द्रजी के मतानुसार 'रमणीय भाव उक्तिवैचित्र्य और वर्ण लय संगीत तीनों ही मिलकर कविता का रूप धारण करते हैं।' इनके अतिरिक्त छन्द को भी वे कविता का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। रमणीय का अर्थ है मन को रमाने की शक्ति। यह 'रमणीय अर्थ' कविता का प्राण तत्त्व है जिसे प्रमाता रसानुभूति या आनन्दानुभूति के रूप में ग्रहण करता है। इसकी प्रतिष्ठा के कारण वे रीति काव्य के वैशिष्ट्य का आकलन करते हैं। शुक्ल जी का इसमें मतभेद है। उन्होंने 'कविता क्या है' निबंध में कहा है "कविता की इसी रमाने वाली शक्ति को देखकर पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयता का पल्ला पकड़ा और उसे काव्य का साध्य स्थिर किया तथा योरोपीय समीक्षकों ने 'आनंद' को काव्य का चरम लक्ष्य ठहराया। मन को अनुरंजित करना उसे सुख या आनन्द पहुंचाना ही यदि कविता का अंतिम लक्ष्य माना जाय तो कविता भी केवल विलास की एक सामग्री हुई।" जीवन के किसी गम्भीर उद्देश्य से रिक्त होने के कारण उन्होंने रीतिकाव्य पर गहरा आक्रमण किया है। शुक्लजी उक्ति वैचित्र्य को काव्य के लिए अनिवार्य नहीं मानते। पर इस सम्बन्ध में नगेन्द्र जी के विचार अधिक संगत प्रतीत होते हैं क्योंकि काव्य में उक्ति का वैचित्र्य अथवा वक्रोक्ति का पाया जाना अनिवार्य है। यहां तक कि चारुतागत वक्रता स्वभावोक्ति में भी पाई जाती है, यद्यपि शुक्लजी ने इसका गहरा विरोध किया है। पर छन्द को कविता का अनिवार्य तत्त्व मान लेने पर छायावाद तथा नई कविता की काफी रचनाओं को काव्य क्षेत्र से खारिज करना होगा।

रस या आनन्द के प्रति नगेन्द्र जी का अत्यधिक आग्रह शंका पैदा करता है कि क्या वे जीवन और जगत को साहित्य से अनिवार्यतः संपृक्त नहीं मानते? जब वे कहते हैं—"मानव अपने अन्तरतम रूप में जो है वही साहित्य का विषय

है—जहा वह न नीतिवादी है और न बुद्धिवादी, वहा वह रागात्मा है और उसीसे साहित्य का सीधा सम्बध है" (नवनिर्माण) "निर्माण का लक्ष्य है कल्याण, सृजन का लक्ष्य है आनन्द। आप इसे दोष मानिए या गुण, मेरी अन्तमुखी प्रवृत्ति आनद से बढकर आत्मकल्याण अथवा लोक कल्याण की कल्पना करने मे असमर्थ है' (मेरा व्यवसाय और साहित्य सृजन) तब उपयुक्त धारणा और भी दृढ हो जाती है।

वस्तुत वे रस म उच्चतर नतिक मूल्यो को अतर्भुक्त मानते है। भारतीय मनीषा ने रसानुभूति को 'सत्वोद्रेकात्' कहकर उसे उदात्त नतिक मूल्यो से अनिवार्यत सबद्ध कर दिया है। शुक्ल जी इसे सदाचार से जोडकर थोडी बहुत स्थूल उपयोगितावाद की भी हिमायत कर देते है। वाजपेयी ने भी इसका विरोध किया था। नगेन्द्रजी के मतानुसार इसकी अखडता मे व्यष्टि समष्टि, सौदर्य उपयोगिता, शाश्वत सापेक्षिक का अन्तर मिट जाता है। दार्शनिक स्तर पर इस अभेद मे मतभेद नहीं है पर व्यावहारिक स्तर पर इनका विवेचन अनिवार्य हो जाता है।

'साहित्य मे आत्माभिव्यक्ति मे वे नैतिक तथा सामाजिक मूल्यो का निषेध नही करते। लेखक भी सामाजिक प्राणी है और सामान्य व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली। इसलिए उसे समाज का दायित्व बोध अधिक होना चाहिए और उसे अपने दायित्व का निर्वाह भी करना उचित है। लेकिन लेखक रूप मे वह इस बन्धन से मुक्त है। पर आगे नगेन्द्रजी कहते हैं कि समाज का तिरस्कार करने मे लेखक की आत्मा की क्षति होगी "परन्तु जब तक वह निश्छन्न आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नही हो सकती।" व अभिव्यक्ति की निश्छलता को साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण मानते है।

शब्द और अर्थ के द्वारा अपने अनुभव को व्यक्त करना आत्माभिव्यक्ति है। 'अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो व्यक्तित्व की सबसे बडी सफलता है।' पर वाणी द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। 'आत्माभिव्यक्ति लेखक का एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है।' सामाजिको के लिए इसका क्या प्रयोजन है? नगेन्द्रजी का उत्तर है— 'सामाजिको को परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है ।' व मानते हैं कि महान् साहित्य महान् व्यक्तित्व के अभाव म नहीं सिरजा जा सकता। इस महानता का

आकलन अखंड मानव चेतना के प्रकाश में करना होगा समसामयिक आवश्यकताओं के आधार पर नही। 'महान साहित्य का सच्चा आलोचक समय ही है।' वाजपेयीजी ने भी एक निबन्ध लिखा है— साहित्य का प्रयोजन—आत्मानुभूति। वे भी काव्यानुभूति को अखंड आत्मिक व्यापार मानते हैं, वे भी उसे नित्य और शाश्वत कहते हैं। वे इसे किसी मतवाद से जोडने के पक्षपाती नहीं हैं। अनुभूति को वे विभावन व्यापार का समकक्ष मानते है जिसे पाश्चात्य आलोचना की शब्दावली में निर्वैयक्तिक कह सकते है। फिर भी वे इसे उच्चतर नैतिक मूल्यों से जोडते हैं। पर नगेन्द्रजी का आग्रह परिष्कृत आनन्द और निश्छल अभिव्यक्ति पर ही अधिक है। फिर भी वे महान् कविता के लिए कवि के व्यक्तित्व का महान होना आवश्यक बतलाते हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने रीतिकाव्य को महान् नही कहा है पर उसे काव्य मानने में उन्हे एतराज नही है क्योंकि उससे आनन्द की उपलब्धि होती है। सियारामशरण का काव्य सयम और त्याग से तप पूत होने पर भी जीवन को सरस नही बना पाता। व्यक्तिवादी कवियों की निश्छल आत्माभिव्यक्तियां काफी प्रभावशाली हैं पर उनके व्यक्तित्व में अपेक्षित महानता नही है इसलिए वे महान् काव्य नहीं हैं। सब मिलाकर उन्होंने काव्य में रस, आनन्द रागात्मकता आदि को ही श्रेयस्कर माना है। वे व्यष्टिवृत्त से समष्टिवृत्त को अधिक उत्कर्षपूर्ण मानते हैं, उदात्त नैतिक मूल्यों से रसानुभूति को प्रभावित भी स्वीकारते हैं। पर इन दृष्टियों से काव्य के मूल्याकन में उनका चित्त रमता नही, 'सुखदा' के नैतिक पक्ष का अविचारित रह जाना इसका स्पष्ट प्रमाण है। प्रसादजी अपने आनन्दवादी मूल्यों के कारण उनको प्रिय हैं और इसी कारण शुक्लजी को नापसन्द।

नगेन्द्रजी की मान्यताओं से बहुतों का काफी मतभेद है। पर उनकी गहन विश्लेषण क्षमता, वैचारिक एकतानता के सम्बन्ध में दो मत नही हो सकते। किसी साहित्यिक समस्या या विचार के विविध आयामों को वे सहज ही पकड लेते हैं और एक-एक का विश्लेषण काफी गहराई तक करते जाते हैं। उनका विश्लेषण-प्रधान मस्तिष्क स्वयं गंभीर प्रश्नियों को उठाता है और उनका सम्यक् समाधान प्रस्तुत करने के लिए विकल हो उठता है। विचारों के मंथन की यह प्रक्रिया उनमें सर्वत्र देखी जा सकती है। सैद्धांतिक निबन्धों में यह और सूक्ष्मतर रूप में प्रकट हुई है। वे वैचारिक गुत्थियों से कतराते नहीं बल्कि तब तक जूझते रहते हैं जब तक उन्हें कोई तर्कसंगत तथा बुद्धिगम्य समाधान नहीं मिल जाता।

उनके विश्लेषण का दूसरा गुण है निश्छल आत्माभिव्यक्ति। अपनी बात को कहने में वे किसी प्रकार का दुराव नहीं करते। अपनी मान्यताओं के प्रति वे पूर्णत: ईमानदार हैं। सस्ती लोकप्रियता के चक्कर में वे कहीं भी अपनी धारणाओं से विमुख नहीं होते। इसलिए उनका विश्लेषण काफी स्पष्ट, पैना और गहरा होता है। गहन विश्लेषण-क्षमता और ईमानदारी आलोचक के विशिष्ट गुण हैं और वे उनमें पर्याप्त मात्रा में पाए जाते हैं। इस दृष्टि से उन्होंने हिंदी-आलोचना को काफी सम्पन्न बनाया है, उसे विकसित और पल्लवित किया है।

प्रभाववादी आलोचना

रचना के प्रभाव को प्रभावात्मक ढंग से अभिव्यक्त करना प्रभाववादी समीक्षा कहलाती है। इस प्रकार की समीक्षा में समीक्षक गृहीत प्रभाव का बौद्धिक विश्लेषण न करके उसकी भावात्मक अथवा काव्यात्मक अभिव्यक्ति करता है। पं० शांतिप्रिय द्विवेदी इसी प्रकार के समीक्षक हैं। वे प्रारंभ में छायावादी काव्य के रोमानी भाव तथा रूप सपदा से विमुग्ध होकर उसका भावात्मक आकलन करते हुए दिखाई पड़ते हैं। कुछ लोग उन्हें रोमांटिक तथा कुछ लोग रचनात्मक समीक्षक कहते हैं। पर उनकी शैली में छायावाद के रेशमी तारों के ताने बाने उन्हें प्रभाववादी समीक्षक ही ठहराते हैं।

उनका व्यक्तित्व छायावादी आदर्शों से ही संघटित है। स्वतंत्र भारत में प्रकाशित उनकी पुस्तक 'ज्योति विहग' से यह स्वत: प्रमाणित है। पं० सुमित्रानन्दन पंत पर लिखा हुआ यह ग्रंथ उन्हें प्रभाववादी ही सिद्ध करता है। इस पुस्तक का शीर्षक बौद्धिक विश्लेषण के विरुद्ध प्रभाववाद ही है। पर इस समीक्षा पद्धति में भी उनकी मौलिक प्रतिभा, सूझ बूझ के दर्शन होते हैं, युगीन परिवर्तनों पर भी उनकी दृष्टि रही है, किंतु वे उन्हें परिवर्तनों के रूप में ही लेते हैं, स्थायी तत्त्व के रूप में नहीं। पूर्व तथा पश्चिम के आलोचनात्मक संस्कारों से लगभग असपृक्त रहकर भी वे अपनी प्रतिभा के बल पर साहित्य का मूल्यांकन करते रहे हैं। प्रभाववादी आलोचक के रूप में उनका ऐतिहासिक महत्त्व अक्षुण्ण रहेगा।

शुक्ल-परंपरा के आलोचक

शुक्ल परंपरा के आलोचकों में जिनकी गणना की जाती है उनमें पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है। ४७ के बाद उनकी

आलोचनात्मक कृति 'हिन्दी साहित्य का अतीत' (२ भागो मे) प्रकाशित हुई है। अतीत के दोनो भागो मे आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक की प्रवृत्तियो, प्रमुख कवियो की उपलब्धियो, भाषागत विशिष्टताओ का सुलझा हुआ आकलन किया गया है।

विश्वनाथ जी को अर्थ दृष्टि लाला भगवानदीन तथा विवेचन दृष्टि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से मिली है। फिर भी उनकी दृष्टि अपनी है। लाला जी की अर्थ परपरा का उन्होने बहुत अच्छा विकास किया है। पाठालोचन के क्षेत्र म उनकी उपलब्धियॉ स्थायी महत्त्व की है। पर शुक्ल जी की आलोचना परपरा को वे विकसित नही कर सके, यद्यपि उनकी सरणि वही है।

वे एक साधक साहित्यकार है, उनकी विद्वत्ता के बारे म दो मत नही है। उनके जसे सफल अध्यापक भी कम नही है। अध्यापन की विशेषताएँ उनके आलोचक की विशेषताएँ हैं। जटिल से जटिल विषय को भी बोधगम्य बना देना उनके लिए सहज साध्य है। किंतु साहित्यिक समस्याओ को नए सदर्भो मे देखना उन्हे बहुत रुचिकार नही है।

साहित्य के सम्बन्ध मे उनका मत शुक्ल जी के मत मे ही है—"काव्य साहित्य साधन अवश्य है पर उसका अपना साध्य भी है। वह साध्य है जगत के साथ मानव के भावात्मक सम्बन्ध की स्थापना, उसका परिचालन, उसकी व्यवस्था।' वे कवि को पलायनवादी नही मानते, उसे वे कमठ व्यक्ति के रूप म ही देखते हैं। अर्थात वे कवि को जीवन और जगत् से अनिवार्यत सबद्ध मानते है। पर अतीत के सम्बन्ध मे उनकी दृष्टि आदशवादी है या उसे भाववादी कहे तो अधिक अच्छा हो। अतीत का अत्यधिक मोह उन्हे यथार्थवादी नही होने देता। अतीत और परपरा के सम्बन्ध मे काफी विचार किया जा चुका है—पूर्व और पश्चिम दोनो मे। मिश्र जी ने अपने इस विवेचन म उसका कोई उपयोग नही किया।

हिन्दी साहित्य का अतीत इतिहास ग्रथ नही है, यद्यपि उसके साथ आदिकाल, भक्तिकाल जसे शब्द रखे गए है। यह शुद्ध आलोचना का ग्रथ भी नही कहा जा सकता, क्योकि बीच-बीच म इतिहास की टूटी कडियॉ मिलाने का प्रयास भी किया गया है। इन दोनो भागो म सगहीत सामग्री का बहुलाश समय समय पर प्रकाशित भी हो चुका है—शोध निबन्धो के रूप मे। इसलिए इसे कोई सुनिश्चित रूप नही प्राप्त हो सका है। फिर भी इन निबन्धो के आधार पर भी उनकी

आलोचना प्रणाली पर विचार किया जा सकता है।

यद्यपि मिश्रजी रीतिकाल के विशेषज्ञ माने जाते हैं पर उनका मन 'तुलसीदास' में ही अधिक रमा है। तुलसी पर कदाचित सबसे अधिक पृष्ठ दिये गए हैं। तुलसी के अन्याय पक्षों का उद्घाटन करते हुए उनके लोकपक्ष को उन्होंने यथेष्ट महत्त्व दिया है। जहाँ पर अर्थपरक कोई बात कहनी हुई है, प्रसंग चाहे जायसी का हो या सूर का, वहाँ उनका सरस पांडित्य अपना प्रकृत रूप पा गया है। यहाँ वे शुक्ल जी से अलग हो जाते हैं। मिश्र जी में आलोचना के विचार सूत्रों को स्थान स्थान पर देखा जा सकता है, पर उन पर जमकर कहीं विचार नहीं किया गया है।

मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवादी आलोचना का प्रादुर्भाव स्वतन्त्रता पूर्व भारत में ही हो चुका था। 'हंस' के संपादक के रूप में शिवदानसिंह चौहान ने इसके सैद्धांतिक पक्ष के सम्बन्ध में काफी लिखा। इस पद्धति को प्रतिष्ठित करने का बहुत कुछ श्रेय उन्हें ही देना होगा। बुनियादी तौर पर चौहान जी के विचार मार्क्सवादी हैं, पर उनमें कम्युनिस्टपार्टी की कट्टरता नहीं है। स्वतन्त्र भारत में उन्होंने 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' तथा कुछ निबन्ध संग्रह प्रकाशित कराए हैं। 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' में, जैसा इसके नाम से ही प्रकट है, हिन्दी साहित्य को अस्सी वर्ष का ही माना गया है। इससे उनकी सूझ बूझ का चामत्कारिक परिचय मिलता है। लेकिन केंद्रीय भाषा की व्याप्ति तथा इतिहास के दृष्टिकोण से विचार करने पर उनकी धारणाएँ एकांगी और भ्रांत सिद्ध होती हैं। प्रकाशचन्द्र गुप्त का इस आलोचना पद्धति के सहधर्मियों में गिनना चाहिए।

वस्तुतः इस पद्धति को अपनी आलोचना का मूलाधार बनाने वालों में रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। उन्होंने मार्क्सवाद को समझने समझाने का पूरा प्रयास किया है। इससे उनकी दृष्टि में एक तरह की निर्मलता आ गई है। उन्हें अपने मत के प्रकाशन में कोई झिझक नहीं होती। वे बहुत ही खरे, दो टूक कहने वाले, निर्भीक आलोचक हैं। वे अपने विपक्षियों पर गहरा आक्रमण करने में नहीं चूकते, कभी-कभी तो कटूक्तियों पर उतर आते हैं। इनसे छुट्टी पाकर वे साहित्य सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार भी करते हैं।

वे एक निबन्ध म लिखते 'हैं मनुष्य सामाजिक परिस्थितियो और ऐतिहासिक विकास की सीमाओ को लाघ नही सकता। वह स्थायी साहित्य तभी दे सकता है जब वह अस्थायी लगन वाली परिस्थितियो का चित्रण करे। वगभेद के आधार पर चलने वाले समाज मे उसे प्रतिक्रियावादी और क्रातिकारी वर्गो को पहचानना होगा। पार्टीजन साहित्यकार बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढिया के लिए मूल्यवान हो। (भाषा साहित्य और संस्कृति)।

उक्त वक्तव्य म शर्मा जी की सीमाएँ उल्लिखित है जिनको वे लाघ नही सकते, क्योकि मार्क्सवादी आलोचक के लिए वग भेद के आधार पर साहित्य का मूल्याकन करना होता है। पार्टीजन होने के अतिरिक्त उसे और कोई चारा नही है। इस प्रकार का निर्भ्रात निणय वही दे सकता है जो किसी धारा विशेष का अनुगत हो। पर इस प्रकार भ्रात निणय भी वही द सकता है जो पार्टीजन हो। पार्टीजन की लक्ष्मण रेखा के बाहर भी ऐसे साहित्य का निर्माण हो रहा है जो भावी पीढिया के लिए मूल्यवान होगा। पार्टीजन साहित्यकारा म ऐसे अनक लोग हैं जिनका साहित्य न तो इस पीढी के लिए मूल्यवान है और न अगली पीढी क लिए।

पार्टीजन साहित्यकार मूल्याकन करते समय एक ओर साहित्य को इतिहास और दर्शाचार के जीवत सदर्भो म देखता है तो दूसरी ओर पार्टीजन प्रोपेगडा भी करता है। जहा उनका पार्टीजन विरोधियो के (विरोधी चाहे उनके कप क) विपरीत खडगहस्त होता है वहा वह मार्क्स, एजिल्स, लेनिन आदि का हवाला देते हुए उन्ह परास्त करने मे इतना सलग्न हो जाता है कि साहित्यिक विवेचन का पल्ला ही छूट जाता है। जहा केवल विरोधियो को चित करने पर ही ध्यान नही रहता वहा वे महत्वपूण साहित्यिक समस्याओ से उलभने के साथ साथ अनेक भ्रात धारणाओ का निराकरण भी करते चलते हैं। इस दृष्टि से 'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्याकन एक महत्वपूण निबन्ध है। इस निबध मे उन्होने 'म द यशप्रार्थी कामरड समीक्षको की कमजोरियो का अत्यत रोचक किंतु विद्वत्तापूण ढग से पर्दाफाश किया है। इस निबन्ध मे मार्क्सवादी आलोचना प्रणाली को स्वस्थ मनोभूमि पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा भी की गई है। इसकी मूल 'स्पिरिट' पार्टीजन ही है फिर भी इसम साहित्य के कई अहम प्रश्न भी उठे हैं।

अपने उक्त निबन्ध म शर्मा जी ने मार्क्सवादी आलोचको पर यह कहते हुए

आरोप लगाया है कि उन्होंने मनोनुकूल सूक्तियाँ ढूँढकर तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी, ब्राह्मणवादी और जाने क्या क्या कहा है। लेकिन शर्मा जी अपने मत के पुष्टयर्थ स्वयं वही पद्धति अपनाते हैं। तुलसीदास में प्रगति तथा प्रतिक्रिया के दोनों तत्त्व मिलते हैं पर शर्मा जी उनमें प्रगतिशील सामाजिक तत्त्वों को खोजकर शेष नजर-अन्दाज कर देते हैं। 'भारतेंदु युग' में यही किया गया है। वहाँ साहित्यिक मूल्यांकन के चक्कर में वे नहीं फँसे हैं क्योंकि यह उस युग का कमजोर पक्ष था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र में भी सूक्ति संकलन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भारतेंदु को रीति-कवियों से अलग करने की चिंता में अर्थ को भी अनर्थ कर दिया गया है अर्थात् अर्थ का अनर्थ कर दिया गया है। बिहारी के 'मिलि परछाहीं जोन्ह सों'—'भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने जो कुंडलिया रची है उस पर शर्मा जी ने एक मजेदार टिप्पणी जड़ी है "बिहारी ने 'मिलि परछाहीं जोन्ह सों' आदि दोहे में कृष्ण और *राधा को चाँदनी और छाया में मिलाकर छोड़ दिया था, लेकिन भारतेन्दु ने* गली में चाँदनी का वास्तविक प्रकाश करके राधा को जोन्ह में और कृष्ण को छाया में मिल जाने दिया है। इससे उनके वर्णन में एक रोमांटिक चित्रमयता उत्पन्न हो गई है।" यदि यही बात बिहारी में मिले तो उनमें रोमांटिक चित्रमयता मिलेगी या नहीं, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। पार्टीजन साहित्यकार कहेगा—नहीं। उसका विश्वास है कि उस परिवेश में उस प्रकार के मुक्तक रचनाकारों में रोमांटिक प्रवृत्ति नहीं है। लेकिन भारतेन्दु में मिलनी ही चाहिए। किंतु शर्मा जी ने जिस रोमांटिक चित्रमयता को भारतेन्दु की देन माना हूबहू तो सौ नए पैसे बिहारी की है। एक खास दृष्टिकोण के लादने के फलस्वरूप मूल्यांकन गलत हो जाता है।

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' को शर्मा जी की आलोचना-पद्धति का केन्द्रबिन्दु मानना चाहिए। इसमें उन्होंने प्रारंभ में ही एक अत्यंत महत्त्व की बात उठाई है। उनका कहना है कि चाहे हिन्दी साहित्य का इतिहास लेखन हो चाहे साहित्यिक आलोचना, दोनों को शुक्ल जी की विरासत का आधार ग्रहण करना होगा। दिल्ली से प्रकाशित होने वाली 'आलोचना' में शुक्ल जी को पहचानने का जो अथ प्रयास हुआ है वह स्यानवादियों की हाथी वाली कहानी को याद दिलाता है। इसलिए शर्मा जी ने शुक्ल जी की विरासत का विश्लेषित करना आवश्यक समझा।

शुक्लजी के दृष्टिकोण को अच्छी तरह स्पष्ट करने में शर्मा जी ने काफी श्रम किया है, उनकी अपनी पैनी दृष्टि ने इसमें अपरिमित योग देकर उसे और भी

सुसगत और तकपूण बना दिया है। उनकी मूल स्थापना को उन्हीके शब्दा मे उद्धत किया जा रहा है—"लोक हृदय मे लीन होने की कसौटी रखकर उन्होने हर तरह की सकुचित व्यक्तिवादी और भाववादी धारणाओ से साहित्य को मुक्त करके उस सामाजिक जीवन का अग बना दिया है। इसलिए लोक हृदय, लोक मगल या लोक हित को दर किनार करके साहित्यकार आग नही बढ सकता। वह किसी भी तरह के भाव प्रकट करके, किसी भी तरह रस निष्पत्ति करके अपना पीछा नही छुडा सकता।" यह शर्मा जी का अपना दृष्टिकोण भी है। फक है तो यह कि शुक्ल जी पार्टीजन नही हैं और शर्मा जी पार्टीजन है।

यह सच है कि शुक्ल जी के उस व्यापक दृष्टिकोण की विरासत लेकर ही आलोचना को स्वस्थ भूमि पर विकसित किया जा सकता है। शुक्ल जी की मान्यताओ को स्पष्ट करने के लिए शर्मा जी ने उनकी लोक दृष्टि, प्रत्यक्षानुभूति काव्यानुभूति, व्यक्तिवाद का विरोध, वस्तुवादी दृष्टिकोण आदि का सोदाहरण विवेचन किया है। बीच बीच मे उन्होने शुक्ल जी के अन्तर्विरोध को भी समझने का प्रयत्न किया है।

शुक्ल जी के विवेचन म जहाँ वर्गवादी मान्यताएँ नही उभर पाई हैं वहा का विश्लेषण काफी स्वच्छ और विश्वसनीय है। उसे साहित्यिक आलोचना मानने से इन्कार नही किया जा सकता। पर जब वे सूरदास के प्रसग में जुलाहा किसाना की मुक्ति की आकाक्षा से सूरदास के पदा का सबध जोडने लगते है तो आलोचना का ढाचा ही विकृत हो जाता है। इससे न तो सूरदास का आर्थिक आधार ही स्पष्ट हो पाता है और न ठीक से उनके मूल्याकन मे ही सहायता मिलती है। रीतिकाव्य के सबध म शुक्ल जी ने उसकी जिस असामाजिकता का उल्लेख किया है उसे शर्मा जी ने खूब उभारा है। लेकिन रीतिकाव्य के साहित्यिक मूल्याकन को वे बचा गए हैं। छायावाद के सबध मे शर्मा जी ने शुक्ल जी की सीमाओ का उल्लेख नही किया है। शुक्ल जी ने छायावाद के प्रगतिशील तत्वा को उचित मात्रा म नही स्वीकार किया। वे अधिकतर उसके निषेधात्मक पक्षो का ही खडन करते रहे। इस तरह शुक्ल जी का एक ही पक्ष उभर पाया है। शर्मा जी ने उन्हे समग्रता म नही देखा है पार्टीजन आलोचन के लिए यह आवश्यक भी नही है।

शर्मा जी की कुछ बुनियादी कमजोरियाँ और विशेषताएँ ह। वे वस्तुत विचारा (आइडियाज) के आलोचक है। इस तरह के आलोचक विचारा की

जितनी छानबीन कर पाते हैं उतनी साहित्यिक सौंदर्य की नहीं। शर्मा जी की प्रथम पुस्तक में विचारों का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अच्छा विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। पर ऐसा करने में उनका विवेचन जगह-जगह इतना 'पोलिमिकल' हो गया है कि वह साहित्यिक विश्लेषण को पूरी तरह आच्छादित कर लेता है। यह 'पालिमिक्स' आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में भी है और डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी में भी। शुक्ल जी का 'पालिमिक्स' संदर्भ से कट नहीं पाता, द्विवेदी जी का 'पालिमिक्स' परंपरा की अविच्छिन्नता में खप जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उनके 'पालिमिक्स' की प्रासंगिकता (रलिवेंसी) सांस्कृतिक है तो शर्मा जी की राजनीतिक।

किंतु शर्मा जी ने अपनी आलोचना में जिस यथार्थ को उभारा है वह उग्र रूप में तो नहीं पर अपने व्यापक रूप में हिन्दी आलोचना का अनिवार्य अंग हो गई है। आलोचनात्मक शैली के संबंध में शर्मा जी की उपलब्धियाँ बेजोड़ हैं। गहन से गहन बौद्धिक विश्लेषण को वे इतनी स्पष्टता और सरलता से पाठकों के सम्मुख रखते हैं कि वे सहज में ही बोधगम्य हो जाते हैं। यह विश्लेषण उनके अर्थारोप (इंटरप्रेटेशन) के कारण ताजा मालूम पड़ने के साथ साथ सर्वत्र अपना आकर्षण बनाए रखता है।

आलोचना का दार्शनिक अनुशासन

डॉ० देवराज की आलोचनात्मक चेतना के निर्माण में राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के बोध का प्रमुख योग है। वे स्वतंत्र राष्ट्र को सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न देखना चाहते हैं। इस संपन्नता में साहित्य को काफी हाथ बटाना पड़ता है। इस दृष्टिकोण के फलस्वरूप वे उन त्रुटियों की खोज में संलग्न हुए जिनको दूर करने पर राष्ट्र अपेक्षाकृत अधिक प्रबुद्ध और समृद्ध हो सकता है। सांस्कृतिक दृष्टि से संपन्न राष्ट्र ही श्रेष्ठ कहलाने का अधिकारी है। उनका विश्वास है और सही विश्वास है कि देश के सांस्कृतिक विकास का उत्तरदायित्व दार्शनिक चिंतकों की अपेक्षा श्रेष्ठ साहित्यकारों पर अधिक होता है। संभवतः इसीलिए वे दर्शन के अध्यापक होते हुए भी साहित्य की सर्जना तथा आलोचना की ओर झुके।

वे हिन्दी वालों की बौद्धिक अप्रौढ़ता से काफी परेशान रहते हैं। संस्कृति और जीवन के प्रति सुविचारित धारणा तो उन्हें किसी आलोचक में मिलती ही नहीं—न वाजपेयी जी में, न नगेन्द्र जी में। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसे प्रौढ़

आलोचक की भी यही कमी है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के प्रति यह शिकायत नही है। फिर भी उनको तो वे आलोचना के क्षेत्र से खारिज कर देते हैं। हिन्दी प्रात के प्रति भी उनकी शिकायत कम नही है। उसका बौद्धिक जागरण अधूरा है। इस भूमि मे रामकृष्ण, विवेकानन्द, अरविन्द नही पैदा हुए। वे गाधी जी को सर्वांगीण जागरण का प्रतीक नही मानते। यही नही हिन्दी साहित्य के समग्र इतिहास मे समृद्ध सर्वांगपूर्ण सस्कृति की चेतना का वे अभाव देखते है। इस पूर्वग्रह और निषेधात्मक दृष्टिकोण को लेकर वे आलोचना के क्षेत्र मे प्रवेश करते है।

हिन्दी साहित्य को उन्होने विश्व साहित्य की समकक्षता मे देखा है, इसलिए उसकी अप्रौढता और भी बढ जाती है। शेक्सपियर जिस समय जिस देश मे पैदा हुआ था उस समय क्या वह बौद्धिक प्रौढता की चरम ऊँचाई पर था? श्रीकृष्ण तो उस समय पैदा हुए जिस समय हमारा नैतिक सास्कृतिक धरातल काफी ह्रासोन्मुखी था। तालस्ताय के जमाने का रूसी बौद्धिक स्तर क्या आज की अपेक्षा श्रेष्ठ कहा जा सकता है? जहा रामकृष्ण, विवेकानन्द पैदा हुए वहा शुक्ल जी की कोटि का आलोचक क्या नही पैदा हुआ? बौद्धिक जागरण और श्रेष्ठ कलाकार की उत्पत्ति का सबध स्थापन इतना सीधा न होकर ज्यादा पचीदा है।

देवराज जी दार्शनिक आलोचक है। दार्शनिक आलोचक सबसे पहले एक सुचिंतित पद्धति की माग करता है। उनकी दृष्टि मे शुक्ल जी ने मूल्याकन के सफल मानो को आविष्कृत नही किया है। देवराज जी ने, उनका स्वय कहना है, अपने विविध निबन्धो के माध्यम से आलोचना का सार्वभौम मान स्थिर करने का प्रयास किया है। उनकी नजरो मे शुक्ल जी सिद्धात पद्धति के निर्माण (सिस्टम बिल्डिंग) मे पटु नही थे। इस प्रकार की माग दार्शनिक आलोचक करता है साहित्यिक आलोचक नही। उसके मान उसकी आलोचना मे ही निहित होते हैं।

दार्शनिक प्रशिक्षण साहित्यिक कृतियो के सूक्ष्म मूल्यानुचिंतन तथा उसकी महत्ता की पकड मे सहायक हो सकता है पर उसमे दिग्भ्रमित तथा केन्द्रच्युत होने के खतरे भी लगे रहते हैं। अपनी दार्शनिक 'डिस्प्लिन' के कारण वह अमूर्त विचारवीथियो का निर्माण करता है, आलोच्य से दूर हटकर वह अप्रामाणिक सामान्यीकरण (जेनरलाइजेशन) मे उलझ जाता है। यह दार्शनिक 'डिस्प्लिन' का दोष है साहित्यिक डिस्प्लिन' उससे भिन्न होता है। देवराज जी दार्शनिक

'डिस्प्लिन' के दोषों से मुक्त नहीं हैं।

देवराज जी स्वभाव और अभ्यास से भी चिंतक हैं। व्यवसाय से तो वे दार्शनिक हैं ही। उनकी पुष्ट दार्शनिक चेतना के प्रति शंकालु नहीं हुआ जा सकता। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर उनके दार्शनिक की अपेक्षा साहित्यिक की चेतना कम विकसित है। एक ओर वे सम्पूर्ण हिंदी साहित्य को सर्वांगपूर्ण सांस्कृतिक चेतना से रिक्त मानते हैं तो दूसरी ओर सूर को निस्संकोच विश्व कवियों के समकक्ष रख देते हैं। *उच्चकोटि की साहित्यिक अनुभूति की वे दो विशेषताएँ मानते हैं*—व्यापकता और गम्भीरता। व्यापकता का अर्थ है जीवन का विस्तृत चित्रपट। पर क्या यह विशेषता सूर में है? क्या यह दार्शनिक 'डिस्प्लिन' की असंगति नहीं है?

वे साहित्यकार के लिए युगचेतना का आकलन तथा परिवर्तित इन्द्रिय-बोध की पकड़ आवश्यक मानते हैं। पर परिवर्तित इन्द्रिय बोध के संबंध में उनकी कुछ अनूठी धारणाएं हैं। चप्पल और जूते के सार्वकालिक एवं सार्वत्रिक प्रचार के युग में उन्हें गालिब की 'जहां तेरा नक्शे कदम देखते हैं'—अथवा 'जहँ-जहँ पद जग धरइ, तहँ-तहँ सरोरुह भरइ' पंक्तियां कम अर्थवती लगती हैं। एक ओर आदिम अनुभूतियों (प्रिमिटिव फीलिंग) *तथा नृतत्त्व विज्ञान की चर्चा करना तथा* दूसरी ओर परिवर्तित परिवेश में आरकेटाइपल इन्द्रिय बोध का लगभग खारिज कर देना कैसे संगत कहा जा सकता है? गालिब और विद्यापति की उपर्युक्त पंक्तियां अपेक्षाकृत बहुत कम परिवर्तमान इन्द्रिय बोध से संबंध रखती हैं। वे आज भी कम अर्थवती नहीं हैं। परिवेश को ऐसा महत्त्व तो समाजशास्त्रीय आलोचक भी नहीं देता। तुलसीदास के काव्य में न तो उन्हें अंग सौंदर्य का चित्रण मिलता है और न शृंगारिकता का निरूपण। उनकी दृष्टि में तुलसी ने राम लक्ष्मण को भी साधु बना डाला है। शुक्ल जी का राम लक्ष्मण का दूसरा ही रूप दिखाई पड़ता है। रामविलास जी को भी उनका लोक मंगलकारी रूप ही दृष्टि गोचर होता है। गोस्वामी जी ने लिखा भी तो है—'जाकी रही भावना जैसी ।' प्रयोगवादी कविता के मूल्यांकन में भी उनका दार्शनिक 'डिस्प्लिन' बाधा डालता है। उसे समग्रता में नहीं देखा गया है। एक नवीन अनास्था से उसका दार्शनिक मेल बैठाकर उसे एक संकीर्ण सीमा में बद्ध कर दिया गया है।

जहाँ वे काव्यशास्त्र में उलझे हैं वहाँ उनकी शास्त्रीय चेतना के प्रति शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। शुक्ल जी ने साधारणीकरण की जिन कमियों का उल्लेख किया

है उनके संबंध में देवराज जी का कहना है कि वे उतनी साधारण नहीं हैं जितनी शुक्ल जी समझते हैं। पर वे उतनी पेचीदी भी नहीं है जितनी देवराज जी समझते हैं। वाजपेयी जी ने एक स्थान पर कहा है कि साधारणीकरण कवि के समस्त काव्य व्यापार का होता है। इसके अनुसार उस जटिल स्थिति (सिचुएशन) का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है जिसका उल्लेख देवराज जी ने किया है। शुक्ल जी के इस कथन पर कि विभाव व्यंग्य नहीं होता वे टिप्पणी करते हैं कि यह सिद्धांत ध्वनि विरोधी है। यह सवाल उठ सकता है कि जब रस ध्वनि और भाव ध्वनि संभव है तो विभाव ध्वनि क्यों नहीं है। उसके द्वारा भी तो चमत्कार की प्रतीति होती है। स्मरण रखना चाहिए कि स्थायीभाव संचारी भाव वाच्य नहीं होते। वाच्य होने पर उनकी आस्वाद्य योग्यता खंडित हो जाती है। विभाव वाच्य हो सकता है। चर्वणा रस भावों की ही होती है और विभाव-अनुभाव चित्त-वृत्ति के रूप में पर्यवसित होकर ही आस्वाद्य होते हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। वे ध्वनि हो नहीं सकते। शुक्ल जी की कल्पना-संबंधी मान्यता पर उनकी टिप्पणी कि 'प्रकृत कल्पना का काम कौतुक या चमत्कार का विधान नहीं है?' अत्यन्त आश्चर्यजनक है क्योंकि यह स्वयं शुक्लजी का ही कहना है। काव्यशास्त्र संबंधी ये टिप्पणियां इस तथ्य की द्योतक हैं कि इस विषय को उन्होंने यथेष्ट गंभीरतापूर्वक नहीं लिया है।

अपनी सीमाओं के बावजूद भी वे उन विचारकों में हैं जिनसे हिन्दी आलोचना लाभान्वित और पुष्ट हुई है। वे आलोचना को रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या कहते हैं। आलोचना की यह परिभाषा सुविचारित और सुचिंतित है।

किन्तु जहां वे किसी खास 'डिसिप्लिन' के चक्कर में नहीं पड़ते वहां उनके विचार स्पष्ट, गंभीर तथा विश्लेषणात्मक हो जाते हैं। 'रसानुभूति' का प्रयोग व्यापक अर्थ में करते हैं—जीवन की अर्थवती मार्मिक कृतियों के अर्थ में। जीवन के मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान' की अपेक्षा देवराज जी की शब्दावली ही आधुनिक नहीं है वरन वह अधिक अर्थगर्भ तथा स्रष्टा की शक्तिमत्ता की भी परि-चायक है। उनकी रसानुभूति में मात्र आनन्दानुभूति ही नहीं है बल्कि वह जीवनानुभूति से भी संपन्न है। आलोचक का कर्तव्य है कि वह देखे कि लेखक युग-जीवन और उसकी शक्तियों की विस्तृति और गहराई में कहां तक आंक पाने में समर्थ है जीवन की समग्रता को संबद्ध रूप में किस हद तक चित्रित करने में सक्षम है। यह तभी संभव है जब आलोचक स्वयं युगीन चेतना से संपन्न हो और साहित्य

मे अभिव्यक्त अनुभूति की प्राणधारा को विश्लेषित करने म समर्थ हो। यह काय तुलनामूलक अध्ययन द्वारा सपादित हो सकता है।

लेखक तथा आलोचक दोनो के लिए वे 'क्लासिक' का परिशीलन आवश्यक समझते हैं, क्योकि उससे उनकी रस सवेदना पुष्ट होती है। 'क्लासिक' के सबध मे उनका विचार है कि वह 'उस चेतना का वहन करता है जिसकी उपयोगिता और सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है।' लेखक की इस विचारणा पर टी० एस० इलियट की परपरा सबधी व्याख्या का प्रभाव ह। या सच पूछिए तो इलियट से वे काफी प्रभावित है—चाहे युगचेतना की व्याख्या हो या क्लासिक के प्रति अत्यधिक आग्रही होने के कारण इलियट को अग्रेजी के रोमैंटिक कवि रुचिकर नही प्रतीत हुए। देवराज जी को भी हिंदी के रोमैंटिक कवि नापसद हैं। कहने का मतलब इतना ही है कि उनके अभिरुचि निर्माण म इलियट की विचार धारा का उल्लेख्य योग है।

मार्क्सवादी समीक्षको की भाति साहित्य म वर्गीय चेतना को ढूढना उन्हे बेहद नापसन्द है। उनका कहना है कि जीवन से सबद्ध साहित्य अपने गहरे अर्थ मे वग विशेष के लिए नही मानव मात्र के लिए होता है। साहित्य की श्रेष्ठता का मुख्य हेतु यही है। समीक्षक साहित्य की रसात्मक सार्थकता से पाठको की चेतना को तीव्र और प्रबुद्ध बनाता है तथा जातीय रुचि का परिष्कार भी करता है। यथार्थ की सूक्ष्म पकड और अभिरुचियो के सक्ष्म विभेद की पहचान उनकी शक्तियाँ हैं। इसके लिए उनके दो निबध 'कल्पना और वास्तविकता तथा 'काव्य की दो कोटिया' देखे जा सकते हैं।

मनोविश्लेषणात्मक आलोचना

हिन्दी मे मनोविश्लेषणात्मक आलोचना आरभ तो हुई पर उसके (हिन्दी के) सौभाग्य मे उसका विकास नही हुआ। स्वतन्त्र भारत मे इलाचन्द्र जोशी की एक पुस्तक के अतिरिक्त डॉ० देवराज उपाध्याय का शोध प्रबध 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' प्रकाशित हुआ है। जोशी जी की पद्धति पूववत् है। डॉ० उपाध्याय ने कुछ प्रारभिक अध्यायो में मनोविज्ञान क्या है स लेकर उसके विभिन्न सप्रदायो तक को मोटे तौर पर समझाया है। इन सिद्धान्तो, ग्रथियो आदि का बाद म कहानियो उपन्यासो पर प्रक्षेपण किया गया है।

पूर्व निश्चित सिद्धान्तो को, चाहे वे मार्क्सवादी हो या मनोविश्लेषणात्मक,

साहित्य म खोज निकालना ऐसा यत्रिक व्यापार है जिससे आलोचना की सवद्धि सभव ही नही है। काव्यशास्त्रीय सिद्धा तो को भी काव्य पर चस्पा करना क्म यत्रगतिक नही है। डा० उपाध्याय ने पाश्चात्य आलोचना म उप यासो के मनो वैज्ञानिक विश्लेषण का हवाला देते हुए प्रकारा तर से अपने प्रयास की सार्थकता बताई है। उ होने इस सिलसिले म जो स द्वारा की गई 'हैमलेट' की मनोवज्ञानिक व्याख्या का सादर उल्लेख किया है। पर तु पाश्चात्य आलोचका ने उसे साहित्यिक आलोचना मानने से इन्कार कर दिया है। ट्रिलिग का तो यहा तक कथन है कि इस पद्धति से हैमलेट' का अथ अव्याख्यायित ही रह जाता है। फ्रायड ने अचेतन मन को प्रत्यक मानवीय क्रिया का मूल प्रेरक माना है। इस ग्रथ म उप यासो म चित्रित अचेतन मन को आकने का प्रयास किया गया है। पर इस अचेतन मन का मुख्य सबध चेतना प्रवाह के उप यासा स है जो हि दी म है ही नही।

सबस पेचीदा प्रश्न औप यासिक चरित्रो को लेकर खडा होता है। देवराज जी ने पात्रो की क्रियाओ म उनकी जटिल मन स्थितिया को ढूढ निकालने की कोशिश की है और उ ह मनोवज्ञानिक सिद्धा तो पर खरा उतार दिया है। यही बुनियादी मतभेद उपस्थित हो जाता है। क्या कथा साहित्य म चित्रित चरित्रो को इस ढग स देखना औचित्यपूर्ण है ? क्या कथागत चरित्र हूबहू व ही हैं जो जीवन म देखे जात ह ? उनका उत्तर नकारात्मक होगा। साहित्यकार जीवन और जगत के पात्रा का पुन सजन करता है। उनका मनोवज्ञानिक अध्ययन लेखक की जीवनी पर कुछ प्रकाश डाल सकता है। उसकी सजनात्मक प्रक्रिया को विश्लेपित कर सकता है, यद्यपि इससे जीवनी और सजनात्मक प्रक्रिया दोनो का विकृत रूप ही सामने आयगा। मनोविज्ञान मानवीय जगत के प्राणी का मनो विश्लेपण करता है उसके अचेतन मन की छानबीन म उलझता है, कलाकार द्वारा सजित पात्र का मनोविश्लेषण उसकी सीमा के बाहर है।

प्रेमच द क उप यासो म मनोवज्ञानिक अर्थान्तिर यास, जने द्र म गस्टाल्ट क सूत्र, अज्ञय म मनोवैज्ञानिक नियतिवाद और शिशु मनोविज्ञान ढूढ निकालना उनके कथा साहित्य के साथ क्स याय कर सकता है ? उप यास कहानियाँ मानवीय मनोविज्ञान के सिद्धा तो के आधार पर नही लिखी जाती। वे तो मानवीय अनुभूतियो का मूलाधार बनाती हैं तो कला क रूप म आकलित हो जान पर उनसे बहुत भि न रूपाकार ग्रहण कर लेती है। इस ग्रथ म भिन भिन मनोवैज्ञानिक सिद्धा तो के उदाहरण तो मिल जायेंगे पर क्या साहित्य के साहित्यिक

जैसा कहीं निर्देशित किया जा चुका है 'रीतिकाव्य की भूमिका' और 'देव तथा उनकी कविता' ने उनके समीक्षात्मक दृष्टिकोण के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। सैद्धान्तिक समीक्षा में अधिकाधिक रुचि लेने का दायित्व भी बहुत कुछ उसी पर है। उक्त ग्रंथ में 'रीतिकाव्य का शास्त्रीय आधार' के अन्तर्गत रस सम्प्रदाय का विस्तृत तथा अलंकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि सम्प्रदाय का संक्षिप्त विश्लेषण किया है। रस के प्रसंग में उन्होंने साधारणीकरण का लम्बा विवेचन किया है उनकी स्थापना है कि साधारणीकरण कवि की अनुभूति का होता है।

डॉ० नगेन्द्र की स्थापना आचार्य शुक्ल के साधारणीकरण-सम्बंधी मत से भिन्न है। शुक्ल जी आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं। पाठक या श्रोता का तादात्म्य आश्रय के भावों से होता है। शुक्ल जी रस की मध्यकोटि भी स्वीकार करते हैं। यह कोटि वहां दिखाई पड़ती है जहाँ आश्रय के अभाव में कवि स्वयं आश्रय बन जाता है। शुक्ल जी की स्थापना का पहला दोष यह है कि उन्होंने रस की एकाधिक कोटियां मानी हैं। दूसरा दोष यह है आलम्बनत्व धर्म में अनुभाव, विभाव आदि का अन्तर्भाव नहीं हो पाता। संस्कृत के आचार्यों ने स्थायी भाव, आश्रय, आलंबन, उद्दीपन, अनुभाव और संचारी सभी का साधारणीकरण माना है। कवि की अनुभूति की व्याप्ति में उनका समवेत रूप में समावेश हो जाता है। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या 'अनुभूति' शब्द इतना व्यापक है? महाकाव्यों, प्रबन्धकाव्यों में तो विचार भी आया करते हैं। क्या विचारों को अनुभूति में अन्तर्भुक्त किया जा सकता है? टी० एस० इलियट ने किसी स्थान पर लिखा है कि काव्यगत विचार भी अनुभूत्यात्मक ही होते हैं।

रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय पर उन्होंने काव्यशास्त्र की भूमिका में काफी विस्तार से विवेचन किया है। प्रत्येक सम्प्रदाय का पूर्व वृत्त, उसके अन्तर्गत वर्णित काव्य-स्वरूप, उसके भेद प्रभेद, अन्य काव्य सिद्धान्तों से तुलना आदि का सांगोपांग विश्लेषण किया गया है। इन दोनों सम्प्रदायों को हिन्दी तथा योरोपीय काव्यशास्त्रीय संदर्भ में भी देखा परखा गया है। रीति-सम्प्रदाय का विवेचन करते हुए नगेन्द्रजी ने कुछ मौलिक प्रश्न भी उठाए हैं—जैसे, काव्य शैली का भौगोलिक आधार और रीति और शैली। इन्होंने वामन का विरोध करते हुए आंशिक रूप में काव्यशैली का भौगोलिक आधार माना है। बंगला, हिन्दी और पंजाबी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन नगेन्द्र जी के मत की पुष्टि करता है। आइरिश और इंग्लिश साहित्य का भेद सर्व स्वीकृत है। जहां तक रीति

ली का मबध है नगेन्द्र जी दोना मे बहुत अतर नही मानते। उन्‍ रीति मे व्यक्तित्व तत्त्व का सवथा अभाव भी स्वीकार नही है। अपने मत के पुष्टमय उन्होने दडी, कुतक और शारदातनय का हवाला भी दिया है इनम से कोई भी रीतिवादी नही कहा जा सकता। दडी और शारदातनय ने तो उल्लेख भर किया है। कुतक के कवि स्वभाव के अतगत व्यक्तित्व तत्त्व मनिविष्ट होता है। पर रीति सप्रदाय के प्रवत्तक आचाय वामन ने व्यक्तित्व तत्त्व का उल्लेख भी नही किया है। डॉ० डे न रीति को बाह्य तत्र से सबद्ध माना है और शैली से इसे मवथा असपृक्त कहा है। वास्तविकता यह है कि उस काल मे एक विशेष ऐतिहासिक परिवेश के कारण व्यक्तित्व तत्त्व का न होना ही स्वाभाविक था। यह आधुनिक युग की उपज है, इसे नगेन्द्र जी भी स्वीकार करते हैं।

वक्रोक्ति सिद्धात भारतीय काव्य शास्त्र का अत्यन्त महत्त्वपूण सिद्धात है—उसके प्रवतक कुतक अतिशय मेधावी आचाय हैं। वे काव्य के मूल मे वक्रता व्यापार की स्थिति अनिवाय मानते हैं। नगेन्द्र जी भी काव्य मे इसकी अनिवाय स्थिति स्वीकार करते हैं। इसके लिए इनका निबन्ध 'कविता क्या है ?' देखा जा सकता है। कुतक ने अपने ग्रथ म कवि-स्वभाव या 'कवि-व्यापार' की जो चर्चा की है वह आधुनिक आलोचना के लिए सर्वाधिक ग्राह्य है। सस्कृत के आचार्यों ने निर्भ्रान्त रूप से सहृदय व्यापार का ही विवेचन किया है। कवि व्यापार की चर्चा अकेले कुतक ने की। रचना प्रक्रिया के प्रसग म इसका विशेष महत्त्व आका जाना चाहिए। इसका विश्लेपण करते हुए नगेन्द्र जी ने कुतक को पर्याप्त महत्त्व दिया है। पर उन्होने बहुत ही स्पष्ट रूप से यह भी कह दिया कि कुतक कवि के व्यक्तित्व को काव्य का मूल प्रेरक तत्त्व मानते है।'परतु उम वे समजित एव सामान्य व्यक्तित्व के अथ म ही ग्रहण करते हैं, भावना के अथ मे नही। प्रत्यक्ष आत्माभिव्यक्ति का सिद्धात उन्हें मान्य नही है, आधुनिक मनोविज्ञानी की भाति वे कवि के स्रष्टा और भोक्ता रूप को एक मानने को तैयार नही है। इस प्रश्न को कि क्या भोक्ता और स्रष्टा का रूप एक होता है आधुनिक आलोचना ने और भी आगे बढाया है। भोक्ता और स्रष्टा एक होकर भी दो हैं। रचना प्रक्रिया म भोक्ता का रूप बदल जाता है।

वक्रोक्ति सप्रदाय के सिलसिले डॉ० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के विचारो की जो आलोचना की है वह औचित्यपूण और सकमगत है। शुक्ल जी ने कुतक और क्रोचे

पर जो प्रहार किया है वह आज असगत सिद्ध हो गया है। शुक्लजी ने 'कविता क्या है।' निबंध म लिखा है—"उक्ति की वही तक की वचन भंगी या वक्रता के सबध म हमसे कुन्तक जी का 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' मानते बनता है, जहा तक कि वह भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अन्तर्वृत्ति से सम्बद्ध हो, उसके आगे नही। कुन्तक जी की वक्रता बहुत व्यापक है जिसके अन्तर्गत वे वाक्य वैचित्र्य की वक्रता और वस्तु वैचित्र्य की वक्रता दोनो लेते हैं। सालङ्कृत वक्रता के चमत्कार ही मे वे काव्यत्व मानते हैं।' इस उद्धरण का अंतिम वाक्य निर्भ्रान्त नही है। कुन्तक के मतानुसार 'काव्य म शब्द अर्थ रूप अलकार्य का और वक्रोक्ति रूप (जिसके अन्तर्गत काव्य के उपमादि सभी तत्वो का समावेश है) अलकार का पूर्ण तादात्म्य रहता है। अलकार कोई बाह्य वस्तु नही है जिसका शब्द अर्थ के साथ योग होता है।' जैसा कि नगेन्द्रजी का कहना है कुन्तक की वक्रता और शुक्लजी की रमणीयता म कोई अन्तर नही है। क्रोचे के अभिव्यजनावाद स तो वाग्वैचित्र्य का कोई सबध ही नही है। शुक्लजी वस्तु और अभिव्यजना का पार्थक्य मानते हैं, क्रोचे नहीं। नगेन्द्र जी का मत क्रोचे के पास म है।

सद्धांतिक समीक्षा के विवेचन के सिलसिले म यहा पर प्राय उन्ही पक्षो को उठाया गया है जिनसे आधुनिक आलोचना का सीधा सबध है। स्पष्ट है कि काव्य-शास्त्र के अनेकानेक पक्षो की विवेचना म नगेन्द्र जी, आधुनिक युग के एक महत्त्वपूर्ण आलोचक होने के नाते, आज के युग के विचारणीय प्रश्नो से जूझते रहते हैं। परपरा की जीवन्तता भी इसीमे है। अपनी व्यावहारिक समीक्षा म व कवि के स्रष्टा पक्ष के साथ साथ उसके भोक्ता पक्ष को दृष्टि से ओझल नही होने देते। मनोविज्ञान का—फ्रायडीय मनोविज्ञान का—बाद मे यगीय मनोविज्ञान का—उन पर गहरा प्रभाव है। काव्य शास्त्र की अनेक गुत्थियो को उन्होने इसीसे सुलझाया है। रसवादी होने के कारण वे आह्लाद का वक्रताजन्य नही मानते बल्कि वक्रता को आह्लादजन्य स्वीकारते हैं। यह आह्लाद या आनन्द उनकी व्यावहारिक समीक्षा का केन्द्रबिन्दु है।

'अरस्तू का काव्यशास्त्र' का भूमिका भाग नगेन्द्र जी के पूर्वीय और पश्चिमी आलोचना शास्त्र के गहन अध्ययन और सूक्ष्मतर अभिनिवेश का द्योतक है। विश्लेषण की गहनता और विचारो की स्पष्टता की दृष्टि से इस विषय पर लिखी गई किसी पाश्चात्य पुस्तक के समकक्ष इसे रखा जा सकता है। सब मिलाकर सद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र म—भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय समीक्षा

के क्षेत्र मे हिन्दी मे इतना महत्त्वपूर्ण—जो अपनी विस्तृति और गहराई दोनो म महत्त्वपूर्ण है—कार्य अभी तक नही हो पाया है।

कथा साहित्य और नाटयालोचन के सम्बन्ध मे अधिकाश छात्रोपयोगी ग्रथ प्रकाशित हुए हैं। ले देकर डा० जगन्नाथप्रसाद शर्मा की 'कहानी का रचना विधान' ही एक ऐसी पुस्तक है जो परिश्रम पूर्वक लिखी गई है। उसमे पाश्चात्य आलोचना सिद्धान्तो के आधार पर कुछ कहानियो को सागोपाग विश्लेषित भी किया गया है। उपन्यासो और नाटको के आलोचना सिद्धान्त पर जो पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं वे यूरोप तथा पूर्व के बासी सिद्धान्तो से भरी पडी हैं। पश्चिम मे इधर उनको लेकर काफी विचार हुआ है पर हिन्दी वालो का ध्यान उधर बहुत कम गया है।

कवियो के विचार

आधुनिक काल मे कवि अपने काव्य, सृजनात्मक प्रक्रिया, विचार आदि को गद्य म व्यक्त करने लगे हैं। छायावादी काव्य-सृजना के समय ही यह कार्य आरभ हो चुका था। छायावादी काव्य पूर्ववर्ती काव्य परम्परा से वस्तु-रूप मे काफी भिन्न था, इसलिए अपने अनुभूत को पाठको के लिए ग्राह्य बनाने के निमित्त उन्हे वैसा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। 'बच्चन' और दिनकर ने भी समय समय पर अपने विचारो को प्रकट किया। छायावादी कवियो के काव्य सम्बन्धी विचारो का प्रभाव पाठको और आलोचको पर पडा। पाठको की अभिरुचियो का नूतन सस्कार हुआ और आलोचको को छायावादी काव्य के मूल्याकन म नवीन दृष्टि मिली।

प्रयोगवादी (?) प्रयोगशील अथवा नई कविता ने अब तक के काव्य मानो का अतिक्रमण कर जो नया रास्ता अपनाया उसे समझने-समझाने के लिए नये कवियो को भी गद्य का माध्यम अपनाना पडा। नये कवियो मे छायावादी कवियो की भाति रचनात्मक आक्रोश नहीं था, उनमें सयम और साधना की भी कमी थी। फिर भी इतना तो सच है ही कि उन्होने आधुनिक जीवन की पेचीदगी और जटिलताओ को काव्य स्वरो मे बाधने की कोशिश की। स्वभावत काव्य का स्तर बदला उसमे दुरूहता और दुर्बोधता भी आई। दूसरे सप्तक म कवियो ने वक्तव्य भी दिये पर वे प्राय अपरिपक्व बौद्धिक चेतना के सबूत हैं। तीसरे सप्तक के वक्तव्यो का उससे भी बुरा हाल है। सामान्यत नये कवियो ने पुरानी काव्य-

परम्पराओं के विरुद्ध जेहाद बोल दिया। नवीनतावादियों ने 'प्रपंचवाद' में रस सिद्धांत, साधारणीकरण आदि को नये काव्य से निष्कासित तो कर दिया पर उनके स्थान पर कुछ प्रतिष्ठापित नहीं किया। नई कविता के प्रयोक्ताओं में अज्ञेय आदि कुछ ही ऐसे कवि हैं जिनके विचारों पर गम्भीरतापूर्वक सोचा जा सकता है। काव्य रुचि के संस्कार और आलोचनात्मक दृष्टिकोण के परिष्कार में उनसे सहायता मिल सकती है और मिली भी है।

अज्ञेय अहंवादी होते हुए भी असामाजिक नहीं हैं, प्रयोगवादी होते हुए भी परम्परा विरोधी नहीं हैं। उन्होंने अपना एक जीवन दर्शन बना लिया है, उससे असहमत होना अलग बात है। आत्मनेपद के आधार पर उन के विचारों की रूप रेखा निर्मित की जा सकती है।

उनके सभी प्रश्न 'अहं' से सबद्ध हैं जिसका पर्यवसान विसर्जन में होता है। यह सम्भवतः उनके काव्य और जीवन दोनों का केन्द्रवर्ती बिन्दु है। आज के अनेक कवियों के विपरीत वे कविता को, कला सृष्टि को, अहं के विलयन का साधन मानते हैं। प्रयोग के लिए प्रयोग में उनका विश्वास नहीं है। प्रयोग साधन भर है जो 'व्यक्ति सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाता है, व्यक्ति की अनुभूतियों को उसकी सपूर्णता में समष्टि तक पहुँचाता है। उनकी कविता में व्यक्ति और समष्टि के दो ध्रुवों का मिलन इस प्रकार होता है कि वे एक होकर भी दो हैं। वे अनुभूति को अन्य संदर्भों से काटकर नहीं देखना चाहते, फिर भी अनुभूति की आत्यंतिकता पर उनका आग्रह अवश्य है। इसीको वे क्षणवाद का नाम देते हैं। यह क्षणवाद लारेंस के क्षणवाद से भिन्न है। इसे भी वे अन्य के संदर्भों में देखना चाहते हैं, पर इसमें प्राथमिकता वे आत्यंतिक अनुभूति को ही देते हैं।

साधारणीकरण को वे नकारते तो नहीं, पर उसे रूढ़ मानते हैं। क्या ?—उन्होंने नहीं बताया है। पर क्या अहं का विलयन ही साधारणीकरण नहीं है ? काव्य प्रक्रिया में साधारणीकरण इसी व्यापार का नाम है। इसके अभाव में 'व्यक्ति सत्य' व्यापक सत्य कैसे बनेगा ?

प्रयोगशील कवि के सम्बन्ध में यह दावा कि वह शब्दों में साधारण से बड़ा अर्थ भरना चाहता है बहुत ही बेतुका मालूम पड़ता है। उनका कहना है कि कवि उस बड़े अर्थ को पाठकों के मन में उतार देने में साधन को अपर्याप्त पाता है। पाठक अर्थ को कम पाता है या भिन्न पाता है। यह बात भी मान्य नहीं हो सकती। कवि—सच्चा कवि, तो काव्य में साधारण से बड़ा अर्थ भरता ही है। अभिधा से

सामायत उसका काम नहीं चलता। लक्षणा और व्यजना नाम की शब्द शक्तिया बडा अथ भरने का ही काम करती है। प्रतीक (इसका भी अ तभाव व्यजना म ही हो जाता है) का काय भी तो यही है। 'साधारण से बडा अथ' गोल शब्द है। दडी ने काव्य मे अभीष्टाय को बहुत ही अधिक महत्त्व दिया है। सिद्धा ततः प्रयोगशील कवि का लक्ष्य भी शब्दो मे अभीष्टाथ ही भरना है। और पाठक तो कवि के अथ से किंचित भि न अथ पायगा ही, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। काव्य कर चुकने के बाद स्वय कवि जो अथ पाता है वह पाठक का ही होता है। सहृदय कवि की अभिव्यक्तियो को अपनी भावयित्री प्रतिभा से ग्रहण करके तादात्म्य प्रतीति करता है। पाठक अपनी रुचि, सस्कार, अभिनिवेश के अनुरूप ही तो काव्यानु भूति को ग्रहण कर पायगा। ममज्ञ पाठक कम अथ नही पाता, भि न अथ तो पायगा ही। फिर भी एक ऐसी उभयनिष्ठ भूमि अवश्य है जहा पाठक और कवि दोना का तादात्म्य होता है।

इनके अतिरिक्त उ होने मूल्यो का उल्लेख भी किया है जो आधुनिक जीवन के सदभ मे बहुत जरूरी हो गया है। व्यक्ति की अनुभूति मूल्यो से बद्ध है, क्योंकि व्यक्ति की प्रतिक्रिया मूल्य युक्त ही होती है। उनके जिस जीवन दशन का निर्देश यही अ यत्र किया गया है वह जीवन के प्रति उनके दष्टिकोण—नि सग विस्मय से जुडा हुआ है। यह जीवन स्वय विस्मय है—यह चुक सकता है टूट सकता है फिर भी चलता रहता है मीठे कडुवे अनुभव करता है। इसकी पहचान के लिए निस्सगता अपेक्षित है। जीवन के चुक जाने का बोध निस्सगता देता है तो उसके चलते रहने का विश्वास विस्मय की सृष्टि करता है। इसे एक तरह का धार्मिक दष्टिकोण कहा जा सकता है जो भारतीय परपरा से बहुत भि न नही है पर परपरामुक्त धम से भिन्न है। यह निस्सगता तटस्थता का पर्याय नही है इसके पीछे रचनात्मक दष्टिकोण अनुस्यूत है। छायावादी विस्मय से अज्ञेय का विस्मय एकदम अलग है। पहला जहा रोमासधर्मी है तो दूसरा यथाथधर्मी।

यह दशन व्यक्ति को मूल्यो की खोज मे सलग्न करता है। व्यक्ति के मूल्य सामाजिक मूल्यो से कही अधिक श्रेयस्कर हैं। पर खतरा तब उत्प न होता है जब ये मूल्य एकात रूप से वयक्तिक हो जाते हैं। इन वैयक्तिक मूल्या का मूल्य सामा जिक सदर्भों से काटकर नही आका जा सकता। पुराने धार्मिक मल्यो के विघटित होने पर नए न तिक मूल्या का विचार अनिवाय हा जाता है।

अज्ञेय ने जिन मूल्या पर अधिक बल दिया है व आस्था, दद और वयक्तिक

स्वातन्त्र्य के नाम से अभिहित किए जा सकते हैं। इनमें बुनियादी चीज़ दर्द है, जो व्यक्ति को माँजती है, उसे स्वातन्त्र्य देती है, उसकी आस्था की मजबूत नींव पर प्रतिष्ठित करती है। यह दर्द मीरा के दर्द से भिन्न है, छायावादी कवियों की पीडा से भी अलग है। यह न तो ईश्वरपरक है और न रोमांसपरक। यह आधुनिक जीवन के मानवीय दर्द से संबद्ध है।

धर्मवीर भारती ने 'मानव मूल्य और साहित्य' में विपर्यस्त मानवीय मूल्यों की बात उठाकर साहित्य की परीक्षा की है। नए मूल्यों के रूप में उन्होंने व्यक्ति के दायित्व, विवेक और स्वातन्त्र्य की माँग की है। इन्हीं के आधार पर साहित्य की नई मर्यादा के उदय की बात कही गई है। लघु मानव की आन्तरिक मुक्ति पर विशेष बल दिया गया है, गोया यह मुक्ति बाह्यमुक्ति से कोई भिन्न चीज़ है। पुरानी मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न लगा दिया गया है। इसकी सारी चर्चा भारतीय चिंतन परंपरा से विच्छिन्न हो जाने के कारण अवास्तविक हो गई है। विदेशी पूँजी के आधार पर जो कुछ कहा जायगा वह हमें किसी ठोस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा पायगा। वैयक्तिकता का आत्यंतिक आग्रह स्वस्थ साहित्य में इस हद तक ग्रहणीय नहीं है। फिर भी इन विवेचनों से आधुनिक साहित्य के संबंध में विचार करने के लिए कुछ तथ्योपलब्धि हो जाती है।

पत्रिकाएँ

स्वतन्त्र भारत में पत्रिकाएँ जनमी और मरी, उनसे स्वतन्त्र राष्ट्र की आकांक्षाओं का औचित्यपूर्ण पोषण नहीं हुआ। पोषण तो विकास का दूसरा स्तर है। उनसे वे चेतनाएँ भी उद्भूत नहीं हुई जो साहित्य और संस्कृति की बुनियादें हैं। आलोचना के लिए जिस गंभीर दायित्व, तटस्थता तथा अभिनिवेश की आवश्यकता होती है वह जातीय चरित्र का अंग होता है। हम लोगों में इसकी कमी थी। फिर भी कुछ छिटपुट प्रयत्न अवश्य हुए जिनसे आलोचना को बल और दिशा मिली। इस सिलसिले में पहला उल्लेखनीय प्रयास 'प्रतीक' है। इस समय आवश्यकता थी आधुनिक साहित्य के सन्दर्भ में आलोचना के नए लचीले मानों के स्थिरीकरण तथा पुस्तकों की निष्पक्ष समीक्षा की। अब तक पुस्तकों की समीक्षा (रिव्यू) का हल्के ढंग से लिया जाता था, उनकी स्थूल रूपरेखा देकर ही समीक्षक अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेता था। प्रकाशक भी सोच लेता था कि मुफ्त में उसकी पुस्तक का विज्ञापन हो गया और लेखक उसकी चर्चा मात्र से संतुष्ट था। अंग्रेजी में

'केलेण्डर ऑफ माडर्न लेटर्स', 'स्क्रुटिनी' और 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' के माध्यम से समय-समय पर जो पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित हुई उनसे आलोचना के प्रतिमानीकरण मे काफी सहायता मिली। केलेण्डर ऑफ माडर्न लेटर्स से संगृहीत समीक्षाओं को एफ० आर० लेविस ने 'टुवर्ड्स द स्टैंडर्ड्स आफ माडर्न क्रिटिसिज्म' नाम से प्रकाशित कराया है। जाहिर है कि उक्त पत्रिका ने समीक्षात्मक मानों के प्रतिमानीकरण मे विशेष योग दिया है। इस प्रकार का कोई प्रयास हिन्दी मे नही हुआ। पर 'प्रतीक' मे आलोचना और पुस्तक समीक्षा को महत्त्वपूर्ण मानकर उन्हे गंभीरतापूर्वक ग्रहण किया गया। पत्रिकाओ के क्षेत्र मे यह पहला प्रयत्न था जिसमे सचेत रूप से पाठको की आलोचनात्मक चेतना को प्रबुद्ध तथा उनकी संवेदना को पुष्ट करने की ओर ध्यान दिया गया।

उसके प्रथम अंक मे संयोजकीय या सम्पादकीय वक्तव्य है "हिन्दी पत्रों मे पुस्तको की जैसी चलती हुई आलोचना प्राय होती है वह किसी से छिपी नही, उससे लेखक, पाठक, प्रकाशक साहित्य का भी कोई हित सिद्ध होता है यह मानना कठिन है। हम हिन्दी पुस्तकालोचन को इस कदम से निकालना चाहते है किसी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की आलोचना एकांगिता या पूर्वग्रह से दूषित न हो इसलिए ऐसे ग्रंथो की बहुमुखी आलोचना करायेंगे। साथ ही साहित्यिक प्रवृत्तियो की समीक्षा के लिए ऐसा भी हो सकता है कि चार छः पुस्तकों को एक साथ लिया जाय ।"

'प्रतीक' से यह आशा करना कि समीक्षा के क्षेत्र मे खतियाने वाली परंपरा से वह एक बार छुटकारा पा लेगा ठीक नही। उसमे कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथो पर कई लेखको की समीक्षाएँ एक साथ ही निकली। कुछ मे तो पुराना ही रंग है अर्थात् वही बँधा-बँधाया पेटन, फिर भी कुछ समीक्षाओ मे वैचारिकता तथा सम्वेदनाओ की सूक्ष्म पकड अवश्य दिखाई पडती है। इस दृष्टि से 'गिरती दीवारें' पर शिवदानसिंह चौहान और शमशेरबहादुरसिंह की समीक्षाएँ विशेष महत्त्वपूर्ण है। 'टेढे मेढे रास्ते,' 'कुरुक्षेत्र' और बाणभट्ट की आत्मकथा पर प्रकाशित समीक्षाएँ नया मार्ग निर्दिष्ट नही कर पाती। छोटे छोटे रिव्यू का भी यही हाल है। डॉ० नगेन्द्र, सज्जाद जहीर के आलोचनात्मक निबंधो मे प्रौढ चिंतन की झलक पाई जाती है। मूलत आधुनिक साहित्य से सम्बद्ध होने के कारण 'प्रतीक' नवीन राष्ट्रीय चेतना को ओझल नही होने देता। पर इसमे पुराने साहित्य का नया मूल्यांकन नही हो पाया है।

आलोचना को और भी गम्भीर ढग से 'आलोचना' पत्रिका ने लिया। सर्व प्रथम यह शिवदानसिंह चौहान के सम्पादकत्व म राजकमल से प्रकाशित हुई। चौहान जी को 'हस' म सपादकीय दायित्व का नामा अनुभव हो चुका था। 'आलोचना' को अपने हाथ मे लेते ही उन्होने उसे नए परिवेश के अनुसार ढाला और हिन्दी आलोचना म उदार प्रगतिशील तत्वो को ले आने का स्तुत्य प्रयत्न किया। इसके साथ ही आलोचना के एकागी और असामाजिक मानो की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना भी वे नही भूले। उन्होने यह भी कोशिश की कि विशेष प्रकार के गतिरोध से हटकर आलोचना एक स्वस्थ और सुविचारित मार्ग पर चले। उनका सबसे बडा काम था विकृत समाजशास्त्रीयता के कुप्रभावो और उसके असाहित्यिक मानो के खतरे के प्रति हम आगाह करना। उन्होने अपने सपादकीय म एक स्थान पर लिखा है "महान लेखक चाहे जिस काल म और चाहे जिस वर्ग मे पैदा हुए हो, वह मूलत मानवतावादी थे।' सकीर्णता से ऊपर उठकर प्रगतिशीलता के प्रति आस्था जगाने मे भी वे बहुत कुछ सफल सपादक माने जायँगे। साहित्यालोचन को युगीन चेतना, क्लासिकल कृतियो के अध्ययन, ऐतिहासिक परपरा, अतीत और वर्तमान की सम्बन्धसूत्रता, राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगति से जोडकर तथा आचार्य शुक्ल की विरासत की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर उन्होने उसे एक व्यापक, सुनिर्दिष्ट किंतु लचीले मानो से सम्बद्ध किया।

'आलोचना' की गतिविधि का पता 'प्रस्तुत प्रश्न' स्तम और पुस्तक समीक्षाओ मे भी लगाया जा सकता है। पहले ही अक म 'साहित्य मे सयुक्त मोर्चा' पर जो कुछ कहा गया है वह कितना सुविचारित है उसे आज के सदर्भ मे और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है। इसमे कुत्सित समाजशास्त्रियो, अवसरवादी कम्युनिस्टो का काफी अच्छी तरह पर्दाफाश किया गया है। चीनी नेता और लेखक कुओ० मो० के भाषण के हाथ मे आते ही अधे अवसरवादियो के हाथ बटेर लग गई। अपनी स्वतन्त्र परिस्थिति पर विचार करने की आवश्यकता ही नही समझी गई और कुओ०मो० के निर्देश पर साहित्य की गतिविधि निर्दिष्ट की जाने लगी। चौहानजी ने रणदिवे तथा उनके सहयोगियो की अवसरवादिता का जो उल्लेख किया है वह चीन भारत-युद्ध के सिलसिले म और भी नगे रूप मे सामने आई। इन लोगो ने प्रगतिशील दृष्टिकोण तथा स्वय अपनी पार्टी का जितना अमगल किया है उतना उनका बडे-से-बडा दुश्मन भी नही कर सकता। इसके अतिरिक्त साहित्य में प्रयोगवाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद आदि पर भी सतुलित ढग से विचार किये गए।

प्रकाशित निबन्धों में कुछ अपनी व्याप्ति और गंभीरता में आलोचना को समृद्ध बनाते हैं। यही नहीं उनमें स्वयं अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठे हैं। पर पुस्तक समीक्षाओं का स्तर ऊँचा नहीं उठ सका। चौहान जी के जमाने में इसका 'इतिहास अंक' साहित्य के इतिहास-सम्बन्धी धारणा को नया मोड़ देता है।

इसके बाद 'आलोचना' की दूसरी मंजिल आरंभ होती है। सन् ५९ में यह डॉ० धर्मवीर भारती तथा उनके सहयोगियों के सम्पादकत्व में निकलने लगी। नया सम्पादक मंडल वय में भी नया था और दृष्टिकोण में भी। इस मंडल में अपने कार्य के प्रति अद्भुत लगन और अपूर्व उत्साह था। अपने समय की आलोचना को नए स्तर पर ले आने के लिए इस मंडल ने अपेक्षाकृत नई पीढ़ी के लेखकों का अधिक से अधिक सहयोग लिया। फलस्वरूप समग्रत इस मंजिल पर 'आलोचना' आधुनिकता के घनिष्ठ सम्पर्क में आई, उसने जीवन के नए आयामों की खोज की।

अपने सम्पादकीय में इस मंडल ने समीक्षा के गहन दायित्व का जो उल्लेख किया है उसमें समकालीन स्थितियों की मापकता पर विशेष जोर दिया गया है। कवि की मानसिक रचना प्रक्रिया की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट करके आलोचना शास्त्र को एक आधुनिक तत्त्व से सम्बद्ध किया गया। यही नहीं इसने एकांगी सामाजिक उपादेयता के मूल्यांकन का विरोध करते हुए इसके साथ रसानुभूति और सौन्दर्य-बोध का समन्वय भी आवश्यक माना। साहित्य की राजनीतिक पक्षधरता को अस्वीकार करके इस मंडल ने उस व्यापक सांस्कृतिक धरातल पर परखने की आवश्यकता बतलाई।

जहाँ तक आलोचना के इस दूसरे दौर का सम्बन्ध है उसमें प्रकाशित निबंधों में विविधता भी दिखाई पड़ी अनुशीलन, पाठालोचन और सौन्दर्य-शास्त्र-संबंधी निबन्धों का भी समावेश किया गया, अन्य भारतीय साहित्य के विचारकों को सामने लाया गया, देशी विदेशी समीक्षाओं की आधुनिक गतिविधि का आकलन हुआ। इस सम्पादक मंडल ने प्रस्तुत प्रश्न स्तंभ में कई प्रकार की समस्याएँ उठाईं जिनमें नई कविता, मानवीय मूल्यों के विघटन और साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व के प्रश्न विशेष महत्त्व के हैं, इनमें से सबसे अधिक ध्यान अंतिम प्रश्न पर दिया गया। ये सब की सब समस्याएँ आधुनिक जीवन की समस्याएँ हैं और आज के बौद्धिक वर्ग को इनसे जूझना ही होगा।

इस बार पुस्तकों के मूल्यांकन में पहले की अपेक्षा अधिक सतर्कता, गंभीरता और सूक्ष्मता दिखाई देती है। एक पुस्तक पर भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा

भिन्न भिन्न कोणो से समीक्षाएँ प्रस्तुत की गइ। 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमट' के पटन पर समवेत समीक्षाएँ भी प्रकाशित होने लगा।

इसकी सपादन-समिति ने 'आलोचना का 'उपन्यास विशेषाक' निकाला, जो उपन्यास-सबधी घिसी पिटी आलोचनाओ से भिन्न कोटि का था। इसमे नूतन दृष्टिकोण तथा प्रौढ चितन का समावेश तो हुआ ही इसने साथ इसने उपन्यासालोचन का नई दिशा भी दी। विशेषाको की परपरा म इसका विशिष्ट स्थान होगा, यह असदिग्ध है।

'आलोचना पत्रिका का तीसरा दौर प० नन्ददुलारे वाजपेयी के सपादकत्व से आरम्भ होता है। वाजपेयी जी ने आलोचना क माध्यम म आलोचना मे साहित्यिक अनुशासन (डिसिप्लिन) पर विशेष जोर दिया। यह एक महत्व की बात है। सबसे बडी बात, जो चीन-भारत के युद्ध के सदभ म और भी मौजू है, यह हुई कि साहित्य की परख के लिए उन्होन राष्ट्रीय भूमिका आवश्यक बतलाई।

इस दौर म नए-पुराने सभी लेखको का सहयोग मिला। कई एकदम नवीन लेखको को भी इसके लेखक मडल मे सम्मिलित किया गया। इसमे लाभ और हानि दोनो हुइ। आलोचना के लेखो के स्तर म काफी भिन्नता दिखाई देने लगी। 'प्रस्तुत प्रश्न स्तभ को उन्होने उतना महत्व नही दिया, उसके स्थान पर किसी विशिष्ट विदेशी लेखक का अध्ययन प्रस्तुत किया जाने लगा, पुस्तकालोचन का स्तर अच्छा नही बनाया जा सका। वाजपेयी जी के समय म निकले 'काव्यालोचन विशेषाक का अपना महत्त्व है।

सब मिलाकर 'आलोचना पत्रिका न हिन्दी साहित्यालोचन को आगे बढाया, उसे नए मूल्य, नई समीक्षात्मक शब्दावली, और नई दिशा दी। इनके अतिरिक्त कुछ लघु लघु पत्रिकाए भी निकली जिनस साहित्य की नई प्रवृत्तियो को समझने म एक सीमा तक सहायता मिली, इसस इन्कार नही किया जा सकता। किन्तु उन्होने आलोचनात्मक चिन्तन और विचार के क्षेत्र म कोई ऐसा काय नही किया जो इस सदभ म उल्लेख्य हो ?

उपर्युक्त पत्रिकाओ के फलस्वरूप पुस्तक समीक्षा के क्षेत्र मे जो वशिष्ट्य आया है वह अन्य पत्रिकाओ को आशिक रूप म ही प्रभावित कर सका। इस स्तर को उठाने के लिए ही दिल्ली से सन ६२ मे डा० नगन्द्र के सपादकत्व मे 'वार्षिकी' का प्रकाशन हुआ। पर उसम सगहीत सभी समीक्षाओ को उच्चस्तरीय नही कहा जा सकता।

नया साहित्य आलोचना की नई समस्याएँ

यह सिद्ध हो चुका है कि आलोचना के पूर्वनिश्चित माना को रचनात्मक साहित्य पर आरोपित नही किया जा सकता। उन माना को आलोच्य के भीतर से ही उगना चाहिए। ऐसा होने पर ही वे उसके सौंदय बोध मे सहायक हो सकते है। नई कविता ने पुराने मानो के आगे प्रश्न चिह्न लगा दिया है। प्रयोगशील उपन्यासो के कारण विश्वविद्यालय की उच्चतम कक्षाआ तक म पढाये जाने वाले तत्त्व बहुत कुछ अथशून्य हो गए हैं। कहानिया ने भी करवट बदली और आलोचना क मनपूत उपकरण खडित होने लगे। नए साहित्य का ठीक ढग से मूल्याकित करने के लिए नए माना की समस्या भी उठी।

लेकिन पुराने माना को छोडा भी नही जा सकता है, नए साहित्य की जरूरता को देखते हुए उनमे अपेक्षित परिवतन करना और बात है। नवीनता की झोक मे पश्चिम की ओर दौडने वाले आलोचका ने कही काडवेल के सिद्धान्ता को अनूदित किया, तो कही मिडिल्टन मरे के। किसी ने सात्र का पल्ला पकडा तो किसी ने इलियट का। इससे आलोचना मे अराजकता फली और पहले की दष्टि थोडी बहुत धूमिल सी हुई। प्रगतिवाद को लेकर भी काफी हो हल्ला हुआ। पक्ष विपक्ष म कई पुस्तकें आइ पर एक-दो को छोडकर शेप की दृष्टि राजनीतिक ही रही।

किंतु धीरे धीरे हो हल्ला थिर हुआ और वादी आलोचनाआ का पक्ष दुबल होता गया। समाजशास्त्रीय, मनोवज्ञानिक, दाशनिक आलोचना मे आलोचना का स्वतन्त्र अस्तित्व नही रह जाता, उसकी अपनी मर्यादा छिन्न भिन्न हो जाती है। उन्हे आलोचना की सीमा मे अन्तभुक्त किया जा सकता है स्वय आलोचना उनमे अन्तभुक्त नही हो सकती। आलोचना का मुख्य काय है साहित्यगत सौन्दय चेतना, अनुभूति, रस सवेदना आदि का विश्लेषण और उन्ह पाठका तक प्रेपित करते हुए उनकी अभिरुचि का सस्कार करना। सौन्दय-बोध की अनुभूति आदि का जीवन-चेतना (लाइफ फोस) से अनिवाय सबध है। सौन्दय बोध के विविध आयाम, अनुभूतिया के स्तर तथा प्रकार भेद जीवन चेतना से भिन्न हो नही सकते। इसलिए जीवन चेतना भी उसका कम महत्त्वपूण विश्लेष्य नही है। जीवन चेतना का तात्पय है मूल्या के उत्कर्पापकप का विवेचन। इसके लिए साहित्येतर उपकरणा का सहारा उसी सीमा तक लिया जा सकता है जिस सीमा तक वे समीक्षा की मूल्य मर्यादा से अनुशासित रहते हैं।

आज के सदभ म प्राचीन ग्रथो के नये मूल्याकन की समस्या भी सामन आई

है। अपनी परंपरा को नए संदर्भों से जोड़कर जीवित बनाए रखना भी नये आलोचकों का दायित्व हो गया है। इतिहास संबंधी धारणाओं में भी परिवर्तन हुआ है और हिन्दी साहित्य के इतिहास को नवीन ढंग से प्रस्तुत करने की दिशा में भी सोचा जा रहा है। 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' अर्थात् एकैडेमिक आलोचना के विरुद्ध अंतर्चिंतन के आधार पर भी पुस्तकें निकलीं। समीक्षा के लिए यह शुभ लक्षण है।

नई कविता को लेकर आलोचना के मान परिवर्तन की बात भी उठ खड़ी हुई है। इसे लेकर दो शिविर हो गए हैं, एक पुराने मानों के अनुकूल न पाकर इसे धराशायी करने पर तुला है, तो दूसरा नए मानों को न बना पाने पर भी इसे प्रतिष्ठित करने पर कटिबद्ध है। आलोचना के क्षेत्र में एक हलचल जरूर उत्पन्न हुई है पर स्थिति बहुत-कुछ गडडमडड (क्याऑस) ही है। फिर भी नए मानों की तलाश जारी है, यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। नई कविता में छायावादी अनुभूति (फीलिंग) नहीं मिलेगी, उसका स्थान संबोध (सेंसिबिलिटी) ने ले लिया है। इस अंतर को समझे बिना आलोचना के मानों पर सोचना अर्थपूर्ण नहीं होगा। रस, साधारणीकरण को स्वीकार करते हुए भी उन पर पुनर्विचार करना आवश्यक है।

परंपरा की बात भी नई कविता से जुड़ी हुई है। परंपरा का विरोध नए कवियों ने खूब किया है। इस विरोध के उत्साह में आज की दुनिया के परस्पर समीप होते जाने की चर्चा भी की जाती है, पश्चिम और पूर्व के भेद का नकारने की भी कोशिश हो रही है। इस खींचतान में कुछ कवि अपने को फ्रेंच इमेजिस्ट सिंबालिस्ट परंपरा का उत्तराधिकारी मानने में गौरव का बोध भी करते हैं। वे नई कविता को अंतर्राष्ट्रीय पैमाने से देखने के हिमायती हैं। पर साहित्य में इस तरह का अंतर्राष्ट्रीय पैमाना नहीं हो सकता। जहाँ तक वास्तुकला तथा चित्रकला का संबंध है उन्हें अंतर्राष्ट्रीय पैमाने से देखा जा सकता है। लेकिन संगीत और साहित्य के संबंध में यह सच नहीं है। अपनी परंपरा से कटकर जो कुछ लिखा जायगा वह या तो बासी होगा या उच्छिष्ट। नई कविता में अपनी परंपरा की अनुकूलता किस सीमा तक है, यह देखना आलोचक का कर्तव्य है। उसे किस हद तक भारतीय कहा जा सकता है, यह भी विचारणीय है। भाषा की अपनी कुछ ऐसी भी विशेषताएँ होती हैं कि एक भाषा का साहित्य दूसरे से भिन्न हो ही जाता है। इस भिन्नता के दर्जे होते हैं, यह अलग बात है।

हमारे नए आलोचकों की ये कतिपय कमियाँ हैं जिनकी ओर हमारी दृष्टि जानी ही चाहिए।

नए आलोचकों में स्व० नलिनविलोचन शर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि उनकी कृतियों पर पांडित्य का मुलम्मा कम नहीं है फिर भी उनमें नवीन चिंतन की ताजगी दिखाई पड़ती है। इनके अतिरिक्त नई पीढ़ी के आलोचकों में प्रभाकर माचवे, रामखेलावन पांडेय, रामरतन भटनागर, शिवनाथ, रघुवंश, विजयशंकर मल्ल, नामवरसिंह, देवीशंकर अवस्थी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

आज नए साहित्य और नए युग के संदर्भ में आलोचना का उत्तरदायित्व काफी बढ़ गया है। मूल्यों के संकट के साथ साथ राष्ट्रीय संकट की इस घड़ी में उनकी जिम्मेदारियाँ दुगुनी हो गई हैं। पहले की अपेक्षा उन्हें कहीं अधिक सतर्क और जागरूक रहना है। नई पीढ़ी को इस दायित्व की चुनौती स्वीकारनी ही होगी।

समीक्षात्मक निबन्ध

सुरेशचन्द्र गुप्त

स्वातन्त्र्योत्तर काल के समीक्षात्मक निबन्धों का विवेचन करने के पूर्व निबन्ध और लेख के अन्तर पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। निबन्ध एक विशेष मनःस्थिति की स्वच्छन्द और प्रवाहमयी कलात्मक रचना है, जबकि लेख के लिए ऐसी कोई शर्त निर्धारित नहीं की जा सकती। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में "निबन्ध लेख हो सकता है, किन्तु सभी लेख निबन्ध नहीं हो सकते। लेख में केवल लिखने की क्रिया रहती है, निबन्ध में क्रिया का शिल्प या नियायरूप रहता है। उसमें मार्मिकता रागस्पर्शिता अथवा शैली की व्यंजकता से आती है।"[1] वस्तुतः निबन्ध और लेख में विषयवस्तु की दृष्टि से उतना भेद नहीं होता जितना विषय की अनुभूति, प्रतिपादन शैली और लालित्य का भिन्नाधार रहता है। एक समय था, जब यह माना जाता रहा कि समीक्षा सर्जनात्मक नहीं होती, किन्तु आधुनिक युग में अनेक आलोचकों ने समीक्षात्मक ललित निबन्धों की रचना करके आलोचना को भी सर्जनात्मक साहित्य के समान अनुभूतिपूर्ण, मधुर और कलापूर्ण रूप प्रदान किया है।

सामान्यतः समीक्षात्मक कृति में शास्त्रीय चिन्तन अथवा बौद्धिक तर्कक्रम द्वारा शुष्क तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है। समीक्षा में आलोचक और कवि-लेखक के बीच की तटस्थता आवश्यक मानी जाती है, जिससे रचना को ज्ञान की कसौटी पर परखा जा सके। किन्तु, बहुधा यह होता है कि कलात्मक सौन्दर्य को शास्त्रीय आधारों पर परखने का प्रयत्न करते हुए भी आलोचक अनुभूति और संवेदना के प्रवाह में अपने को भूल जाता है और रचना में अपने व्यक्तित्व को अन्तर्लीन कर देता है। उस अवस्था में वह रचना की समीक्षा जिस रूप में करता है, उसमें वह अनुभूति अथवा भाव की यथार्थ प्रेरणा के फलस्वरूप समीक्षा को अनेक आकर्षक और ललित तत्त्वों से परिपूर्ण करने में समर्थ होता है। फलतः उसकी मनःस्थिति और शैली-विन्यास के कारण साहित्य की उस विधा का जन्म होता है, जिसे हम आधुनिक अर्थों में 'निबन्ध' कहते हैं। अतः समीक्षात्मक निबन्ध को हम अनुभूति और विश्लेषण की किसी विशिष्ट मनःस्थिति की स्वच्छन्द कृति कह सकते हैं।

---

१ 'आधान', पृष्ठ ८३

हिन्दी में व्यक्तिव्यंजक प्रणाली के वैयक्तिक निबन्ध भारतेन्दु युग में लिखे जाने लगे थे। [illegible] इस शती के प्रारम्भ में [illegible] में हम देखते हैं कि जैसे आलोचना के—चाहे वह कविता के या उपन्यास के—क्षेत्र में वैसे ही यहाँ भी [illegible] रचनाकार के नाम ही बढ़ रहे हैं। द्विवेदी युग में विचार-प्रधान रचना और कुछ सीमा तक निबन्ध-पुस्तकों के विकास में 'स्व' और 'पर' की प्रवृत्ति दिखाई है। किन्तु [illegible] उन [illegible] किया। शुक्लजी ने बौद्धिक विवेचन और चिन्तन की गहनता को आधार स्वीकार किया। शुक्लोत्तर युग में भावात्मक निबन्धों में कल्पना और भावना का [illegible] पर कलात्मकता का समावेश करना बढ़ गया। इस प्रकार [illegible] विधा का नवीन प्रयोगों में विकास सन् १९५० के लगभग आरम्भ हुआ और इसकी गति बाद के दशकों में [illegible] परिलक्षित होती आई। फिर भी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के इस मत से यह कहना उचित होगा कि "अब सभी साहित्य निबन्धकार नहीं हैं। सच तो, अब ही सभी निबन्धकार शैलीकार बन गए हैं। गद्य-शैलियों के अभाव में अब यहाँ सभी प्रसिद्ध लेखकों का शैलीकार बनने का विचार चल पड़ा है।"[1] इस मन्तव्य को ध्यान में रख कर प्रस्तुत लेख में केवल निम्नलिखित लेखकों के सभी समीक्षात्मक निबन्धों का अनुशीलन किया गया है—बाबू गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, डा० विनयमोहन शर्मा, अज्ञेय, जैनेन्द्र, रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह। यद्यपि इस दिशा में कुछ अन्य निबन्धकारों—नलिनविलोचन शर्मा, देवराज, सुमित्रानन्दन पन्त आदि—का योग भी उल्लेखनीय है, किन्तु विस्तार-सीमा के कारण यहाँ केवल उपर्युक्त समीक्षकों के निबन्धों को ही दृष्टिपथ में रखा गया है।

गुलाबराय

बाबू गुलाबराय के आलोचनात्मक निबन्धों में व्याख्यात्मक पद्धति और मध्य समन्वयवाद के साथ-साथ सौंदर्यशास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्र का समुचित उपयोग मिलता है। आलोच्य अवधि में उनकी दो रचनाएँ प्रकाश में आई हैं 'मेरे निबन्ध' (१९५५) तथा 'अध्ययन और आस्वाद' (१९५७)। इनमें से प्रथम कृति में केवल दो समीक्षात्मक निबन्ध संगृहीत हैं अन्य निबन्ध साहित्येतर

---

१ 'आधान', पृष्ठ ८५

विषयो पर लिखे गए है। इन दोनो निबन्धो (रसराज हास्य, सूरदास जी और बाल-मनोविज्ञान) मे वैयक्तिक सस्पर्श, सौदयमूलक मनोविश्लेषण और कलात्मकता की ओर उपयुक्त ध्यान दिया गया है। उदाहरणस्वरूप 'रसराज हास्य' मे आरम्भ की ये पक्तिया देखिए—"मैं गहरे जाकर तो नही—गहराई म तो दम घुटता है— किन्तु कबीर की बौरी की भाँति किनारे बैठकर ही जो तथ्य निकाल सका हूँ, उनको पाठको के सामने रखने की चेष्टा करूँगा।[1] 'अध्ययन और आस्वाद' मे सकलित कुछ अन्य निबन्ध भी आरम्भ, मध्य अथवा अन्त म इसी प्रकार की रोचक शैली से अनुप्राणित है।[2] इस कृति के अधिकाश निबन्ध आत्मीयता के गुण से सवलित है। 'साहित्यिक जीवन के दो पक्ष' और 'कवि समय' को उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है। 'आलोचना सम्बन्धी मेरी मान्यताएँ' मे लेखक ने सैद्धान्तिक समीक्षा और वयक्तिकता का कलापूर्ण सयोजन किया है। उनके समीक्षात्मक निबन्धो की प्रमुख विशेषता हास्य व्यग्य का अवसरोचित समावेश है जिसके लिए शब्द लालित्य और उदाहरण शैली का उपयुक्त सयोजन किया गया है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी के समीक्षात्मक निबन्धो की विशेषता यह है कि उनकी रचना मानवतावादी भावभूमि पर हुई है अर्थात उनम साहित्य, सस्कृति, सत्य, सौन्दय और जीवन का अपूर्व समन्वय मिलता है। उनकी दृष्टि मे "सारे मानव समाज को सुन्दर बनाने की साधना का नाम ही साहित्य है।"[3] इसलिए उनके निबन्धो मे साहित्य और सस्कृति की व्याख्या तथा गवेषणा दृष्टि के अतिरिक्त कारयित्री प्रतिभा भी मिलती है। 'अशोक के फूल' (१९४८), 'विचार और वितर्क' (१९४९), 'कल्पलता' (१९५१), 'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार' (१९५१) और 'विचार प्रवाह' (१९५९) उनके उल्लेखनीय निबन्ध सकलन हैं। इनमे से 'अशोक के फूल और 'कल्पलता म अधिकतर साहित्येतर विषयो पर ललित निबन्ध सकलित है। किन्तु, ऐसे निबन्धो म भी कही कही प्रसगवश

---

१ 'मेरे निबन्ध', पृष्ठ १२६

२ देखिए अध्ययन और आस्वाद', पृष्ठ ११-१७, ६६, १२४-१२५, १६७

३ कल्पलता', पृष्ठ १००

साहित्यिक समस्याओ का उल्लेख मिलता है। 'घर जोडने की माया' (अशोक के फूल) और 'मानव सत्य' (विचार प्रवाह) इसी कोटि के निबन्ध है।

द्विवेदी जी के समीक्षात्मक निबन्धो मे समीक्षा की गहराई के अतिरिक्त सास्कृतिक निष्ठा, विनोद भाव और आत्मीयता को भी सहज ही लक्षित किया जा सकता है। 'क्या आपने मेरी रचना पढी है' (अशोक के फूल) और 'आदि काल के अन्तरप्रान्तीय साहित्य का ऐतिहासिक महत्त्व' (कल्पलता) इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। सैद्धान्तिक आलोचना से सम्बद्ध निबन्धो मे भी उन्होने इसी कोटि की सहजता दिखाई है। 'अशोक के फूल' म सकलित 'आलोचना का स्वतन्त्र मान' 'साहित्यकारो का दायित्व', 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' आदि निबन्ध विचार गम्भीर होने पर भी पाडित्य के बोझ से मुक्त है। इनमे विषय प्रतिपादन के लिए प्रत्यक्ष शैली के अतिरिक्त कही व्यक्तिगत अनुभवो का आधार लिया गया है, तो कही सामाजिक अथवा सास्कृतिक परिस्थितियो के सन्दभ मे साहित्य सिद्धान्तो का उदघाटन हुआ है। भाषा की स्निग्धता और शैली का लालित्य उनके निबन्धो की अन्यतम विशेषताएँ हैं जिनके फलस्वरूप रचना मे प्राय शुष्क तथ्यात्मकता नही आ पाती। उदाहरणस्वरूप 'कथा, आख्यायिका और उपन्यास' शीर्षक निबन्ध का यह अदा देखिए "सज्जनो, बडी देर तक मैंने आपको प्राचीन युग के खण्डहरो मे भटकाए रखा। मुझे अफसोस है कि मैं आपको प्राचीन साहित्य के रमलोक मे नही ले जा सका, जहा कहीं सूर्योदय होते ही अभिसारिकाओ की अलकावली से गिर हुए केश के मदार पुष्पो, कान के स्वणकमलो और पत्रच्छेदो और वक्ष स्थल विराजित हार के मोतियो से रमण माग का पता आसानी से लग जाता था।"[1]

नन्ददुलारे वाजपेयी

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी न अपने समीक्षात्मक निबन्धो म गुलाबराय और हजारीप्रसाद द्विवेदी की भाँति लालित्य को अन्तवर्ती धम तो नही रखा, किन्तु इस दिशा म उनका दृष्टिकोण उपेक्षामय भी नही है। आलोच्य काल म उनके तीन निबन्ध-सकलन उल्लेखनीय हैं 'जयशकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य' (१९५०) और 'नया साहित्य नए प्रश्न' (१९५१)। इसमे से प्रथम कृति के

[1] 'आधुनिक हिन्दी साहित्य पर विचार', पृष्ठ ९८

कुछ निबंध आलोच्य काल से पहले के लिखे हुए हैं जबकि 'कामायनी-विवेचन', 'पूर्वी और पश्चिमी नाट्य तत्त्व', 'भारतीय नाटक की रूपरेखा', 'प्रसाद के नाटक सामान्य विशेषताएँ', 'प्रसाद के नाटक विकास की रेखाएँ' आदि निबंधों की रचना स्वतन्त्रता के बाद १६५० ई० में की गई। 'आधुनिक साहित्य' में ३८ समीक्षात्मक निबंध हैं। इसमें मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, जयशंकर प्रसाद आदि साहित्यकारों और साकेत, कामायनी, कुरुक्षेत्र, शेखर एक जीवनी, गोदान आदि ग्रन्थों की समीक्षा के अतिरिक्त नई कविता, नई कहानी और 'नई समीक्षा' पर भी विचार व्यक्त किये गए हैं। इस प्रकार वाजपेयी जी ने अपने अध्ययन आलोचन का विषय मुख्यतः आधुनिक हिन्दी साहित्य को ही बनाया है। 'नया साहित्य नए प्रश्न' में भी इसी प्रवृत्ति का विकास मिलता है।[1]

वाजपेयी जी सौष्ठववादी समालोचक हैं, अतः उनके निबंधों में भावों और प्रवृत्तियों की गहराइयों में उतरकर काव्य-सौंदर्य का साक्षात्कार करने की अभिरुचि मिलती है। उनके निबंधों में शैली-वैविध्य नगण्य है, तथापि उनकी दो विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं एक तो वे मुख्य विषय की समीक्षा के पूर्व विस्तृत भूमिका प्रस्तुत करते हैं और दूसरे, वे प्रायः भावुकता में बह जाते हैं। वैयक्तिकता अथवा आत्मीयता का समावेश भी उनके निबंधों में स्फुट रूप में हुआ है, क्योंकि उनकी मान्यता है कि "समीक्षा की विविध विधियों और आदर्शों में व्यक्तिगत रुचि के लिए थोड़ा-बहुत स्थान हो सकता है, परन्तु यह तभी जब हम उन समस्त विधियों और आदर्शों से पूरी तरह परिचित हों।"[2] किन्तु, वैयक्तिकता का उनके समीक्षात्मक निबंधों में पूर्णतः अभाव नहीं है 'एक निबंध पुस्तक' शीर्षक निबंध को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। इसी प्रकार उन्होंने अभिव्यक्ति में लालित्य लाने के लिए प्रसंगानुसार हास्य-व्यंग्य का भी सजीव समावेश किया है। उदाहरणस्वरूप प्रयोगवादी कवियों के प्रति निम्नलिखित व्यंग्य विनोद देखिए "अब तक हमने 'पहुँचे हुए कवियों' का नाम सुना था, 'लीक छोड़कर चलने वाले शायर और सपूतों' की चर्चा सुनी थी, पर अब अज्ञेय जी से ऐसे कवियों का हाल भी सुनने को मिला, जो न तो पहुँचे हुए हैं (अर्थात् जो राह पार कर चुके हैं) और न राही हैं

[1] 'नया साहित्य नए प्रश्न', पृष्ठ १३३ १३४
[2] देखिए 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ २६१-३००

(अर्थात जो राह बेराह किसी ओर चलते ही नहीं) परन्तु जो एकाग्र होकर राहों का अन्वेषण करते हैं (अर्थात जो चलने के अर्थ में बिल्कुल ठप हैं)।"[1]

शान्तिप्रिय द्विवेदी

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी हिन्दी के प्रसिद्ध प्रभाववादी समीक्षक हैं। उन्होंने शास्त्रीय दृष्टिकोण की अपेक्षा रसात्मकता अथवा रमणीयता के प्रति विशेष आग्रह रखा है। यह प्रवृत्ति विचारपक्ष में ही नहीं, अभिव्यक्तिपक्ष में भी चित्रमयी सालंकार पदावली के रूप में स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं (अ) "शास्त्रों के शासन से धर्म के मर्म की तरह काव्य का भाव भी लुप्त हो जाता है। रससिद्ध कवि की कविता के लिए समीक्षा भी रसात्मक ही होनी चाहिए," (आ) 'मेरे आलोचनात्मक लेखों को किसी किसी ने गद्यकाव्य कहा है और मेरी भाषा को उपमा और रूपक का माया जाल।"[2]

द्विवेदी जी के निबन्ध संकलनों में 'धरातल' (१९४८), 'प्रतिष्ठान (१९५३), 'साकल्य (१९५४), 'पद्मनाभिका (१९५६), 'आधान' (१९५७), तथा 'वृन्त और विकास' (१९५६) उल्लेखनीय हैं। इनमें समीक्षात्मक निबन्धों के अतिरिक्त सामाजिक सांस्कृतिक विषयों पर भी अनेक निबन्ध संकलित हैं। द्विवेदी जी की आलोचना शैली मुख्यतः भावात्मक और व्याख्यात्मक है तथा उन्होंने शास्त्रीय आलोचना से बचने का आग्रह रखा है। फलतः उनके निबन्धों में तटस्थ विश्लेषण वृत्ति का किंचित् अभाव लक्षित होता है। किन्तु, यह स्वीकार करना होगा कि उनकी रचनाओं में कवि की मधुर संवेदना और आलोचक की अन्तर्दृष्टि का अद्भुत सामंजस्य है। यद्यपि इसके फलस्वरूप कुछ निबन्धों में हजारीप्रसाद जी की भाँति विषयान्तर की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है, किन्तु प्रायः यह विषयान्तर संक्षिप्त और रोचक होता है। 'छायावाद और प्रकृति (पद्मनाभिका) तथा 'मध्य युग की कविता' (वृन्त और विकास) इसी वर्ग के निबन्ध हैं।

शान्तिप्रिय जी ने कुछ निबन्धों में शैलीगत लालित्य लाने के उद्देश्य से उनका आरम्भ किसी विशेष घटना, वातावरण अथवा निजी प्रतिक्रिया के सन्दर्भ में

---

१ 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ ७०
२ 'ज्योति विहग', पृष्ठ १११
३ 'प्रतिष्ठान', भूमिका से उद्धृत।

किया है। 'विश्वविद्यालयीय समीक्षा (वन्त और विकास), 'निराला जी की काव्य-दृष्टि (आधान), 'वर्मा जी के उपन्यास' (साकल्य), 'महादेवी की मधुर वेदना' (साकल्य) आदि ऐसे ही निबन्ध हैं। इसी प्रकार कहीं कहीं निबन्ध के कलेवर में अन्यत्र भी निजी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की गई है।[1] उनके निबन्धों की एक अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने सुसम्बद्धता अथवा विषय के वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान दिया है। इसीलिए उनके अनेक निबन्ध विस्तृत होने पर भी सालित्य गुण से समृद्ध हैं। निबन्ध में रोचकता लाने के लिए प्राय उन्होंने आलोच्य विषय से सम्बद्ध प्रभूत उदाहरण दिए हैं, जिससे शैली में अतिरिक्त सहजता आ गई है। 'रवीन्द्रनाथ का रूपक रहस्य' (वन्त और विकास) इस कोटि की उत्तम रचना है। निबन्ध क्षेत्र में उनका एक प्रयोग 'त्रिवेणी के अचल म दीपक' निबन्ध है जिसमे निराला पन्त और महादेवी के व्यक्तित्व तथा कृतित्व की संस्मरण शैली में आत्मीयतापूर्वक समीक्षा की गई है।[2] भावगत रागात्मकता उनके निबन्धों का निजी गुण है किन्तु कहीं कहीं शब्दावली की दुरूहता से लालित्य में बाधा पहुँची है। इसके अतिरिक्त तुलनात्मक शैली में लालित्य का संयोजन भी उनकी उल्लेखनीय विशेषता है। यथा—"यशपाल ने कवि का भाव जगत और कहानीकार का वस्तुजगत लेकर अपनी लेखनी को अग्रसर किया। चट्टान-जैसे ठोस यथार्थ के भीतर निर्झर की तरह उनका भावुक हृदय अन्तर्हित है।"[3]

नगेन्द्र

उपर्युक्त निबन्धकारों की तुलना में डा० नगेन्द्र ने विषय के सर्जनात्मक अथवा भावात्मक निबन्धन और कलात्मक वैशिष्ट्य की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया है। समीक्षात्मक निबन्ध लेखन में जितनी शैलियों का आविर्भाव उन्होंने किया है, उतना अन्य किसी ने नहीं। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि स्वतन्त्रतापूर्व काल में 'विचार और अनुभूति' में ऐसे चार निबन्ध (साहित्य की प्रेरणा, हिन्दी उपन्यास, यौवन के द्वार पर, वाणी के न्याय मन्दिर में) प्रकाशित हो चुके थे। इनमें क्रमश कथा शैली, स्वप्नदर्शन, कल्पनामिश्रित संस्मरण और नाट्य शैली को स्थान प्राप्त

१ देखिए 'साकल्य', पृष्ठ २१७ २१८, २२४ २२७, २३३ २३५
२ देखिए 'प्रतिष्ठान', पृष्ठ ८६-१३८
३ पद्मनाभिका', पृष्ठ ५६

हुआ है। उस काल में श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी वार्ता शैली मे कुछ निबन्ध लिखे थे, किन्तु नगेन्द्र जी की मौलिक प्रतिपादन शैली को देखते हुए यह कहना असंगत न होगा कि समीक्षात्मक निबन्ध के उपर्युक्त चार प्रकारों के प्रवर्तन का श्रेय उन्हीं को है। सन १९४७ से १९६० की अवधि मे उनकी तीन निबन्ध-कृतियां प्रकाशित हुईं 'विचार और विवेचन' (१९४९), 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां (१९५१) तथा 'विचार और विश्लेषण' (१९५५)। इनमें से प्रथम कृति में वार्ता शैली में लिखित 'हिन्दी मे हास्य की कमी' शीर्षक भावात्मक निबन्ध संकलित है। 'विचार और विश्लेषण' में इस प्रकार के चार निबन्ध हैं 'केशवदास का आचार्यत्व', 'कहानी और रेखाचित्र', 'मेरा व्यवसाय और साहित्य सृजन' तथा 'बोधी एक संस्मरण'। इनमें संस्मरण, आत्म-समीक्षा, आत्म-कथा और रेखाचित्र की शैलीगत विशेषताओं के समाहार द्वारा भावात्मक सरसता का उपयुक्त संयोजन मिलता है।

नगेन्द्र जी के समीक्षात्मक निबन्धों में सहृदयता अथवा संवेदनामूलक दृष्टिकोण का प्रसार सर्वत्र लक्षित किया जा सकता है। उपर्युक्त निबन्धों में कहीं-कहीं उनके काव्यात्मक संस्कार की छाप भी स्पष्ट है जिसके फलस्वरूप वे काव्यशास्त्र की जटिलता में भी सरसता का आधान कर सके हैं। अनुभूति की कोमलता अर्थात् रागतत्त्व भी उनके निबन्धों में सम्पूर्ण अथवा आंशिक विशेषता के रूप में प्रायः सुलभ है। विषय के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उन्होंने सर्वत्र रोचक शैली अपनाई है। उदाहरणार्थ 'ब्रजभाषा का गद्य' शीर्षक निबन्ध की आरम्भिक पंक्तियां देखिए "इस प्रसंग मे मुझे यूरोप के किसी नाटककार का एक मजाक याद आता है जिसमें एक पात्र बड़े ही गम्भीर जिज्ञासु भाव से दूसरे से पूछता है—'मित्रो, गद्य क्या होता है?' और जब दूसरा पात्र उसे बताता है कि जिस भाषा में वह बोल रहा है वही गद्य है तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है। ब्रजभाषा के साहित्यकार की अवस्था भी बहुत कुछ ऐसी ही थी।"[1] इस प्रकार की उक्तियों में शिल्प सौष्ठव की ओर भी समुचित ध्यान दिया गया है। साभिप्राय विशेषण, सारग्राही बिम्ब, मधुर शब्द विन्यास और मौलिक शब्द निर्माण उनके समीक्षात्मक निबन्धों के ऐसे अनिवार्य धर्म हैं जिनके प्रति उनकी सजग दृष्टि सतत जागरूक रहती है।

---

१ 'विचार और विश्लेषण', पृष्ठ ५।

विनयमोहन शर्मा

डॉ० विनयमोहन शर्मा के दो निबन्ध सकलन उपलब्ध है—'दृष्टिकोण' (१९५०) और 'साहित्यावलोकन' (१९५२)। 'दृष्टिकोण' में सकलित 'छायावाद के बाद का साहित्य', 'निराला की अप्सरा', 'उदयशकर भटट की मानसी', 'यशोधरा और गुप्त जी', 'विद्यापति की पदावली' आदि निबन्धो म अध्ययन-स्रोतो की विविधता तो है ही, इनमें उनके स्वतन्त्र और निर्भीक विचारो की छाप भी मिलती है। यद्यपि 'उद्धवशतक', 'लहर' हिन्दी-कहानी, हिन्दी नाटक आदि से सम्बद्ध कुछ समीक्षात्मक निब ध छात्रोपयोगी प्रतीत होत है, किन्तु शैली की सहजता की दृष्टि से ऐसे निब धो का भी कम महत्त्व नही है। 'साहित्यावलोकन' के प्रथम खण्ड में हिन्दी काव्य, द्वितीय खण्ड में हिन्दी गद्य और ततीय खण्ड में मराठी और हिन्दी से सम्बद्ध निबन्ध सगहीत है।

शर्मा जी के समीक्षात्मक निबन्धो में अध्ययन और अनुसन्धान की गहराई तो है ही, उनका ध्येय "अनुभूति के सहज प्रकाश को साहित्य की कसौटी मानकर उसका रसास्वादन"[1] भी रहा है। इसीलिए उनके निबन्धो में लालित्य का विधान करने वाले शैली रूपो को प्राय देखा जा सकता है। उन्होन डॉ० नगेन्द्र की भाति शैलीविशेष का जन्म न देकर कुछ प्रचलित शलियो का सयोजन मात्र किया है। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवत्तिया', 'जडवाद या वास्तववाद', 'एक गद्यगीत कृति की भूमिका', 'निराला की अप्सरा आदि निबन्ध इस दृष्टि से पठनीय है। इनमें शैलीगत लालित्य के लिए विषय का भावुकतापूण तुलनात्मक विवेचन किया गया है, निबन्ध को विचार-बोझिल न होने देने के लिए कृतिविशेष से विस्तृत परिस्थिति चित्र उद्धत किय गए हैं, गद्यकाव्य की तरल शैली को स्फुट रूप में अपनाया गया है और उपन्यास की समीक्षा मे सरसता के लिए समानान्तर रूप में कथासार प्रस्तुत किया गया है।[2] कही कही उन्होने व्यग्य शैली का भी अत्यन्त सजीव रूप मे प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप प्रगतिवादी काव्य कृतियो के सम्बन्ध म यह उक्ति देखिए "अभिव्यजना की दृष्टि से उनमे कुछ नयापन भले ही हो, किंतु विचार-परम्परा का दायरा बहुत सकुचित है। ऐसा प्रतीत होता है, हमारा कवि

---

१ 'साहित्यावलोकन', दृग्विक्षेप, पृष्ठ ४

२ देखिए, 'दृष्टिकोण', पृष्ठ १६-१८ २८ ३६ ८४ ८८, १०२-१०५

समुदाय आकाश के तारे गिन गिन थक गया है और अब वह सडक के ककड गिनने लगा है।"[1] वस्तुत उन्होने निम्नलिखित उक्ति मे जो कुछ कहानी के लिए कहा है, वह कुछ सीमा तक उनके निबन्धो के विषय म भी सत्य है "कहानी का उद्देश्य केवल कहानी कहाना ही नही है कहानी के द्वारा हमे भी कुछ कहना है। और यह 'कुछ' इस ढग से कहा जाय कि हमारा अन्तमन अनजान उसे ग्रहण कर मुग्ध हो उठे—आनन्द से भीग उठे।"[2]

अज्ञेय

अज्ञेय जी के समीक्षात्मक निबन्धो का सकलन 'त्रिशकु' स्वतन्त्रता-पूव काल मे प्रकाशित हुआ था। उनके परवर्ती निबन्ध 'आत्मने पद' (१६६०) मे सकलित हैं। जसा कि पुस्तक के शीषक से ही स्पष्ट है, 'आत्मने पद' के निबन्ध अज्ञेय के साहित्यिक कृतित्व से ही सम्बन्धित हैं। इन निबन्धो मे जो आत्म-स्पष्टीकरण मिलता है उसका उद्देश्य भी "साहित्य, कला अथवा जीवन के उन मूल्यो का निरूपण करना और उन पर बल देना है जिन्हे लेखक मानता है, और जिन्हे वह व्यापक रूप से प्रतिष्ठित देखना चाहता है।" इस निबन्ध-कृति को उन्होने आत्म-चेतन रचना कहा है और ठीक उसी 'तदगत भाव' से लिखा है, जिससे वे अपनी किसी सजनात्मक कृति को लिखते। इसलिए 'आत्मने पद' के समीक्षात्मक निबधो की सबसे बडी विशेषता यह है कि इन्हे पढते हुए किसी सजनात्मक कृति को पढने का सा आनन्द आता है। यह कहने म अत्युक्ति नही कि उनके निबन्ध अपनी विशिष्ट शली और उन्मुक्त हृदय अथवा विचारो की दृष्टि से महत्त्वपूण स्थान रखते हैं।

अज्ञेय जी किसी निर्धारित परम्परा अथवा रूढि के समथक नही हैं, फलत उनकी आलोचना पद्धति मे शास्त्रीय मान की परिपाटी नही मिलती। वे कला को एक प्रकार का आत्मदान मानते हैं फलत उनके समीक्षात्मक निबन्ध कई शलियो मे आबद्ध हैं। गम्भीर से-गम्भीर साहित्यिक विषय की चर्चा उन्होने इस प्रकार की है, जसे कोई कहानी कहने जा रहे हो। सस्मरणो, अनुभवो और कथा-सूत्रो के समावेश से उनके निबन्धो मे अद्भुत आत्मीयता आ गई है। 'शेखर से साक्षात्कार

---

१ 'दृष्टिकोण', पृ० ७४

२ वही, पृ० ११

और 'नेता एवं प्रश्नोत्तरी' शीर्षक निबन्ध अभिनव शैली के उदाहरण हैं जिनमें आत्मीयता का तत्त्व सर्वोपरि है। उनके निबन्धों की एक अन्य विशेषता स्पष्टोक्ति जनित सजीवता है। 'दलील और जलील', 'हिन्दी पाठकों के नाम', 'कठघरे में', 'ज्ञानदान' आदि निबन्धों में आत्म-समीक्षा की शैली को सफलतापूर्वक अपनाया गया है। ये निबन्ध पत्र, प्रश्नोत्तर, अभिभाषण आदि पद्धतियों के भी सफल उदाहरण हैं। कथन और कथन शैली की मौलिकता उनके निबन्धों की अनिवार्य प्रवृत्ति है, यद्यपि यह सत्य है कि इसके फलस्वरूप कुछ निबन्ध यत्र-तत्र दुरूह भी हो गए हैं।

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र जी ने अधिकतर सामाजिक विषयों पर निबन्ध रचना की है, किन्तु 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' (१९५३) तथा 'ये और वे' (१९५४) में उनके समीक्षात्मक निबन्ध भी सुलभ हैं। इनमें से प्रथम कृति के अनेक निबन्धों की रचना सन् १९२३ से १९४७ की अवधि में हुई थी,[1] किन्तु निबन्धों के साथ रचना काल का निर्देश न होने के कारण यहाँ उन पर समग्र रूप में विचार किया जायगा। इस संकलन में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के आलोचनात्मक निबन्ध हैं और इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये वैयक्तिकता और आत्मीयता से अनुप्राणित हैं तथा इनमें शास्त्रीय गम्भीरता का अभाव है। वस्तुतः जैनेन्द्र जी समीक्षा में परिपार्श्व के प्रति चेतना और स्वच्छन्दता को आवश्यक मानते हैं "वस्तु को अपनी पारिपार्श्विक परिस्थिति से तोड़कर, उसको अपने आपमें एक बन्द वस्तु मानकर आलोचना-व्यापार चलाने की पद्धति से मैं सहमत नहीं हूँ।"[2] इस दृष्टिकोण से प्रभावित समीक्षात्मक निबन्धों में ललित अंशों का स्वभावतः समाहार होगा।

जैनेन्द्र जी ने समीक्षात्मक निबन्धों की रचना इतनी सरस, स्वाभाविक और आत्मीयतापूर्ण शैली में की है कि सर्वत्र भावरम्य सहज वार्त्तालाप का आनन्द मिलता है। उन्होंने निबन्धों में भाषण शैली, पत्र शैली, प्रश्नोत्तर शैली, वार्त्ता शैली आदि का विविधता और कुशलता के साथ प्रयोग किया है। उनके

---

१ देखिए 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', प्रस्तावना, पृष्ठ ६

२ 'ये और वे', पृष्ठ ६६

समीक्षात्मक निबन्धों की एक अन्य विशेषता यह है कि इन पर सर्वत्र उनकी दार्शनिकता का वातावरण छाया रहा है। किन्तु, यह दार्शनिकता निबन्धों के लालित्य में बाधक न होकर अतिरिक्त रोचकता लाने में सहायक सिद्ध हुई है। 'ये और वे' में कुछ व्यक्तित्व संस्मरण हैं जिनमें से सात का सम्बन्ध साहित्यकारों से है। इन निबन्धों में मुख्यतः व्यक्तित्व का निरूपण है, किन्तु प्रसंगवश इन साहित्यकारों की मान्यताओं और इनकी उपलब्धियों का विश्लेषण भी किया गया है। 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर', 'जयशंकर प्रसाद' और 'महादेवी वर्मा' शीर्षक निबन्धों की रचना प्रश्नोत्तर शैली में हुई है जो निश्चय ही जैनेन्द्रजी की मौलिक प्रवृत्ति है। प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र सम्बन्धी निबन्धों में संवाद शैली का रोचक प्रयोग हुआ है। 'शुक्लजी की मानसिक भूमि' में उन्होंने आचार्य शुक्ल के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के अतिरिक्त कहीं कहीं उनसे मतभेद भी प्रकट किया है, जिससे निबन्ध में समीक्षक के व्यक्तित्व की प्रखरता स्पष्ट हो गई है। वस्तुतः उनकी शैली के मुख्य गुण तार्किकता और विश्लेषणप्रियता हैं। उदाहरणस्वरूप निम्नस्थ उक्ति देखिए "कवि में साधारण व्यक्ति से क्या विशिष्टता है? शायद यह कि वह भावुक अधिक होता है। भावुक अधिक, इसमें गर्भित है कि सहनशील कम। दृढ़ की जगह उसे कोमल होना चाहिए।"[1]

रामविलास शर्मा

डा० रामविलास शर्मा द्वारा लिखित समीक्षात्मक निबन्ध अधिकतर स्वतन्त्रता-परवर्ती काल के हैं। 'संस्कृति और साहित्य' (१९४९), 'भाषा, साहित्य और संस्कृति' (१९५४), 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (१९५४), 'लोकजीवन और साहित्य' (१९५५), 'स्वाधीनता और राष्ट्रीय साहित्य' (१९५६), 'विरामचिह्न' (१९५७) आदि उनके उल्लेखनीय निबन्ध-संकलन हैं। जनवादी आलोचक होने के नाते वे साहित्य में जनवादी प्रवृत्तियों के पोषक हैं। स्वाभावतः उनके निबन्धों में लालित्य भी जनवाद के सन्दर्भ में ही व्यक्त हुआ है। 'प्रेमचन्द की दसवीं वर्षी' निबन्ध में सरकार, जनता और पूँजीवाद के त्रिकोण को दृष्टि में रखते हुए प्रेमचन्द के साहित्य का विहंगावलोकन इसका उदाहरण है।[2] उनकी

---

१ 'ये और वे', पृष्ठ ८०

२ देखिए 'विरामचिह्न', पृष्ठ ३५–४१

कृतियों का अनुशीलन करने पर जहाँ हम कुछ रचनाओं को मुख्य तथ्यों की आग्रह-पूर्ण स्थापना के कारण लेख की संज्ञा देना चाहेंगे, वहाँ उनकी विशिष्ट शैली में लिखित समीक्षात्मक निबन्ध भी सहज ही ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। इस दृष्टि से उनके अन्तिम तीन निबन्ध संग्रह विशेषत उल्लेखनीय हैं।

अपने समकालीन निबन्ध लेखकों से रामविलास जी दो बातों में भिन्न हैं एक तो उन्होंने अपने मत की पूर्वाग्रहयुक्त स्थापना की है और दूसरे, अपने से विरोधी मत रखनेवालों पर तीव्र व्यग्य प्रहार किए हैं। प्रगतिवादी क्षेत्र के बाहर के लेखकों में उन्होंने जैनेन्द्रकुमार, सुमित्रानन्दन पन्त, शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रभृति साहित्यकारों की कटु समीक्षा की है।[1] उदाहरणस्वरूप 'भारतीय संस्कृति बनाम मार्क्सवाद' निबन्ध में पन्त जी के विषय में यह टिप्पणी देखिए "पन्त जी यदि अपने अन्तर्चेतनावाद से लोगों को बहलाना चाहते हैं तो कुछ दिन कोशिश करके और देख लें।"[2] निश्चय ही इस शैली में साहित्यिक सन्तुलन और मर्यादा का अभाव है। कुछ निबन्धों में उन्होंने रांगेय राघव, शिवदानसिंह चौहान प्रभृति प्रगतिवादी समीक्षकों के प्रति भी तीव्र मतभेद व्यक्त किया है, जिसकी सराहना नहीं की जा सकती।[3] फिर भी, यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने कुछ ऐसे ललित निबन्ध भी लिखे हैं जिनमें या तो लेखक के कृतित्व की तात्त्विक समीक्षा के प्रसग में व्यक्तित्व की स्फुट झाँकी प्रस्तुत की गई है अथवा मुख्यत व्यक्तित्व निरूपक निबन्ध में प्रसगवश कृतित्व की समीक्षा हुई है। 'विरामचिह्न' में प्रेमचन्द, निराला और बाबू गुलाबराय सम्बन्धी निबन्ध इसके उदाहरण हैं। भाव-सौरस्य और शैलीगत मनोरमता की दृष्टि से निम्नलिखित अवतरण द्रष्टव्य है

(अ) "निराला जी की कविता नए युग की आँखों से यौवन को देखती है। नायक नायिकाओं की रसरीति के बहुत से वर्णन हुए, पर यहाँ एक नवीन सौन्दर्य है। यौवन का ज्वार हृदय सीमाओं के ऊपर उफन रहा है और सामने कवि-संसार की चिरपरिचिता और चिरपूजिता नारी एक नवीन सौन्दर्य लेकर अवतरित हुई है। इस कविता में वियोगी की गर्म आहें नहीं हैं, आँसुओं की वृष्टि नहीं है, वियोग में भी मिलन के लिए उद्दाम वासना है।"[4]

---

१ देखिए 'विरामचिह्न,' पृष्ठ ६४, १७८–१८१

२ 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ', पृष्ठ ५६

३ देखिए वही, पृष्ठ २८–२६, ३६–३७

४ 'विरामचिह्न', पृष्ठ ६८–६६

(आ) "कभी कभी करुणा और हास्य ऐसे मिल जाते हैं जैसे बच्चा की एक आँख मे आँसू और दूसरी म हँसी।"[1]

प्रकाशचन्द्र गुप्त

आलोच्य काल म श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के तीन निबन्ध सकलन प्रकाशित हुए ह 'आधुनिक हिन्दी साहित्य एक दृष्टि (१९५२), 'हिन्दी साहित्य की जन वादी परम्परा' (१९५३) और 'साहित्य धारा (१९५६)। इनम हिन्दी-साहित्य की कालगत मूल प्रवृत्तिया और उनमे अन्तर्निहित जनवादी परम्पराओ का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। उनके निबन्ध प्राय सक्षिप्त हैं और उनमे विषय का प्रत्यक्ष विवचन मिलता है। यद्यपि उन्होने निबन्ध रचना की विभिन्न शैलियो की ओर उतना ध्यान नही दिया है तथापि कुछ विशेषताओ की सहज ही खोज की जा सकती है। उन्होने अधिकाश निबन्धो के आरम्भ मे विषय से सम्बद्ध पृष्ठभूमि दी है, जिसे उनके निबन्ध शिल्प का एक अग माना जा सकता है। 'सूर साहित्य', 'प्रियप्रवास', 'प्रेमचन्द का साहित्य' आदि ऐसे ही निबन्ध हैं जिनमे आरम्भ म तत्कालीन सामाजिक परिवेश अथवा जनजागरण की चर्चा की गई है।[2]

गुप्त जी न कुछ निबन्धो के आरम्भ म वैयक्तिक सस्मरण की शली को भी स्थान दिया है। 'पन्त के काव्य की प्रगति (साहित्य धारा) इस दृष्टि से उल्लेख नीय रचना है। 'हिन्दी कविता और प्रयोगवाद' (साहित्य धारा) निबन्ध का आरम्भ प्रश्न शैली म किया गया है जिसमे पाठक की जिज्ञासा उदबुद्ध होती है। उनके कुछ निबन्धो म गद्यकाव्य की शैली भी सुलभ है। उदाहरणस्वरूप पन्त जी के विषय म यह उक्ति दखिए "प्रथम काल म कवि न वीणा के तार छुए थे, उसकी कोमल कल्पना न प्रकृति का हास विलास देखा था, उसकी दृष्टि व्योम-विहारिणी थी।"[3] वस्तुत गुप्त जी की समीक्षा शली के अपने स्वतन्त्र तत्त्व हैं उनके निबन्ध न पाडित्य के बोझ से दबे हैं, न निष्कम्प निरूपण से। उनकी शैली वस्तुपरक है, जिसम रागात्मकता के प्रति कही कोई आसक्ति नही है और साथ ही कही कोई 'ननु नच' भी नहीं है। जो कुछ उन्हे कहना होता है, उसे वे

१ 'विरामचिह्न', पृष्ठ १५४
२ दखिए 'साहित्य धारा,' पृष्ठ ६०–६१, ६५–६६, ७३–७४
३ वही, पृष्ठ ६४

सीधी सरल भाषा मे कह देते हैं। अन्य प्रगतिशील आलोचको की अपेक्षा उनका दृष्टिकोण उदार है और दलगत राजनीति का शिकजा उन पर अधिक नही है। इसीलिए उनकी समीक्षा पर प्रगतिवाद का प्रभाव होते हुए भी साहित्यिक मान दण्डो और सौन्दर्य-बोध का सर्वथा अभाव नही है।

शिवदानसिंह चौहान

प्रस्तुत निबन्ध मे श्री शिवदानसिंह चौहान के दो निबन्ध सकलन विचारणीय है 'साहित्यानुशीलन' (१६५५) और 'आलोचना के मान' (१६५८)। 'साहित्यानुशीलन' मे चौंतीस निबन्ध हैं, जिनमे से सन १६४७ के बाद लिखे गए समीक्षात्मक केवल सत्रह निबन्ध हैं। इनमे साहित्य की विविध विधाओ, लेखको, कवियो और ग्रन्थो पर जनवादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है तथा समीक्षक की दृष्टि अधिकतर विषय के तात्त्विक विवेचन पर केन्द्रित रही है। फिर भी, समीक्षात्मक निबन्ध के लिए अपेक्षित शैली बोध निम्नलिखित तीन निबन्धो मे अत्यन्त स्पष्ट है 'कबीर युग चितन', 'नई काश्मीरी कविता' तथा 'मौत और दोशीजा'। इनम समकालीन वातावरण, आत्मीयता और लेखक के व्यक्तित्व का सुन्दर समाहार मिलता है। 'मौत और दोशीजा' वार्त्ता शैली म लिखा गया निबन्ध है, जिसमे विषय की सजीवता के लिए उर्दू-शब्दावली का औचित्यपूर्ण प्रयोग किया गया है। विषयानुरूप भाषा शैली की दृष्टि से यह निबन्ध वर्तमान कालिक समीक्षात्मक निबन्धो मे निश्चय ही उल्लेखनीय है।

'आलोचना के मान' मे लेखक के बारह निबन्ध सकलित हैं, जिनम से कुछ मे गद्य की सरसता अथवा रागात्मक तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट है। 'पन्त-काव्य का मूल्याकन' और 'यशपाल प्रगतिशील साहित्यकार' म व्यक्तित्व, आत्मीयता और परिवेश की त्रिपुटी है जिससे निबन्ध विचार बोझिल नही हो पाए हैं। 'आलोचना के मान' निबन्ध मे इन तीनो विशेषताओ के अतिरिक्त भाषण शैली का पुट भी विद्यमान है, किन्तु विचार गाम्भीर्य और अतिविस्तार के कारण इसमे उतनी रोचकता नहीं आ पाई है। 'साहित्यकार की आस्था' निबन्ध का आरम्भ लेखक की जीवन घटनाओ की विस्तृत प्रस्तुति से हुआ है, किन्तु यह विषयान्तर निबन्ध को समझने मे पृष्ठभूमि के रूप म सहायक है। 'माटी, अँखुआ, दल शीर्षक निबन्ध की रचना सस्मरणात्मक शैली मे हुई है, किन्तु इसम साहित्य विषयक सन्दर्भ बहुत कम हैं। 'अश्क का लाहौर' म उन्होने अश्क के उपन्यासो मे

चित्रित लाहौर का चित्र प्रस्तुत किया है। लालित्य, कला और स्पष्टवादिता की दृष्टि से यह उनके सबसे सुन्दर निबन्धों में गिना जा सकता है।

नामवरसिंह

डॉ० नामवरसिंह के समीक्षात्मक निबन्ध 'इतिहास और आलोचना' (१९५६) मे सकलित है। 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियां' (नवीन सस्करण, १९६२) मे भी उनके चार निबन्ध है, किन्तु इनमे उनका विचारक रूप प्रमुख है। फलत इनमे उस कोटि के लालित्य का सर्वथा अभाव है जो 'इतिहास और आलोचना' के प्राय प्रत्येक निबन्ध की सहज विभूति है। उनके निबन्धो की सामान्य विशेषता यह है कि उनमे वैचारिक धरातल और शिल्प की दृष्टि से सहज व्यावहारिकता मिलती है। विषय पर गम्भीरता का आच्छादन न रखकर उन्होने कृति अथवा लेखक के विषय मे अपनी प्रतिक्रियाओ को निस्सकोच व्यक्त किया है। इसलिए उनके निबन्धो मे आत्म सगोपन की प्रवृत्ति के स्थान पर आत्मोद्घाटन पर बल मिलता है, भले ही उन्हे इसके लिए अप्रिय स्पष्टवादिता अथवा कटु-तिक्त व्यग्य का आश्रय लेना पडा हो। उदाहरणस्वरूप 'नई कविता की भाषा' शीर्षक लेख से यह उद्धरण देखिए "पुराने घिसे शब्दो मे नया अर्थ भरने की कोशिश भी पेड काटकर पल्लव सींचने की तरह है।"[1]

डॉ० नामवरसिंह ने कुछ निबन्धो मे जैनेन्द्र जी की भाति तर्क शैली का भी सुन्दर समावेश किया है। परिवेश के सूक्ष्म विश्लेषण और मुहावरो के विदग्ध प्रयोग के फलस्वरूप इस शैली के निर्वाह मे उन्हे पर्याप्त सफलता मिली है। 'अनुभूति और वास्तविकता' इसी कोटि का उल्लेखनीय निबन्ध है। पाठक की जिज्ञासा को उदबुद्ध करने की इच्छा से उन्होने निबन्धो के आरम्भ मे प्राय रोचक शैली-रूपो को प्रस्तुत किया है। 'व्यापकता और गहराई' शीर्षक निबन्ध के आरम्भ की निम्नलिखित पक्तियो मे यह सिद्ध हो जाता है कि उनके समीक्षात्मक निबन्धो मे लालित्य अथवा व्यग्य को प्रचुर स्थान प्राप्त है 'अक्सर देखते हैं कि पानी के सोते की तरह लेखक भी साफ होता है तो उथला कहा जाता है और गदला होता है तो गहरा। इसका ताजा नमूना यह है कि "आलोचना" के सम्पादक अपने को गहरा बता रहे हैं और प्रेमचन्द को सतही। प्रेमचन्द का दोष यह है कि उन्होंने समस्याओं का 'सरल समाधान' दिया है। परन्तु इसी 'सरल

---

1 'इतिहास और आलोचना', पृष्ठ ९५

समाधान पर गहरी समझ जाने वाले उपन्यासकार जैनेन्द्रकुमार मुख्य हैं।"

निष्कर्ष

बिना नही रहते। स्पष्ट ह कि समीक्षात्मक निब ध मे पाण्डित्य, दशन और कोरे सिद्धान्ता को ही आधार न मानकर साहित्य सजन की वास्तविक भावभूमि को भी दष्टि मे रखना होता है।

ज्ञान का साहित्य

महेन्द्र चतुर्वेदी

अर्थ अध्ययन की आवश्यकता

हिंदी मे 'ज्ञान का साहित्य' अथवा 'ज्ञानात्मक साहित्य' पदोच्चय का प्रचलन सुप्रसिद्ध पाश्चात्य आलोचक डिक्विसी की प्रेरणा से हुआ है। अपने साहित्य-सिद्धात का प्रतिपादन करते हुए उन्होने वाड्मय का विभाजन दो प्रमुख वर्गों म किया है शक्ति का साहित्य और ज्ञान का साहित्य। डिक्विमी के अनुसार ज्ञान वह सत्य है जिसका बोध तर्क बुद्धि[1] से हो सकता है—वस्तुत वह सूचना है, विज्ञान है। परतु 'शक्ति' केवल तर्कबुद्धि से ग्राह्य नही—वह सत्य के प्रति गहरी सहानभूति है और यह सत्य ज्ञान के सत्य की अपेक्षा उच्चतर सत्य है। इस 'सत्य' की विशेषता यह है कि वह 'जड से जड मानस के लिए भी सर्वथा नूतन कभी नही होता।'[2] तात्पर्य यह कि 'ज्ञानात्मक साहित्य' का सत्य शाश्वत और अखण्ड नही होता।

शक्ति और ज्ञान का इस प्रकार का विभेदीकरण पाश्चात्य चितन की ही विशेषता नही। भारतीय काव्य शास्त्र के अतर्गत भी राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमासा' मे वाड्मय के दो भेद किए है जिनकी व्याप्ति की सीमाएँ व ही है जो 'शक्ति के साहित्य' और 'ज्ञान के साहित्य' म अतर्भूत है। राजशेखर न इन्ह क्रमश 'काव्य' और 'शास्त्र' के नाम अभिहित किया है।[3] इस प्रकार 'शास्त्र' के रूप मे भारतीय वाड्मय के अतर्गत 'ज्ञान के साहित्य' का अस्तित्व रहा है और उसकी विपुल कल्पना है। इन दोना मे क्षेत्र और प्रयोजन भेद सर्वथा स्पष्ट है। शास्त्राभिनिवेश अथवा पाडित्य तथा कवित्व भिन्न वृत्तियो के परिणाम है और इनमे कोई अनिवार्य अन्योन्याश्रय सबध नही।

ज्ञानात्मक साहित्य का इतिहास अपने आपम बहुत महत्वपूर्ण है। वस्तुत मानव जाति का सच्चा इतिहास राजा महाराजाओ के सघर्ष, आक्रमण-प्रत्या

---

१ Discursive Intellect,

२ देखिए—'Poetry of Pope', De Quincey, XI, 55

३ देखिए—'काव्यमीमासा', राजशेखर द्वितीय अध्याय (शास्त्र निर्देश)

त्र मण तथा राज्यों और राजवशो के उत्थान पतन मे निहित नही वरन् अतीत चि तन और अतीत की विचार-सम्पदा म निहित है—प्रतिभा के विलक्षण व्यापारो मे, भावना और आस्था की सिद्धियो मे। यदि इतिहास ज्ञान विज्ञान के निर न्तर गतिशील चरण चिह्नो की झाकी प्रस्तुत न कर तो वह इतिहास न होगा—ये गतिशील चरण ही बढत हुए हमारे आज के युग म चले आए है, अनक प्रकार की बौद्धिक सिद्धिया और उपलब्धिया इ हीके माग की घटनाएँ है। ज्ञान विज्ञान का इतिहास मानव सभ्यता के इतिहास का अभि न अग है और चूकि ज्ञान विनान की अभिवृद्धि अतीत के सचित अनुभवो के आधार पर ही हाती है, अत वह स्वय विज्ञान के अध्ययन का भी एक मूलभूत तत्त्व है। ज्ञानात्मक साहित्य के इतिहास की महत्ता इसी नाते है।

पृष्ठभूमि

'ज्ञान के साहित्य' के रूप म आज हमे जो वविध्यपूण कृतित्व उपलब्ध होता है, वह प्राचीन शास्त्रो को आत्मसात करता हुआ आग बढा है। विगत युगा मे भी ज्ञान विज्ञान के चरण सवथा स्थिर न थे पर तु इस युग मे नय नये क्षेत्रो का उदघाटन हाता चला गया है। प्राचीन भारत म हि दू चि तन न अनेक दिशाओ को अपनी परिधि मे समेट लिया था और उसके परिप्रेक्ष्य मे हम आज की उपलब्धियो और अभावो को एक दूसरे पहलू से भी देख परख सकते ह। प्राचीनो ने अथ शास्त्र, इतिहास, राजनीति, नागरिक-शास्त्र, वार्ता शास्त्र, शिल्प शास्त्र, दशन नीति शास्त्र, धम शास्त्र, छ द शास्त्र, काम शास्त्र, काव्य-शास्त्र आदि पर विशद विवेचन अध्ययन प्रस्तुत किये थ जिनम उनकी अतिशय प्रबुद्ध दष्टि और गहन चिन्तनशीलता का परिचय मिलता है। प्राचीन मनीषियो के चि तन के वैविध्य और व्यापकता प्रमाण इस बात स मिलता है कि वराहमिहिर (५०५-५८७ ई०) की 'बृहत सहिता' म—जिसे अपने युग का 'विश्वकोश' कहा गया है—ऋतु विज्ञान, नक्षत्र विद्या, वास्तु शास्त्र से लेकर नगर-परियोजना और राज्य-सगठन तक की गम्भीर मीमासा की गई है। यही बात 'शुक्रनीति' के सबध मे सत्य है। आर्यों ने अपन जीवन के आरम्भिक काल म हो ज्ञान विज्ञान, विविध विद्याओ एव कलाओ के क्षेत्र म बडी प्रगति की थी और तब से शताब्दियो तक रसायन, चिकित्सा, आयुर्वेद, ज्योतिष, शरीर रचना शास्त्र आदि का विकास-क्रम अविच्छि न गति से चलता रहा। परतु मध्ययुग मे आकर शनै शनै उनका

ह्रास हो गया। विविध वृत्ति व्यवसायो ने, शिल्प कलाओ और विद्याओ ने आनुवशिक रूप ग्रहण कर लिया और वे निम्न वर्णों मे सीमित हो गइ। समाज के उच्चतर एव बौद्धिक वर्गों के इस प्रकार इनसे नाता तोड लेने का परिणाम यह हुआ कि भौतिक जागतिक व्यापारो की काय कारण-श्रृखला का ज्ञान, 'क्यो' और 'कसे' का विज्ञान सम्मत बोध छिन्न भिन्न हो गया। जिज्ञासा और अन्वेषण की वृत्ति मरने लगी और इस देश ने प्राय कुछ शताब्दियो के लिए प्रयोगात्मक एव आगममूलक विज्ञानो की ओर से मुह मोड लिया। भारत की बौद्धिक भूमि किसी बॉयल, किसी न्यूटन, किसी गैलिलियो अथवा किसी डार्विन के अवतरण के लिए नतिक दृष्टि से सवथा अनुपयुक्त हो गइ।

ज्ञान के साहित्य की भूमिका

हिन्दी मे ज्ञानात्मक साहित्य के विकास के लिए परिस्थितिया कभी कभी अनुकूल नही रही। जब से यह भाषा अस्तित्व म आई और वाड मय मे इसका उपयोग होने लगा तभी से देश की ऐतिहासिक राजनीतिक सामाजिक परिस्थितिया ऐसी रही कि विविध विज्ञानों विद्याओ को न कभी प्रोत्साहन मिला, न उनके विकास का कभी व्यवस्थित प्रयास हुआ। वस्तुत हमारे यहा समूचा मध्ययुग आस्था और भक्ति का युग था जिसके दूरवर्ती छोर पर शब्द निर्विवेक शौय और पराक्रम की प्रशस्ति का साधन था और निकटवर्ती छोर पर ऐश्वय विलास की मोहान्ध क्रीडाओ का पोषक और प्रेरक। इन युगो की मनोवृत्ति जिज्ञासा और प्रश्न के एकान्तत विरुद्ध थी। आस्था और भक्ति के साम्राज्य मे प्रश्न और शका के लिए अवकाश नही होता और विज्ञान का भवन प्रश्न, शका और जिज्ञासा की शिलाओ पर ही निर्मित होता है। इसके लिए यदि सम्पूणत राष्ट्र मनोवृत्ति को दोष दिया जाय तो वह भी उचित न होगा—वह अश सत्य ही होगा। राष्ट्र के सम्मुख उस समय प्रश्न था प्राण रक्षा का, जसे तसे अपने अस्तित्व को बनाए रखने का और जागरूक वाणिया ने उसी कतव्य का पालन किया।

परन्तु आधुनिक युग का अभ्युदय नई परिस्थितिया, नय परिप्रेक्ष्य और नये परिवेश लेकर हुआ। इस युग का उदबोधन बौद्धिक था। बाहर के ससार ने भारत मे पदार्पण किया और भारतीय मनीषा गतिमान ससार के प्रमुख प्रवाह मे समन्वित होने के प्रयत्न मे लग गई। राष्ट्र प्राण अन्धकारवाद की जिस मोह निद्रा मे ग्रस्त था, सालस सन्तोष की वह निद्रा अब टूटी। सबसे बडा जो

परिवर्तन आया—वह था जिज्ञासा, प्रश्न और शंका की प्रवृत्ति का उदय—पीछे की बजाय आगे देखने की प्रवृत्ति का उदय। राज्य के प्रत्यक्ष क्रिया-कलाप और अंग्रेजों के परोक्ष उदाहरण से हम प्रगति की भावना से अनुप्राणित हुए। इस नई भावना के फलस्वरूप प्रशासन, धर्म, शिक्षा, उद्योग सभी क्षेत्रों मे उन्नयन के प्रयत्न हो उठे।

इस नये युग मे समाज के आधुनिकीकरण के फलस्वरूप देश मे पुनर्जागरण हुआ। भारत अपनी आधुनिकता के लिए—और यह 'आधुनिकता' शब्द अपने आपमे बहुत साभिप्राय और सारगर्भित है—पूरी तरह इसी पुनर्जागरण का ऋणी है। यह पहले बौद्धिक जागरण के रूप में रहा और इस धरातल पर इसने हमारे साहित्य, शिक्षा, विचार और कला को प्रभावित किया। अगली पीढ़ी मे इसने नैतिक शक्ति का रूप ग्रहण करके समाज और धर्म को सुधारा और तीसरी पीढ़ी मे आर्थिक आधुनिकीकरण भी उसीकी परिणति है।[1]

इस संबंध मे कोई विमति नही हो सकती कि हिन्दी मे ज्ञान के साहित्य का अभाव है और यह अभाव अत्यंत दुःखदायी है—और यहाँ प्रसंगवश यह भी कह देना अनुपयुक्त न होगा कि यह स्थिति हिन्दी की ही नही, सभी भारतीय भाषाओं की दरिद्रता इसमे परिलक्षित होती है। जीवन के विविध धरातलों पर अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा के विरोध मे सबसे प्रबल तर्क यही दिया जाता है कि उनमे वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य का अभाव है। बात सत्य है किन्तु यह तो एक विषमचक्र है—जब तक जीवन के इन विविध पक्षों में अर्थात् शिक्षा के क्षेत्र मे, प्रतियोगी परीक्षाओं के क्षेत्र में, प्रशासन, विधान और न्याय के क्षेत्रों मे—अपनी भाषाओं के माध्यम से चिन्तन और अभिव्यक्ति हमारा स्वभाव नही हो जायगा, तब तक इस प्रकार के साहित्य की रचना कैसे हो सकती है? इस दरिद्रता के लिए हमारे प्रशासकों, शिक्षा विशेषज्ञों, विधान निर्माताओं सभी की उपेक्षा क्या उत्तरदायी नही है? जापान का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपनी भाषाओं के पक्ष में एक बहुत जोरदार अपील गांधी जी ने १६४२ मे 'हरिजन' में की थी 'जापान मे क्या हुआ है जानते हो? जापानी स्कूलों कालेजों के हजारों तरुण लडकियाँ अंग्रेजी के माध्यम से नही, जापानी के माध्यम से शिक्षा पाते हैं। वे अंग्रेजी या दूसरी यूरोपीय भाषाओं का बहिष्कार नहीं करते, पर

---

१ 'India through the Ages'—Dr Jadunath Sarcar, पृष्ठ ६१

वे अपनी शक्ति का मितव्यय करते हैं। जापानियों के द्रुत विकास का कारण यह है कि पश्चिमी पद्धति का ज्ञानार्जन कुछ लोगों तक सीमित है और उसका उपयोग अभिनव ज्ञान को अपनी मातृभाषा के माध्यम से जापानियों में प्रचारित करने के लिए होता है। यह समझ लेना आसान है कि जापानी कभी अपने आपको नई पद्धति के अनुकूल न ढाल पाते यदि उन्हें विदेशी भाषा को माध्यम के रूप में अपनाना पड़ता।"[१]

तात्पर्य यह कि यह मानते हुए भी कि हिन्दी में ज्ञान के साहित्य का अभाव है, मैं यह कहना चाहता हूँ कि उसका कारण यह किसी भी तरह नहीं समझ लेना चाहिए कि हिन्दी में वैसी क्षमता नहीं है। वस्तुतः उसके अभाव का कारण बहुत हद तक हमारी अपनी उदासीनता है—व्यक्ति की नहीं, राष्ट्र की, और विशेष रूप से हिन्दी-भाषी समुदाय की।

विदेशी भाषाओं में ज्ञान के साहित्य के प्रकाशन की जो स्थिति है, उसका कुछ आभास हमें डॉ॰ दौलतसिंह कोठारी के इस वक्तव्य से हो सकता है :

"इस समय प्रायः प्रति वर्ष लगभग दस लाख वैज्ञानिक एवं तकनीकी निबन्ध और ५० हज़ार पुस्तकें तथा इतने ही प्रतिवेदन प्रकाशित होते हैं और अनुसंधान के परिणामों के सम्प्रेषण तथा वैज्ञानिक ज्ञान के विनिमय की दो सबसे अधिक व्यापक भाषाएँ हैं अंग्रेज़ी और रूसी। इन भाषाओं की जो विशिष्ट स्थिति है उसमें इन भाषाभाषी लोगों का योगदान प्रतिबिम्बित होता है। वैज्ञानिक साहित्य का ५० प्रतिशत भाग अंग्रेज़ी में प्रकाशित होता है।"[२]

हिन्दी में, और सभी भाषाओं में, इसकी तुलना में स्थिति अत्यन्त दयनीय और शोचनीय है। ज्ञानात्मक साहित्य के इस अभाव के विविध कारणों का विवेचन विश्लेषण मैं उसकी प्रवृत्तियों और समस्याओं के अध्ययन तथा उसके सर्वेक्षण के पश्चात् करूँगा।

ज्ञान का वर्गीकरण

मानव ज्ञान के अनेक वर्गीकरण किए गए हैं और ज्ञान विज्ञान की शाखाओं

---

१ राजकीय भाषा आयोग के (अंग्रेज़ी) प्रतिवेदन से उद्धृत, पृष्ठ २६

२ 'Problems of scientific and technical terminology in Indian languages'—Dr D S Kothari, पृ०—१

प्रशाखाओ की गणना छह सौ तक[1] पहुच गई है। या तो इस सम्बन्ध मे वर्गीकरण के अनेक भेद हो सकते हैं और सभी विद्वान् अपने मत के पक्ष मे तर्क प्रस्तुत कर सकते ह किन्तु सुविधा के लिए एक सहज सरल और प्रचलित वर्गीकरण के अनुसार ज्ञान के तीन प्रधान विभाग किये जा सकते हैं प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान तथा मानविकी (Humanities)। प्राकृतिक विज्ञान के अन्तगत एक ओर तो भौतिक विज्ञानो का समावेश है जिनके विवेच्य विषय हैं सृष्टि के व्यापार जैसे भू विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन तथा नक्षत्र विज्ञान, और दूसरी ओर जैव विज्ञानो का—जैसे प्राणिविज्ञान, वनस्पति विज्ञान का। सामाजिक विज्ञानो म वे विषय आते हैं जिनका विवेच्य मानव समाज का उदभव, सगठन और विकास है अर्थात जिसका प्रतिपाद्य समष्टि मानव है ऐसा मानव जो समूह का अग है। मानविकी के अन्तगत ज्ञान की व शाखाएँ आती हैं जिनकी प्रवृत्ति मनुष्य के मानवीकरण की ओर होती है।[2] इन मानव विद्याओ का उद्भव उन परिवतनो मे से हुआ जो मध्य युग पर पटाक्षेप होते समय पश्चिमी यूरोप मे कला, साहित्य और विचार के क्षेत्र मे घटित हुए। इनम प्राचीन गौरव ग्रथो का, ललित साहित्य तथा उन समस्त प्रभावो का अन्तर्भाव है जो मानव मन की मुक्ति के प्रति सचेष्ट होते ह। मानविकी बहुत ही नमनीय शब्द है क्योकि ऐसी विधाएँ तो अधिकाश होती हैं जो सूचनापरक एव उपयोगमूलक मूल्यो से भिन्न सौन्दयपरक एव आध्यात्मिक मूल्यो की सिद्धि मे सहयोग दें। यूरोप म पुनर्जागरण से लेकर उन्नीसवी शती तक मानववाद की छाप सभी क्षेत्रो म इतनी गहरी और व्यापक रही कि प्राय सवत्र शिक्षा सस्थाओ मे यह 'मानविकी' शब्द समूचे पाठ्यक्रम का पर्याय ही बन गया। यह शब्द चूकि इतना व्यापक और अनिश्चितार्थक था, अत सामाजिक विज्ञानो क भीतर ही इसे अन्तर्भूत करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होने लगी। हम भी यहा सुविधा के लिए दो ही वग स्वीकार करेगे प्राकृतिक विज्ञान, जिसका

---

१ 'Knowledge has been divided into about six hundred special branches —Dr Raghuvira, Comprehensive English Hindi Dictionary पृ०—१७

२ 'Humanities are those branches of knowledge which tend to humanize man', Bining and Bining 'Teaching Social Studies पृ०—१

सम्बन्ध भौतिक प्राकृतिक जीवों—पदार्थों से है और सामाजिक विज्ञान, जिनका सम्बन्ध मनुष्य के क्रिया कलाप एवं सिद्धियों उपलब्धियों से है।

इस विभाजन का तात्पर्य यह कदापि नहीं कि ये दोनों विभाग परस्पर निरपेक्ष हैं। प्राकृतिक विज्ञानों का सामाजिक विज्ञानों में बड़ा भारी योगदान रहता है। एक उदाहरण लीजिए—प्रजनन विज्ञान जीव विज्ञान की एक शाखा है। इसके फलस्वरूप आनुवंशिकता और भविष्य के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई है इससे कालान्तर में सामाजिक स्थितियाँ सुधारने में भी सहायता मिल सकती है। इसी प्रकार, भौतिक विज्ञान के प्रताप से परमाणु शक्ति का अन्वेषण हुआ इसका उपयोग मानव के विकास के लिए भी हो सकता है, विनाश के लिए भी। परन्तु फिर भी ज्ञान के इन दोनों क्षेत्रों—प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञान—को हम एक दूसरे से भिन्न मान सकते हैं, यद्यपि एक की दूसरे पर क्रिया प्रतिक्रिया होती है। प्राकृतिक जगत को हम इसलिए जानते हैं कि हम भौतिक पदार्थों को देख सकते हैं, उनका अनुभव कर सकते हैं उपयोग कर सकते हैं। समाज को उसके विभिन्न पहलुओं और अवस्थाओं में हम देखते समझते हैं क्योंकि हम बुद्धिशाली हैं सामाजिक प्राणी हैं।

सामाजिक विज्ञानों का कई दृष्टियों से प्राकृतिक विज्ञानों से आधारभूत भेद है। सामाजिक विज्ञानों में ज्ञान और विचार का परिमाण और उसकी जटिलता प्राकृतिक विज्ञानों की अपेक्षा कहीं अधिक है। इन दोनों क्षेत्रों में वैज्ञानिक जिन पद्धतियों का प्रयोग करते हैं और जिन निष्कर्षों पर पहुँचते हैं उनमें अनिवार्यतः गुण का भी भेद है और परिमाण का भी।

यहाँ एक विवादास्पद प्रश्न हमारे सामने आता है—सामाजिक विज्ञान विज्ञान है भी या नहीं? इसका उत्तर इस बात पर निर्भर है कि हम विज्ञान की परिभाषा क्या करते हैं। विज्ञान की यदि सामान्य परिभाषा की जाय कि वह 'व्यवस्थित ज्ञान का एक विभाग है' तब तो दोनों में कोई अन्तर नहीं, परन्तु यदि हम विज्ञान की यह परिभाषा करें कि 'वह तथ्यों के पर्यवेक्षण तथा वर्गीकरण से सम्बद्ध अध्ययन की एक शाखा है और विशेष रूप से उसका सम्बन्ध सत्यापनीय सामान्य नियमों की स्थापना से है—मुख्यतः आगम और परिकल्पना द्वारा', तब ज्ञान के इन दोनों क्षेत्रों में भेद हो जाता है विशेष रूप से दोनों की पद्धति के सन्दर्भ में। दूसरे शब्दों में वह—भौतिक जगत के व्यापारों का अध्ययन मानवीय क्रिया कलाप के अध्ययन से सर्वथा भिन्न है क्योंकि मानवीय क्रिया कलाप का अध्ययन करते समय

हम उसके प्रेरणा हेतुओं और मूल्यों पर भी ध्यान रखना होता है। फिर, सामाजिक वैज्ञानिक के निष्कर्षों का बारम्बार प्रयोगों द्वारा सत्यापन सम्भव नहीं जबकि प्राकृतिक-वैज्ञानिक के निष्कर्षों का सत्यापन सम्भव है। विज्ञान मात्र का उद्देश्य एक ही है यथाशक्ति सत्य का सन्धान, और सामाजिक विज्ञानों के सन्दर्भ में यह कार्य कहीं अधिक दुष्कर है। समाज के सन्दर्भ में मानव के जीवन और क्रिया-कलाप का अध्ययन ही सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन का विषय है।

अस्तु, मेरा उद्देश्य यहाँ दोनों के साम्य वैषम्य का निरूपण करना नहीं है। मैंने विवेचन की सुविधा के लिए एक प्रचलित एवं युक्तियुक्त वर्गीकरण ग्रहण कर लिया है ताकि इन दो शीर्षकों के अन्तर्गत हिन्दी में मौलिक और अनूदित ज्ञानात्मक साहित्य का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा सके।

ज्ञान के साहित्य की प्रवृत्तियाँ, मूल्यांकन और समस्याएँ

'प्रवृत्तियाँ' शब्द का प्रयोग मैं यहाँ बिलकुल उसी अर्थ में नहीं कर रहा हूँ जिसमें हम साहित्येतिहास के किसी युग विशेष की प्रवृत्तियों की चर्चा करते हैं। वे प्रवृत्तियाँ युग मानस की प्रवणताओं को, पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों के सन्दर्भ में उसकी अपनी विशिष्टताओं को, रेखांकित करती हैं—वहाँ प्रवृत्तियों का विवेचन विश्लेषण वस्तुतः जातीय मानस के उतार चढ़ाव को पकड़ने का प्रयत्न होता है, गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से भावना के परिवर्तन को व्यक्त करता है। मेरा तात्पर्य यहाँ इतनी बारीकियों में जाने का नहीं और इन बारीकियों में जाना तो तभी सम्भव और सार्थक होता है जब साहित्य का प्रसार एक विस्तृत कालखण्ड में हो, उसमें गुणात्मक भेद प्रभेद हो, और उसका परिमाण भी पर्याप्त हो। मेरा मन्तव्य तो प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत ज्ञान के साहित्य की कुछ विशिष्ट दिशाओं की ओर संकेत करना है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में हम ज्ञान के साहित्य की प्रवृत्तियों का विवेचन दो वर्गों के अन्तर्गत कर सकते हैं—एक विषयगत और दूसरा भाषागत। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ अभाव के उन कारणों का सहज परिणाम हैं जिनका निर्देश मैं पहले कर आया हूँ।

विषयगत धरातल पर ज्ञान के साहित्य की एक प्रवृत्ति जो तुरन्त ही हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है प्राकृतिक विज्ञानों की नितान्त उपेक्षा। हमारे यहाँ अब भी अधिकांश वैज्ञानिकों और प्रशासन-अधिकारियों के मन में यह बात बड़ी गहरी जड़ें जमाये हुए है कि विज्ञान का पठन पाठन भारतीय भाषाओं के

माध्यम से सम्भव नहीं है। इसमें अनेक कठिनाइयों का उल्लेख किया जाता है—अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली उनमें कैसे खपेगी? नई संकल्पनाओं के लिए नई शब्दावली का प्रचार कैसे होगा और उन्हें अध्यापक विद्यार्थी कैसे समझ पायेंगे क्योंकि वे तो अंग्रेजी शब्दावली के अभ्यस्त रहे हैं? प्रतिष्ठित प्रतीकों और संकेतों तथा सूत्रों का लेखन कैसे होगा? आदि आदि। वस्तुतः संक्रान्तिकाल में सदा ही अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ सामने आया करती हैं किन्तु उनके कारण कोई अपना मार्ग नहीं त्याग देता। हम अन्तर्राष्ट्रीय शब्दावली को प्रतीक चिह्नों सकेतों और सूत्रों को यथावत् ग्रहण कर सकते हैं। किन्तु इस बद्धमूल धारणा का उच्छेदन तो करना ही होगा तभी ज्ञान के साहित्य की इस दिशा में समृद्धि हो सकेगी। हमारे यहाँ स्थिति अब तक कुछ ऐसी है कि इस प्रकार के साहित्य के प्रकाशन का प्रश्न सीधा शिक्षा के माध्यम के प्रश्न से जुड़ा हुआ है—इसका एक सीधा परिणाम यह है कि विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा का माध्यम बदलने का निश्चय जब तक गम्भीरतापूर्वक क्रियान्वित नहीं होगा तब तक उच्च-स्तरीय विज्ञान ग्रंथों के प्रकाशन को गति नहीं मिलेगी। यों प्रयत्न हो रहे हैं, विज्ञानों पर पुस्तकें प्रकाशित भी हुई हैं और हो रही हैं किन्तु वे पूरा वेग धारण तभी कर सकती हैं तथा लेखक और प्रकाशक को तभी आकर्षित कर सकती हैं जब उन्हें प्रतिफल की आशा बँधे। इस स्थिति का एक और परिणाम यह भी रहा है कि प्राकृतिक विज्ञान विषयक जो ग्रंथ छपे हैं वे भी पाठ्य-पुस्तकों के ही रूप में छपे हैं। पाठ्य पुस्तकों की सारी कमजोरियाँ उनमें विद्यमान हैं। और चूँकि विज्ञान के क्षेत्र में अभी शिक्षा का माध्यम उच्चस्तर पर हिन्दी नहीं, इसलिए ये पुस्तकें अधिक से-अधिक स्नातक स्तर तक की ही हैं।

प्राकृतिक-विज्ञान-साहित्य मूल्यांकन

हिन्दी में प्राकृतिक वैज्ञानिक साहित्य का बहुत अभाव है यह मैं पहले ही कह चुका हूँ। आधुनिक काल में सामाजिक विज्ञानों के साहित्य के निर्माण का प्रश्न तो विगत शती के उत्तरार्ध में हमारे सामने आ गया था किन्तु प्राकृतिक वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण की ओर देश की आर्थिक एवं बौद्धिक परिस्थितियों परम्पराओं के कारण ध्यान नहीं दिया गया। यों भी आध्यात्मिक चिन्तन तो देश विदेश की बौद्धिक धाराओं से विच्छिन्न रहकर हो सकता है किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में चिन्तन के लिए पारस्परिक सम्पर्क एवं ज्ञान का विनिमय आवश्यक होता है—प्रयोगों परी-

क्षणा की आवश्यकता होती है, विविध परिस्थितियों म परिणामा के सत्यापन की की ओर फिर व्यापक सत्या के आख्यान की आवश्यकता होती है। हमारे यहा इन सबका अभाव रहा है और जितना कुछ हुआ भी है अग्रेजी के माध्यम से हुआ है। अत हिन्दी मे ही क्या, सभी भारतीय भाषाआ म प्राकृतिक विनान साहित्य का अभाव है और जब तक उनका उपयोग वनानिको द्वारा अपने दनदिन बौद्धिक जीवन और काय कलाप एव विनिमय मे नही होगा, तब तक यह अभाव बना ही रहेगा।

प्राकृतिक विनाना का विभाजन मूलत दा वर्गों म कर सकते हैं भौतिक विज्ञान और जव विनान अर्थात एक ओर तो वे विनान हैं जिनका सबध मूलत भौतिक जगत् से, उसके जड विस्तार से और उसके विविध व्यापारा से होता है, और दूसर वे जिनका सबध जीव से होता है चाहे उसका स्वरूप सूक्ष्म से सूक्ष्म हो, चाहे विशाल से विशाल। प्रथम वग के अतगत भौतिकी, रसायन, गणित, कपि श्रेन आदि प्रमुख है और दूसरे म प्राणि विज्ञान, वनस्पति विनान, चिकित्सा शास्त्र आदि।

जसा मैं ऊपर कह चुका हूँ मौलिक लेखन का इस क्षेत्र मे प्राय अभाव है और उसका सबसे वडा कारण यही है कि अभी हमारे यहा इस क्षेत्र म मौलिक चिन्तन बहुत कम हुआ है। एक ओर तो अभी विज्ञान-युग की परम्पराएँ सुदीघ और ही सुदढ नही, दूसरी ओर राष्ट्रीयता की चेतना वसी बलवती नही कि स्वभाषा म अभिव्यजना के द्वारा ही परितोष पाए।

भौतिक विनाना मे अधिकाश ग्रथ जो उपलब्ध हैं, माध्यमिक स्तर के है। कुछ गिन चुने ग्रथ ही ऐसे हैं, जो उच्चतर स्तर के हैं। विविध विषया के कुछ परिगणनीय ग्रथो का मैं यहा उल्लेख कर रहा हूँ

भौतिक 'चुम्बकत्व और विद्युतत्व (१९६०), 'ध्वनि अथवा शब्द विज्ञान प्रकाश विज्ञान, तारा भौतिकी (डॉ० निहालकरण सेठी), विज्ञान म क्रांति-१९५८ (लुइ द ब्रोगली), 'शक्ति वतमान और भविष्य (शेरवुड टेलर), 'समस्यानिका के ससार म १९६३ (मॅजत्सफ), 'अधचालक और उनके उपयोग' १९६३' (योफी)।

रसायन 'प्राचीन भारत मे रसायन का विकास १९६०, 'वज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा १९५४, सामान्य रसायन शास्त्र' १९५३ (डॉ०सत्यप्रकाश), रबर १९५४, 'प्लास्टिक, 'कोयला १९५८

'ईख और चीनी' १९५८, 'खाद और उवरक' १९६०, 'पट्रोलियम १९५८ (फूलदेव सहाय वर्मा)।

गणित 'नीहारिकाएँ', 'भारतीय ज्योतिष का इतिहास' १९५६ (डॉ० गोरखप्रसाद), 'शुद्ध घन ज्यामिति प्रवशिका' १९६३ (डॉ० ग म महाजन), 'हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास १९५६, (विभूति भूषण दत्त), गतिविज्ञान भाग १ और भाग २ (१९६५)।

कृषि विज्ञान अधिकाश पाठ्य पुस्तक है और केवल उसी प्रयोजन की पूर्ति करती हैं। अधिकाश म कुछ स्थूल सुविदित तथ्यो के तथा कुछ आधुनिक प्रयोगो के निष्कर्षों के आख्यान का प्रयत्न परिलक्षित होता है।

अन्य भौतिक विज्ञानो मे हिन्दी मे ऐसी कृतियाँ नही हैं जिनका उल्लेख किया जाय।

जव विज्ञानो क अन्तगत स्थिति और भी चिन्त्य है। भौतिकी, रसायन आदि के क्षेत्र मे फिर भी पाठ्य ग्रथ लेखन आदि का कुछ काय हुआ ह यद्यपि वह नगण्य ही है—पर प्राणि विज्ञान वनस्पति विज्ञान आदि के अन्तगत तो प्राय काइ प्रयत्न हुए ही नही। माध्यमिक स्तर पर हिन्दी के माध्यम के रूप म स्वीकृत हो जाने पर इधर कही-कही कुछ प्रयत्न किय गए ह किन्तु व बहुत प्रारम्भिक स्तर के प्रयत्न हैं। प्राचीन चिकित्सा शास्त्र का इधर पुनरुत्थान हुआ है और इस भारतीय शास्त्र की निहित शक्तियो और सम्भावनाओ की स्वीकृति मिली है। किन्तु पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र पर प्राय कोई ग्रथ हिन्दी मे अभी तक नही लिखा गया।

इन विषयो म कुछ ग्रथो का उल्लेख किया जा सकता है

मानव की उत्पत्ति और क्रमिक विकास' १९६३ (माइकेल नव्लुख), 'जन्तु विज्ञान' १९५३ (चम्पतस्वरूप गुप्त),'आयुर्वेद का बृहत इतिहास'-१९ ५, 'रस शास्त्र' (अत्रिदेव), 'एलोपथिक मटेरिया मेडिका'-१९५४ (शिवदयाल गुप्त), आधुनिक चिकित्सा विज्ञान (आशानन्द पञ्चरत्न)।

यो तो आज क युग म विज्ञान का वविध्य अपार है और इस प्राय वशिष्ट्य एव विशेषीकरण का ही युग कहत हैं, किन्तु जसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, वज्ञानिक चेतना के सीमित प्रसार क कारण और भारतीय भाषाओ की प्रश्रय के अभाव म अनेक विज्ञान तो हिन्दी क लिए सवथा अपरिचित हैं अत अब उनम काई साहित्य है ही नही तो प्रस्तुत प्रसग मे उनका उल्लेख करना निरथक ही होगा।

हैं या कई मौलिक ग्रंथों के अथवा कहीं-कहीं तो एक ही के आधार पर ढाले गए हैं। इस संदर्भ में शिक्षामंत्रालय के एतद्विषयक निर्देशों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा जिनके अनुसार चार-पाच मौलिक ग्रंथों के आधार पर एक नया मौलिक ग्रंथ लिखने की पद्धति को मानो अनौपचारिक शासनिक स्वीकृति प्रदान कर दी गई है। मैं समझता हूँ यह परम्परा भावी विज्ञान साहित्यिक उन्नति के लिए तो घातक सिद्ध होगी ही, साथ ही अत्यंत अवज्ञानिक, चिंतनघाती और अनोभन भी है। साहित्यिक 'चग विलोडन'[1] के इस शास्त्रीय प्रतिरूप को एक प्रकार से बौद्धिक मान्यता प्रदान करने का यह प्रयत्न न तो सफल होगा, न इससे विज्ञान साहित्य के निर्माण को कोई गति मिलेगी।

अतः प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञानों दोनों ही के क्षेत्र में प्रधान प्रवृत्ति अनुवाद की है। इस सम्बन्ध में कई समस्याएँ शिक्षा जगत के सम्मुख उपस्थित होती हैं जिनका समाधान किये बिना शास्त्रीय साहित्य के निर्माण को वसी गति नहीं मिल सकती जैसी मिलनी चाहिए। सबसे बड़ी समस्या अंग्रेजी ग्रंथों के अनुवाद अधिकारों की है। मूल प्रकाशकों से अनुवाद के अधिकार प्राप्त कर लेना बड़ी जटिल और विलम्बसापेक्ष समस्या है। हमारे यहाँ अनूद्य पुस्तक विशेषतः या तो इंगलैंड में प्रकाशित होती हैं या अमरीका में। इनमें से भी यदि हम विज्ञान की नई से नई दिशाओं से परिचित रहना चाहें तो अमरीकी प्रकाशनों का विशेष रूप से सहारा लेना होगा और अमरीकी प्रकाशक सरकार को अनुवाद अधिकार देने का स्वभावतः विरोध करते हैं क्योंकि उसमें केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बल मिलता है और उनकी वृत्ति स्वभावतः केन्द्रीयकरण के विरुद्ध है। और यहाँ जैसा कि मैंने पहले विवेचन किया है इस तरह की योजनाएँ, जिनमें निश्चित आर्थिक लाभ की सम्भावना न हो, सरकार ही निर्यान्वित कर सकती है क्योंकि सरकारी नीति के पीछे व्यावसायिक लाभ का दृष्टिकोण नहीं वरन विज्ञान-साहित्य के निर्माण और प्रकाशन का घोषित लक्ष्य है। इसके लिए शिक्षा मंत्रालय ने विविध विश्वविद्यालयों को, गैर सरकारी संस्थाओं को आर्थिक अनुदान दिए हैं ताकि उनकी योजनाएँ फलवती हों और इसमें संदेह नहीं कि आज जो भूमिका प्रस्तुत हो गई हैं, उसे देखकर कहा जा सकता है कि यदि क्रियान्विति के धरातल पर विलम्ब की नीति न अपनाई जायगी, निश्चय ही

१ Plagiarism

होगी—विशेषत विश्वविद्यालयो के लिए।

सामाजिक विज्ञानो के अन्तगत उपलब्धियो के मूल्याकन के लिए मैं प्रमुख विषयो को ही लूगा इतिहास, राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान समाज शास्त्र। इनके अतिरिक्त मैं दो अन्य विषयो के साहित्य का भी सक्षिप्त सर्वेक्षण करूँगा जिन्हे विश्वविद्यालयो म स्वतन्त्र सकायो के रूप म स्वीकृत किया जा चुका है शिक्षा शास्त्र तथा विधि। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विषय भी लिये जा सकते हैं किन्तु समावेश मैंने प्रस्तुत सर्वेक्षण म विस्तार भय स नही किया है उदाहरणार्थ, भाषा विज्ञान। उसके साथ न्याय करने के लिए एक स्वतन्त्र आलेख की आवश्यकता होगी।

इतिहास

सामाजिक विज्ञानो मे सबसे प्राचीन विषय इतिहास है। आदिम मानव की उन परम्पराओ और पुराकथाओ मे से उसका उदभव हुआ जो एक के बाद दूसरी पीढी को विरासत मे मिलती चली आई है। विधिवत इतिहास लेखन की परम्परा हमारे यहा मुसलमान विजेताओ के साथ मध्यकाल मे आइ कि तु उस समय के इतिहास लेखन म पूर्वाग्रहो का बडा प्रबल पुट हुआ करता था। भारत दु युग स आरम्भ होकर हिन्दी मे इतिहास लेखन मे निर तर प्रौढता आती गई। स्वतन्त्रता सघष के युग मे इसकी लोकप्रियता विशेष रूप से बढ गई। पहले के इतिहासो म प्राय अग्रेजी दष्टिकोण का प्रतिफलन होता था कि तु इधर नई दष्टि स विगत का विश्लेषण मूल्याकन आरम्भ हुआ है।

प्राचीनकालीन भारत के इतिहास पर मौलिक ग्रथो म डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का 'पाणिनिकालीन भारत', डा० भगवतशरण उपाध्याय का 'कालिदास का भारतवष'—भाग २(१९५४), डा० शा० ना० व्यास का 'रामायण कालीन समाज' (१९५८), ए० लाल का 'अश्वघोषकालीन भारत', प्रभुदयाल अग्निहोत्री का पतजलिकालीन भारत', मोहनलाल महतो का 'जातककालीन भारत' (१९५८), डा० राजबली पाडे के 'प्राचीन भारतीय सभ्यता और सस्कृति तथा विक्रमादित्य और हि दू सस्कार' (१९५७), डॉ० सत्यकेतु विद्यालकार का 'भारतीय सस्कृति और उसका इतिहास'(१९५६), डॉ० रागेय राघव का 'प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास (१९५३), डॉ० सम्पूर्णान द का 'आर्यों का आदि देश' (१९४९), तथा महापडित राहुल साकृत्यायन के 'बौद्ध सस्कृति'—

(१९५२) के नामो का सादर उल्लेख किया जा सकता है। अनूदित ग्रथा म विशेष उल्लेखनीय है 'प्राचीन भारत का इतिहास'—१९६२ (एम० एम० घोष), 'प्राचीन भारत का इतिहास'—१९५१ (रामशकर त्रिपाठी) 'प्राचीन भारत'—१९६४ (आर० सी० मजुमदार), 'प्राचीन भारत—१९६४ (राधाकुमुद मुकर्जी), मैकडोनेल के' वदिक पुराण कथा, मजुमदार के 'बौद्ध भारत', ह्वाइटस के 'बौद्ध भारत', राधाकुमुद मुकर्जी के 'चन्द्रगुप्त मौय और उसका काल'—१९६२।

मध्यकालीन भारतीय इतिहास पर सबसे महत्त्वपुण काय डा० रिजवी का है। मुसलमान इतिहासकारो ने मध्ययुगीन भारत के सबध मे जो कुछ भी लिखा था, उसके चुने हुए अशो का फारसी से अनुवाद करके आठ बडे बडे भागा म प्रस्तुत किया है और साथ ही इन इतिहासकारो के बारे मे अपना आलोचनात्मक मूल्याकन भी है। इस दिशा मे इलियट और डॉसन के काम की अपेक्षा डा० रिजवी का काम कहीं अधिक महत्त्व का है। 'इन्नेखलदून का मुकदमा' (१९६१) भी उ होने हिन्दी म प्रस्तुत किया है। इस काल पर अनेक ग्रथ भी हैं कि तु डॉ० परमात्मा शरण के मध्ययुगीन भारत, डा० रघुवीरसिंह के 'पूव आधुनिक राजस्थान' और राहुल जी के 'अकबर' के अतिरिक्त अन्यो मे किसी अन्तद ष्टि का परिचय नहीं मिलता। वे पाठय ग्रथ स्तर के है और उनम परम्परागत धारणाओ की ही अभिव्यक्ति हुई है।

अनूदित ग्रथा म डॉ० जदुनाथ सरकार क 'औरगजेब, 'मुगल शासन पद्धति, मुगल साम्राज्य का पतन—४ भाग (१९६१, ६४, ६४, ६४,), 'शिवाजी'—१९६२, 'शिवाजी और उनका युग—१९६४, डा० आशीर्वादीलाल के 'दिल्ली सल्तनत' (१९६२), 'मुगलकालीन भारत और अवध के नवाब' (१९५७), वि० वि० मजुमदार के 'तुक भारत आदि उल्लेख्य हैं। मध्यकालीन भारत के सामाजिक सास्कृतिक पक्ष पर दो अनूदित कृतियाँ—'मुस्लिम भारत की ग्रामीण अथ व्यवस्था'—(मारलड) और 'मध्ययुगीन भरतीय सस्कृति'—(यूसुफहुसन) —उल्लेखनीय हैं।

भारतीय इतिहास के आधुनिक काल पर हिन्दी मे जो मौलिक ग्रथ निकले हैं वे अधिकाशत पाठय पुस्तकीय स्तर क हैं। जिन ग्रथा मे मौलिकता क दशन होते हैं, व हैं इन्द्र विद्यावाचस्पति का 'ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, (१९५९), मन्मथनाथ गुप्त का 'भारतीय क्रातिकारी आदोलन का इतिहास

(१९६०), और पंडित सुंदरलाल का 'भारत में अंग्रेजी राज'। इस काल से संबंधित अनूदित ग्रंथों में रजनी पामदत्त का 'भारत वर्तमान और भावी' (१९५६), मोसले का 'भारत में अंग्रेजी राज के अंतिम दिन' (१९६४) तथा रावर्ट्स का 'ब्रिटिशकालीन भारत का इतिहास' (१९५५) का उल्लेख किया जा सकता है।

स्वतंत्रता के बाद के युग में अनेक ऐसी पाठ्य पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें भारत के सांस्कृतिक इतिहास और उसकी विविध धाराओं को समेटने का प्रयास किया गया है। इस दृष्टि से हिन्दी के मुख्य कवि दिनकर की 'संस्कृति के चार अध्याय' (१९५६) भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर स्वातंत्र्योत्तर युग की एक विशिष्ट उपलब्धि है। भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक जीवन के कुछ विशिष्ट पक्षों और संस्थाओं के बारे में भी अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं। डा० हीरालाल जैन के 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान', डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'मध्यकालीन धर्म साधना' (१९५२) और आचार्य क्षितिमोहन सेन के 'भारतवर्ष में जाति भेद' का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में अनूदित ग्रंथों की संख्या भी पर्याप्त है। भारत के युग विधायक नेता नेहरू जी की 'हिंदुस्तान की कहानी' में भारतीय संस्कृति और उसके इतिहास के संबंध में उनका मूल्यांकन है। लूनिया की 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति का विकास' (१९६४), जदुनाथ सरकार की 'युगयुगीन भारत' (१९५८), डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी की 'हिंदू-सभ्यता' (१९५५), और 'हिंदू संस्कृति में राष्ट्रवाद' भी इस क्षेत्र की विशिष्ट रचनाएँ हैं। डा० आबिदहुसैन की 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति' (१९५८) तथा प्रो० हुमायूँ कबिर की 'भारतीय परम्परा' (१९६३) में भारतीय संस्कृति की भव्यता और समन्वयशीलता के दर्शन होते हैं।

विशिष्ट नगरों, प्रदेशों, राजवंशों के इतिहास पर भी हिंदी में अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं। इस क्षेत्र में डॉ० मोतीचन्द्र का 'काशी का इतिहास', धर्मरक्षित का 'सारनाथ का इतिहास', प्रभुदयाल मीतल का 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। कर्नल टाड के प्रसिद्ध ग्रंथ का अनुवाद केशवकुमार ठाकुर ने 'राजस्थान का इतिहास' नाम से किया है। विश्व इतिहास पर भी अनेक ग्रंथ हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं पर उनमें से अधिकांश पाठ्य ग्रंथों के स्तर के हैं। अनूदित ग्रंथों में मेगनिस तथा एडलव के 'विश्व इतिहास', विल डुरेंट के 'सभ्यता की कहानी,'

गूच के 'हमारे युग का इतिहास' तथा कैटलवी के 'आधुनिक काल का इतिहास' का नामोल्लेख किया जा सकता है।

यूरोपीय इतिहास पर भारतीय विद्वानों ने हिन्दी में जो मौलिक ग्रंथ लिखे हैं, वे पाठ्य पुस्तकों के ही ढंग के हैं और उनमें किसी तरह का मौलिक चिन्तन अथवा विवेचन विश्लेषण परिलक्षित नहीं होता। अनूदित इतिहासों में लिप्सन का 'उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदी में यूरोप', गूच का 'यूरोप का आधुनिक इतिहास' (१९५६) और साउथगेट का 'आधुनिक यूरोप का इतिहास' (१९५७) परिगणनीय हैं।

एशिया के इतिहास पर हेराल्ड बिनाके का 'पूर्व एशिया का आधुनिक इतिहास,' २ भाग (१९६४), राहुल जी का 'मध्य एसिया का इतिहास' (१९६०) तथा सत्यकेतु विद्यालंकार का 'एशिया का आधुनिक इतिहास' (१९६०) ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। डा० बुद्धप्रकाश का 'इतिहास दर्शन' (१९६२) तथा डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी का 'विश्व इतिहास' (१९६२) भी विशिष्ट कृतियां हैं।

हिन्दी में स्वतन्त्रता के बाद जो इतिहास लेखन हुआ है, उसका सबसे बड़ा अभाव यह है कि उसमें किसी ऐतिहासिक दृष्टि विशेष का उन्मेष परिलक्षित नहीं होता। जनजीवन की अनेक समस्याओं का समाधान इतिहास के ही आलोक में सम्भव है। यह सच है कि इतिहास लेखन में विस्तार आया है, विशेषीकरण भी यत्किंचित हुआ है किन्तु सन्तुलित निष्पक्ष इतिहास दृष्टि का विकास हुए बिना किसी बड़ी सिद्धि की आशा नहीं की जा सकती। किसी समर्थ संस्था अथवा सरकार की ओर से कम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया के समानान्तर भारतीय इतिहास का एक सांगोपांग सविस्तार चित्र प्रस्तुत करने का तथा भारतीय विद्या भवन द्वारा प्रकाशित 'हिस्ट्री एंड द कलचर ऑफ द इंडियन पीपल' (१० भाग) के अनुवाद का प्रयास तुरन्त होना चाहिए। यह आधार सामग्री परम आवश्यक है। अन्य देशों तथा संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं के विषय में हिन्दी में कुछ भी ऐतिहासिक साहित्य प्राप्त नहीं। इन दिशाओं में सचेष्ट होने की आवश्यकता है।

राजनीति

पूर्व और पश्चिम दोनों में ही आदिकाल से राजनीति की अपार महत्ता रही है। मनुष्य स्वभाव से भी और आवश्यकता से भी सामाजिक प्राणी है और इसी लिए राजनीतिक भी। प्लेटो के अनुसार जो व्यक्ति बिना राज्य के रह सकता है

वह या तो 'पशु है या देवता'। राज्य के अभाव का अर्थ है—अराजकता, अव्यवस्था, मात्स्यन्याय। इसीलिए राज्य के विशिष्ट और शास्त्रीय अध्ययन का मानव चिंतन के इतिहास में प्रारम्भ से ही महत्त्व रहा है और सभी देशों के मनीषियों ने इसकी प्रशस्ति की है। संसार के प्रायः सभी देशों में राजनीति चिंतन के उत्कर्ष का वहां के सर्वांगीण उत्थान से अभिन्न संबंध रहा है।

आधुनिक भारत में बहुत समय तक इस विषय का अध्ययन इतिहास के अंतर्गत होता रहा, किन्तु तीसरे दशक के बाद से इसका स्वतन्त्र महत्त्व निरन्तर बढ़ता गया है। अब तो इसकी अनेक शाखाएँ विकसित होने-होते स्वतन्त्र शास्त्रों का रूप धारण कर चुकी हैं जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और लोक प्रशासन प्रमुख हैं।

आरम्भ में हिन्दी में जिस राजनीतिक साहित्य की रचना हुई वह कुछ तो राष्ट्र वीरों की जीवनियों के रूप में है और कुछ संसार के स्वतन्त्र चिंतकों के कृतित्व के अनुवाद के रूप में। स्वतन्त्रता के बाद प्रभूत राजनीतिक साहित्य का निर्माण हुआ जिसे हम तीन श्रेणियों में बाँट सकते हैं। पहली श्रेणी में राजनीति विज्ञान पर धुरंधर पाश्चात्य लेखकों के अनुवाद हैं। गार्नर, गटिल, जोड, लास्की आदि मूर्धन्य राजनीति चिन्तकों की उन कृतियों का अनुवाद हो चुका है जिनका पाठ्य पुस्तकों की दृष्टि से महत्त्व है। दूसरी श्रेणी में वे पुस्तकें हैं जो भारतीय विद्वानों द्वारा मूलतः अंग्रेजी में लिखी गईं पर अब जिनके हिन्दी अनुवाद भी आ गए हैं। ये ग्रंथ प्रथम श्रेणी से एक दृष्टि से अच्छे हैं—इनमें सिद्धान्त चर्चा भारतीय परिस्थितियों के सन्दर्भ में हुई है। परन्तु इनमें पाश्चात्य विद्वानों-जैसा गम्भीर चिंतन नहीं, विषय प्रतिपादन का स्तर भी अपेक्षाकृत हीनतर है। इस श्रेणी में डॉ० आशीर्वादम, डॉ० अप्पादोराइ, डॉ० विपिनबिहारी मजुमदार की पुस्तकें आती हैं। तीसरी श्रेणी में वे पुस्तकें आती हैं जो भारतीय लेखकों ने मूलतः हिन्दी में ही लिखी हैं। इन तीनों श्रेणियों के विषय, में सूत्र रूप से यह कहा जा सकता है कि इनमें क्रमशः भाषा का स्तर तो सुधरता गया है किन्तु विषय प्रतिपादन हीनतर होता गया है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में राजनीति के जिस पाठ्य क्रम की व्यवस्था है, उसमें राजनीति के सिद्धान्त पक्ष के साथ साथ विश्व के प्रमुख संविधानों के—भारत इंगलैंड, अमरीका, सोवियत रूस, स्विटजरलैंड, चीन जापान और कनाडा आदि के—विशेष अध्ययन अन्तर्भूत हैं। इनमें विविध संविधानों पर सी० एम० स्ट्राग का 'आधुनिक राजनीतिक संविधान (१९५९), लास्की का 'इंगलैंड का संसदीय शासन' (१९५५), के० सी० व्हीयर का 'आधुनिक संविधान

(१९५६), हेन ह्यू वा का 'स्विटजरलैंड की शासन प्रणाली' और वारन का 'इंगलैंड में स्थानीय शासन प्रणाली' (१९५९) आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। कुछ भारतीय विद्वानों ने भी विदेशी संविधानों पर अंग्रेजी में ग्रंथ लिखे हैं और उनके हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं तथा कुछ ने मूलतः हिन्दी में भी ग्रंथ लिखे हैं।

भारतीय राजनीति और संविधान के अध्ययन पर भी हिंदी में अनेक मौलिक और अनूदित ग्रंथ उपलब्ध हैं जिनमें भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास का भी विस्तृत विवरण है। इस क्षेत्र में गुरमुखनिहाल सिंह के 'भारत का राष्ट्रीय एवं संविधानिक इतिहास' (१९६२) तथा के० आर० बम्बवाल के 'भारतीय राजनीति और शासन' का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। हिन्दी में राजनीतिक साहित्य एक दृष्टि से विशेष समृद्ध है—भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष के प्रायः सभी अग्रणी नेताओं ने अपनी आत्मकथा, संस्मरण आदि लिखे हैं और उनमें भारतीय राजनीति के बदलते हुए स्वरूप का अच्छा चित्र मिल जाता है। महात्मा गांधी, नेहरू, राजेन्द्रप्रसाद, मौलाना आजाद, जयप्रकाश नारायण, डॉ० लोहिया आदि राष्ट्रीय नेताओं का प्रभूत संस्मरणात्मक साहित्य हिन्दी में उपलब्ध है।

भारतीय राजनीति और शासन के अन्तर्गत भारत के सांविधानिक इतिहास, भारतीय संविधान और विविध राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन भी सम्मिलित है परन्तु इन पर जो गिनी चुनी पुस्तकें हैं उनमें गहराई का सर्वथा अभाव है। इस क्षेत्र में अमरनंदी, डॉ० अमृतचंद कपूर, डॉ० महादेवप्रसाद शर्मा आदि की पुस्तकें पाठ्य पुस्तकों की लीक से आगे नहीं बढ़ सकी।

राजनीति दर्शन के इतिहास पर अनेक पश्चिमी विद्वानों के आधारभूत ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद हो चुका है किन्तु इनमें से अधिकांश बहुत संतोषजनक नहीं। स्वर्गीय प० भोलालाथ शर्मा ने बड़े परिश्रमपूर्वक प्लेटो के 'रिपब्लिक' और अरस्तू की 'पालिटिक्स' के मूल ग्रीक से अनुवाद किये हैं—'आदर्श नगर व्यवस्था' (१९५१) तथा 'अरस्तू की राजनीति' (१९५६) शीर्षक से, किन्तु विषय के अपरिपक्व ज्ञान के कारण शर्माजी उक्त दोनों आचार्यों के साथ न्याय नहीं कर सके। मैकियावली के 'प्रिंस', लॉक के 'द टू ट्रिटाइजिज ऑन सिविल गवर्नमेंट', रूसो के 'सोशल कांट्रेक्ट', लास्की के 'द स्टेट इन थियोरी इंड प्रैक्टिस', रसेल के 'रोड्स टु सोशल रिकन्स्ट्रक्शन', ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद भी प्रामाणिक नहीं हो सके। इंगलैंड के राजनीति दर्शन पर लास्की, डेविडसन, बार्कर और गूच की पुस्तकों के हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। समाजवादी दर्शन के तीनों

मूधन्य मसीहाओ—मार्क्स, लेनिन और माओत्से तुग (—ग्रथावली, १९५७) के भी कई ग्रथ छप चुके हैं।

ये सभी ग्रथ मूलत अनुवादो के अनुवाद है और इस नाते उनके सही और प्रामाणिक होने की बहुत आशा नही की जा सकती। राजनीति दर्शन के समग्र इतिहास पर गेटिल और सेबाइन के मानक ग्रथ हिन्दी मे अनूदित हो चुके है। पाश्चात्य राजनीति दर्शन के इतिहास पर कुछ विद्वानो ने या तो हिन्दी मे मौलिक ग्रथ लिखे है या उनके अनुवाद किये कराये हैं।

भारत की निबद्धता और शाति नीति को देखते हुए अतर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन और राजनय का उसके लिए जितना महत्त्व है, उसकी तुलना म इन विषयो पर साहित्य का अभाव चिन्त्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर अब तक शुमा ('अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, १९५८), गथान हार्डी ('अतर्राष्ट्रीय राजनीति का सक्षिप्त इतिहास', १९८६) और कार ('दो विश्व युद्धो के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सबध', १९५६) के ग्रथो के ही हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए ह। उनकी रचना 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान (१९४७) हिन्दी मे इस गूढ विषय पर लिखी गई पहली पुस्तक है जो विषय-वस्तु एव भाषा शैली दोनो ही की दृष्टि से एक महत्त्वपूण कृति है। इस क्षेत्र मे काम करन वाले अन्य विद्वानो के नाम इस प्रकार हैं हरिदत्त वेदालकार ('अतर्राष्ट्रीय सबध, १९६१) सावलियाबिहारी वर्मा ('अन्तराष्ट्रीय विधि') विश्वनाथप्रसाद वर्मा ('विश्व राजनीति का पयवेक्षण) और दिनश खरे (अन्तर्राष्ट्रीय सगठन का इतिहास, १९६२)।

लोक प्रशासन पर किसी भी प्रतिष्ठित पाश्चात्य विद्वान की कोई रचना हिन्दी मे अनूदित नही हुई। भारतीय विद्वानो के अग्रेजी ग्रथो के तीन चार अनुवाद ही अभी प्रकाशित हुए हैं जिनम 'लोक शासन' (ब्रजमोहन शर्मा), और 'महानगर और उनका प्रशासन (गुरमुखनिहालसिंह) विशेष उल्लेख्य हैं।

राजनीति के क्षेत्र म भारतीय पाठक के लिए प्राचीन भारतीय शासन और सस्थाओ का परिचय प्राप्त करना भी बहुत जरूरी है, क्योंकि इस क्षेत्र मे भारत की भी देन किसी तरह कम महत्त्वपूण नही रही। इस विषय क अग्रणी विद्वान डा० काशीप्रसाद जायसवाल के प्रसिद्ध ग्रथ 'हिन्दू पालिटी' का अनुवाद 'हिन्दू राजतन्त्र' नाम से श्री रामचन्द्र वर्मा न किया है। डॉ० अल्तेकर की स्टट एड गवनमट इन एन्शिएट इडिया का 'प्राचीन भारतीय शासन पद्धति (१९४८)

के नाम से अनुवाद हो चुका है। डॉ० काणे की प्रसिद्ध कृति 'हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र (दूसरा भाग–१६६५) का भी अनुवाद प्रकाशित हो गया है। डा० श्यामलाल पाडेय ने 'जनतन्त्रवाद' (१६५०) शीर्षक ग्रथ मे रामायण महाभारत-कालीन जनतन्त्रीय सस्थाओ का विशद अध्ययन मौलिक रूप से हिन्दी मे प्रस्तुत किया है। साथ ही उन्होने मनीषियो—मनु ('मनु का राजधर्म', १६५५), शुक्र (शुक्र की राजनीति, १६५२), भीष्म ('भीष्म का राजधर्म', १६५५) और कौटिल्य ('कौटिल्य की राज्य व्यवस्था', १६५६)—के अध्ययन प्रस्तुत किये हैं। उनका कार्य सचमुच अत्यन्त सराहनीय है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालकार ('प्राचीन शासन व्यवस्था और राजशास्त्र', १६६०) तथा अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ('हिन्दू राज्य शास्त्र) ने भी हिन्दी मे मौलिक ग्रन्थ लिखकर इस विषय के साहित्य को समृद्ध किया है।

हिन्दी मे राजनीति विज्ञान की विविध शाखाओ से सम्बन्धित जो साहित्य अब तक प्रकाशित हुआ है, वह विषय के अमित महत्त्व तथा उसके सीमा विस्तार का देखते हुए सवथा अपर्याप्त है। इसमे भी जो मौलिक रचनाएँ है वे विषय वस्तु की दृष्टि से हीन स्तर की हैं और जो अनूदित हैं उनके अनुवादो मे अनेक अशुद्धिया और भ्रान्तिया हैं। भारतीय लेखक प्राय पाठय पुस्तको की सीमाओ मे बँधकर रह गए है। आधुनिक युग मे जो सशक्त विचारधाराए व्यष्टि एव समष्टि मानव को निरन्तर प्रभावित सचालित कर रही है, उनके दार्शनिक आधारो और ऐतिहासिक विकास तक के कोई सुचारु अध्ययन प्रस्तुत नही किये जा सके। स्तर-भ्रश का एक सबसे बडा कारण है विशेषीकरण का अभाव। राजनीति की विविध शाखाओ पर हिन्दी मे सन्दर्भ ग्रन्थो पारिभाषिक एव विश्व कोशो की भी बडी आवश्यकता है। आवश्यकता है कि इन सूनी दिशाओ म शासनिक एव शासनेतर सस्थाएँ कदम बढायें, सगठित प्रयत्न को प्रोत्साहन दें और देश मे राजनीतिक चेतना जगाने म सक्रिय योगदान करें।

अर्थशास्त्र एव वाणिज्य

अर्थशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्ति और सगठित समूह की भौतिक आवश्यकताओ की व्यवस्था पर केन्द्रित सामाजिक व्यापार से है। यो तो अर्थशास्त्र की व्याख्या परिभाषा के सम्बन्ध मे मतभेद रहा है किन्तु मूल बात यह है कि वह एक सामाजिक विज्ञान है और इसका सरोकार भौतिक आवश्यकताओ के परितोष के प्रति

[illegible] सम्बन्धी [illegible] ऊँचे स्तर के हैं जो विशेष रूप से स्नातकोत्तर स्तर के लिए [illegible] लिखे गए हैं। कहीं-कहीं किसी-किसी ग्रन्थ में कुछ [illegible] अन्वेषण [illegible] तथ्यों के स्वतन्त्र विश्लेषण [illegible] विद्यार्थियों के लिए ही उपयोगी हैं।

विशिष्ट अर्थशास्त्रीय समस्याओं से सम्बन्धित ग्रन्थ बहुत ही कम संख्या में अभी तक लिखे गए हैं और इस दिशा में लेखकों के लिए बहुत सारा [illegible] पड़ा है। आधुनिक व्यावसायिक संगठन, मुद्रा, बैंकिंग तथा विदेशी विनिमय तथा आयकर, राजस्व एवं राजवित्त के विषयों पर भी जो मौलिक ग्रन्थ प्राप्त हैं, वे पाठ्य ग्रन्थों की दृष्टि से ही उपयोगी हैं।

उक्त सभी विषयों पर अनूदित ग्रन्थ [illegible] अच्छे स्तर के प्रकाशित हो चुके हैं। अर्थशास्त्र सिद्धान्त पर जिन विशेष ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके उनमें [illegible] रावसन के 'उद्योग नियन्त्रण' और 'मुद्रा' का, [illegible] के 'आर्थिक विकास के सिद्धान्त' (१९६२) का, ए० जे० ब्राउन के 'विश्व अर्थव्यवस्था पुनः परिचय' (१९६१) का तथा ड्यूवेट के 'अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त' (१९६६) और [illegible] वर्मा के 'आधुनिक रोजगार तथा आय सिद्धान्त' का विशेष उल्लेख किया जा सकता है।

भारतीय अर्थशास्त्र पर हिन्दी में सिद्धान्तपूर्ण पुस्तकों का सर्वथा अभाव है।

इस क्षेत्र मे भी जो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं वे अधिकतर पाठ्य पुस्तकें हैं। देश की आर्थिक समस्याओ, योजनाओ आदि के विषय म गम्भीर आलोचनात्मक एव विश्लेषणात्मक ग्रथो का सवथा अभाव है। विशिष्ट पाठय ग्रथो म हम जथार एव जथार के 'भारतीय अथशास्त्र' (१९५७), जथार और बरी के 'भारतीय अथशास्त्र' (१९५६) तथा डयूवेट के 'भारतीय अथशास्त्र' (१९५९) का नामोल्लेख कर सकते हैं।

भारत के आर्थिक विकास और तत्सम्बन्धी समस्याओ से सम्बन्धित अनूदित साहित्य म बाबूराम मिश्र के 'कर-व्यवस्था' (१९६२), शकरसहाय सक्सेना के 'भारतीय ग्राम्य अथ व्यवस्था' और सुरेन्द्रकुमार दे के 'सामुदायिक विकास (१९६४) की चर्चा की जा सकती है यद्यपि इस विषय पर भी दजनो ग्रथ प्रकाशित हो चुके है।

आर्थिक विचारो के इतिहास विषयक अनुवादो म अलेक्जेंडर ग्रे के 'अर्थशास्त्र-सिद्धान्त का विकास' (१९५८), यूजीन ब्लक के 'आर्थिक विकास की कूटनीति' तथा गैलब्रथ के 'आर्थिक विकास का सापक्ष चित्रण' (१९६६) का नामोल्लेख कर सकते हैं।

अथशास्त्र का ही एक सगी विषय है वाणिज्य, किन्तु इस दिशा म हिन्दी म जो भी साहित्य प्रकाशित हुआ है, बहुत अपर्याप्त तथा हल्के स्तर का है।

उपयुक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि अथशास्त्र के विविध क्षेत्रो म मौलिक और अनूदित ग्रथो की सख्या की दृष्टि से भले ही कमी न हो किन्तु गुण की दृष्टि से यह साहित्य सवथा अपर्याप्त है। हमारे आज के जीवन मे अथशास्त्र का जो महत्त्व है और देशव्यापी योजनाओ के माध्यम से आर्थिक जीवन का जो कायापलट हो रहा है, उसे देखते हुए यह स्थिति शोचनीय है। आवश्यक है कि प्रेरक आर्थिक शक्तियो और परिस्थितियो के बारे मे प्रत्यक्ष चिन्तन मनन के आधार पर उच्च स्तरीय साहित्य की सजना हो और नागरिक के अथबोध की समृद्धि हो। योजना-जैसे राष्ट्रीय महत्त्व के विषय पर हिन्दी म एक भी अच्छी पुस्तक नहीं—यह स्थिति सचमुच दयनीय है। तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि विदशी विद्वान इसी विषय पर शताधिक विचारोत्तेजक ग्रथो का निर्माण कर चुके हैं। विदेशो की आर्थिक परिस्थितियो के बारे मे भी हिन्दी मे साहित्य का अभाव है। विविध देशो मे आर्थिक विकास की प्रक्रिया के अध्ययन से हमारे लिए नये क्षितिजो का उन्मेष हो सकता है।

दर्शन

दार्शनिक चिन्तन मनन की परम्परा भारत और पश्चिम दोनों में बहुत प्राचीन रही है। दर्शन के अंग्रेजी पर्याय 'फिलॉसफी' का उद्गम ही ग्रीक में निहित नहीं, बल्कि इस चेतना का मूल स्रोत भी यूनान ही है कि इस शब्द का व्यवहार अथ गया है। यूनानी विचारकों ने कुछ विशिष्ट शाखाओं में दर्शन का विभाजन भी कर लिया था—जैसे तर्क, ब्रह्माण्ड विद्या, तत्त्व मीमांसा, आचार शास्त्र और राजनीति-दर्शन और कुछ हद तक सौन्दर्य सिद्धान्त।

भारत में दार्शनिक चिन्तन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है। वस्तुत यह इस देश का अपना विषय रहा है। हमारे यहां तो वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि में दर्शन के बड़े समृद्ध भण्डार भरे पड़े हैं। प्राचीन भारतीय ऋषियों ने दार्शनिक चिन्तन के अन्तर्गत ब्रह्म, जीव, जगत के स्वरूप, प्रयोजन आदि पर बहुत मूलगामी विचार किया और अपने निष्कर्षों को शब्दबद्ध किया। अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों के विविध उन्नायकों ने समय समय पर अपनी विचारधाराओं का प्रचार प्रसार किया। वस्तुत इस देश में दार्शनिक चिन्तन की अविच्छिन्न परम्परा रही है। अर्वाचीन युग में भी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द घोष, महात्मा गांधी, रमण महर्षि और आचार्य विनोबा-जैसे दार्शनिकों का आविर्भाव और देश के प्रमुख समाज सुधारकों एवं राजनेताओं—स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, एनीबीसेंट तिलक, गांधी आदि—की सुदृढ़ पृष्ठभूमि इस देश की दार्शनिक समृद्धि का प्रमाण है।

इस समृद्ध परम्परा का प्रवाह हिन्दी में भी यथा समय थोड़ा बहुत आया है किन्तु उतनी विपुलता के साथ नहीं, जितनी अपेक्षा की जानी चाहिए। हिन्दी में मौलिक दार्शनिक साहित्य के निर्माण की एक सबसे बड़ी बाधा यह है कि हमारे यहां प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों के पाठानुसंधानों और सुसम्पादित संस्करणों का अभाव है। दार्शनिक विषयों के मौलिक हिन्दी लेखकों में राहुल सांकृत्यायन, डॉ० सम्पूर्णानन्द, डॉ० नरेन्द्रदेव, बलदेव उपाध्याय, मुनि नथमल, डा० एन० के० देवराज, डॉ० भरतसिंह उपाध्याय आदि के नामों का उल्लेख किया जा सकता है।

राहुल जी बौद्ध धर्म के प्रकांड पंडित थे और इस क्षेत्र में उनका अन्तर्राष्ट्रीय

महेन्द्र [illegible] रचनाओं म 'बौद्ध सस्कृति'-१९५२, उल्लेखनीय [illegible] के 'दशन और जीवन' का तथा आचाय नरेन्द्र देव के 'बौद्ध धम दशन' का नामोल्लेख किया जा सकता है। बलदेव उपाध्याय के 'आय संस्कृति के आधार ग्रन्थ' (१९६२), 'बौद्ध-दशन' (१९५४), 'भागवत सम्प्रदाय' (१९५३), 'आचाय सायण और माधव', 'भारतीय दशन सार', तथा 'भारती वाङ् मय म श्री राधा' ग्रथ विशेष महत्त्व के हैं। डा० भरतसिंह उपाध्याय पालि के अधिकारी विद्वान् हैं। 'बौद्ध दशन तथा अन्य भारतीय दशन' म उन्होंने विविध दशनो का सागोपाग तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका एक अन्य ग्रथ 'ध्यान सम्प्रदाय (१९६४) भी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुनि श्री नथमल जन धम और दशन के प्रकाड पडित हैं। उनके विशिष्ट ग्रन्थो मे 'जन दशन के मौलिक तत्त्व', 'जन धम और दशन', 'जन परम्परा का इतिहास' आदि का नामोल्लेख किया जा सकता है।

डॉ० देवराज दशन के आचाय हैं—यद्यपि हिन्दी साहित्य के क्षेत्र म भी उनका अपना विशिष्ट स्थान है। 'भारतीय दशन का इतिहास (१९५०) म भारतीय दशन की विविध धाराओ का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'संस्कृति का दाशनिक विवेचन' (१९५७) उनकी अपने ढग की अनूठी रचना है जिसमे वतमान जीवन के सास्कृतिक सकट पर दाशनिक दृष्टि से विचार गया है और रचनात्मक मानववाद के नये दर्शन की प्रतिष्ठा की गई है।

दाशनिक साहित्य के धरातल पर कुछ अन्य मौलिक उपलब्धिया ये हैं नगेन्द्रनाथ उपाध्याय—'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य', (१९५८), डॉ० भीखनलाल आत्रेय—योगवासिष्ठ और उसके सिद्धात (१९५७), डॉ० यदुवशी—'शव मत (१९५५)।

आधुनिक भारतीय दाशनिको मे महात्मा गाधी और आचाय विनोबा का अधिकाश साहित्य हिन्दी मे अनूदित हो चुका है। अरविन्द घोष के भी अधिकाश ग्रथो का अनुवाद हो चुका है। इनमे प्रमुख है—'भारतीय संस्कृति के आधार', 'गीता भूमिका', 'योग समन्वय', 'धम और जातीयता'—१९४८। हिरियन्ना की 'भारतीय दशन की रूपरेखा' (१९६५) म विषय का बडा स्वच्छ विवेचन हुआ है।

स्वातन्त्र्योत्तर युग मे हिन्दी के दाशनिक साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है प्रसिद्ध दाशनिक डा० सवपल्ली राधाकृष्णन के ग्रथो के हिन्दी के अनु-

वाद। कुछ विशिष्ट अनुवाद य हैं—'जीवन की आध्यात्मिक दष्टि' (१६६२), 'धम और समाज' (१९६०), 'भगवद्गीता (१६६२), 'भारत और विश्व', 'धम तुलनात्मक दृष्टि मे (१६५६), पूव और पश्चिम कुछ विचार (१६६२), 'भारत की अ तरात्मा' (१६५३), 'हिदुओ का जीवन दशन (१६६१) आदि।

पाश्चात्य दशन पर भी हिन्दी मे कुछ मौलिक ग्रथ लिखे गए हैं जिनम से उल्लेखनीय हैं सारम्वतदत्त दे का—'पाश्चात्य दशन का इतिहास तथा सावलियाबिहारी वर्मा का—'विश्वधम दशन', (१६५३)।

पश्चिम के कुछ प्रमुख दाशनिको के अनुवाद भी हिन्दी म हुए ह। इनम जोसेफ एल० ब्लो के 'अमरीकी दशन तथा दाशनिक (१६५७), जे० एम० मैकेंजी के 'समाज दशन की रूपरेखा' (१६६०) तथा इरविन एडमन के 'दशन के उपयोग' (१६५७) का उल्लेख किया जा सकता है।

पश्चिम के आधुनिक दार्शनिको मे इग्लैंड के वयोवृद्ध दाशनिक बर्टेंड रसेल का अन्यतम स्थान है। दशन, समाज नीति, राजनीति और नीति शास्त्र की विविध समस्याओ पर उनकी लेखनी विगत अधशती स सक्रिय रही है। रसेल के निम्नलिखित अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं

'विवेक या विनाश' (१६६१), 'विवाह और नतिकता' (१६६२), सत्ता और व्यक्ति (१६६२), 'सुख की साधना', (१६६२) आदि।

नीतिशास्त्र और तकशास्त्र भी दशन से सम्बद्ध विधाए हैं। इनम एक विशिष्ट ग्र थ है 'भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास' १६६४—(डा० भीखनलाल आत्रेय)। यो तो और अनेक ग्रन्थ भी है किन्तु वे अधिकाशत पाठय ग्रन्थो के स्तर से ऊपर नही उठ सके।

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान यद्यपि औपचारिक रूप से एक नया शास्त्र हैं किन्तु फिर भी मानवीय चिन्तन म उसका अस्तित्व बहुत कम समय मे रहा है। आधुनिक काल म एक स्वतन्त्र विद्या के रूप मे पल्लवित विकसित होन के लिए उसे धम-शास्त्र और दशन के प्रभुत्व से मुक्त होना पडा। मनोविज्ञान समाज विज्ञान भी है और समाज विज्ञानो का आधार भी। मनोविज्ञान-साहित्य का अध्ययन हम निम्न लिखित वर्गों के अन्तगत कर सकते हैं

 मनोविज्ञान, २ व्यावहारिक मनोविज्ञान, ३ विकृत मनोविज्ञान, ४ सामाजिक मनोविज्ञान, ५ बाल मनोविज्ञान, ६ औद्योगिक-मनोविज्ञान, ७ मनोविज्ञान का इतिहास, ८ फ्रायडवाद और मनोविश्लेषण, ९ अनूदित साहित्य।

हिन्दी म मनोविज्ञान साहित्य के कुछ प्रमुख लेखकों मे लालजीराम शुक्ल, सरयूप्रसाद चौबे, डॉ० द्वारिकाप्रसाद आदि के नाम परिगणित किये जा सकते हैं। हम उपयुक्त वर्गीकरण के अनुसार क्रमश हिन्दी के मनोविज्ञान साहित्य का सर्वेक्षण करेंगे।

सामान्य मनोविज्ञान के क्षेत्र मे लालजीराम शुक्ल के 'आधुनिक मनोविज्ञान' (१९५७), डॉ० द्वारिकाप्रसाद के 'मानव मनोविज्ञान (१९८३), सरयूप्रसाद चौबे के 'मनोविज्ञान' (१९५३) आदि ग्रन्थो का नामोल्लेख किया जा सकता है।

व्यावहारिक मनोविज्ञान तथा विकृत-मनोविज्ञान पर भी हिन्दी म कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। डॉ० पद्मा अग्रवाल की 'विकृत मनोविज्ञान' (१९८९), डा० रामकुमार राम की 'असामान्य मनोविज्ञान' (१९६०) और मधुकर की 'मनोविज्ञान प्रकृत और अप्रकृत (१९५७) आदि पुस्तको के नाम गिनाये जा सकते हैं।

मनोविज्ञान की अत्यत महत्वपूर्ण शाखा 'सामाजिक मनोविज्ञान पर हिन्दी में बहुत ही कम ग्रथ प्रकाशित हुए ह। सामाजिक मनोविज्ञान की स्थिति सामान्य मनोविज्ञान और समाज विज्ञानो के बीच म है और मनोविज्ञान तथा समाज शास्त्र दोनो ही के अन्तगत इसे एक उपविभाग के रूप मे स्वीकार किया जाता है और समाज शास्त्र के अन्तगत इसका विवेचन प्राय मनोवैज्ञानिक समाज शास्त्र के नाम से होता है। वस्तुत इसका सबध अकेले समाज शास्त्र से ही नही, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशिक्षा, नविज्ञान, विधि शास्त्र, नीति शास्त्र, कला तथा साहित्य सभी से कुछ अशो मे है। इस महत्ता के अनुरूप हिन्दी में एतद्विषयक साहित्य अत्यत नगण्य और अपर्याप्त है। कुछ ग्रथ हैं अवश्य परन्तु उनका स्तर अत्यत सामान्य है। आधुनिक बाल मनोविज्ञान का विकास विगत कुछ दशाब्दियो में ही हुआ है और आज भी देश विदेश में आदिम शास्त्र की अपूर्णताएँ उसमें विद्यमान हैं किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियो के उपयोग से धीरे धीरे भ्रान्तियो का निराकरण हो रहा है और बाल विकास की बहुत समस्याओ का समाधान विवेक के आधार पर खोजने मे प्रयास हो रहे ह। मनो-

विज्ञान की नई शाखा होने के नाते इसमें साहित्य का प्राचुर्य सम्भव ही नही है।

औद्योगिक मनोविज्ञान, मनोविज्ञान का इतिहास तथा फ्रायडवाद और मनोविश्लेपण से संबंधित ग्रथों की संख्या भी अत्यत स्वल्प और नगण्य है। ये विषय ऐसे हैं जिनमे प्रामाणिक पुस्तकें लिखने के गम्भीर प्रयास अभी हुए ही नही हैं और जिनकी ओर हिन्दी भिज्ञ अधिकारी विद्वानो का ध्यान आकर्षित होना चाहिए। औद्योगिक मनोविज्ञान का आज की समाज रचना मे निर्विवाद महत्त्व है पर इस विषय पर हिंदी में जगदानंद पाडेय के 'औद्योगिक मनोविज्ञान' का ही बस नाम लिया जा सकता है। 'मनोविज्ञान का इतिहास' पर शर्मा और सारस्वत (१९६४) तथा रामइकबाल पाडेय (१९६३) के इसी नाम के ग्रथो का नामोल्लेख किया जा सकता है। फ्रायडवाद और मनोविश्लेपण पर जोशी के 'फ्रायडवाद और नव्य-फ्रायडवाद', मोहन जोशी तथा मीरा जोशी के 'फ्रायडवाद' (१९६३) आदि ग्रथो के नाम गिनाये जा सकते है।

अनुवादों के रूप मे मनोविज्ञान और मनोविश्लेपण पर कुछ प्रारम्भिक ग्रथ हिन्दी मे अवश्य आये है। कुछ उल्लेखनीय अनुवाद इस प्रकार हैं

यंग किंबल—'सामाजिक मनोविज्ञान', माटेसरी—'शिशु मनोविज्ञान', कालिंस तथा ड्रीवर—'प्रयोगात्मक मनोविज्ञान', ड्युई—'मानव प्रकृति और आचरण' (१९६३), सिगमंड फ्रायड—'फ्रायड मनोविश्लेपण' (१९५८), डा० हेनरी गरेट—'मनोविज्ञान' (१९५९), हैवलाक एलिस—यौन मनोविज्ञान (१९५९) मारिस गिन्सबर्ग—'समाज का मनोविज्ञान' (१९५५)।

मनोविज्ञान की महत्ता आज व्यक्ति और समाज-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अतर्क्य है और आवश्यकता इस बात की है कि इसकी महत्त्वपूर्ण शाखाओं पर अधिकाधिक मानक ग्रथ हिन्दी में प्रकाशित हो।

समाज-शास्त्र

समाज शास्त्र औपचारिक दृष्टि से अपेक्षाकृत एक अभिनव शास्त्र और अध्ययन विषय है। निश्चित और व्यवस्थित ज्ञान राशि के रूप मे विज्ञान परिवार मे अपनी जगह और नाम की दृष्टि से देखें तो समाज शास्त्र का इतिहास दशाब्दियों मे सीमित है शताब्दियों मे फैला हुआ नही है। इस शास्त्र का इतने विलम्ब से उद्भव होने का कारण है स्वय आज की समाज विषयक धारणा मे इतना गम्भीर और व्यापक परिवर्तन—कदाचित ऐसा परिवर्तन जिसके बिना समाज का शास्त्र

जन्म ही नही ले सकता था।

हमारे देश मे तो विश्वविद्यालयो मे समाज शास्त्र का अध्ययन प्राय स्वतन्त्रता के पश्चात ही आरम्भ हुआ। इधर इस दिशा मे शिक्षा विशेषज्ञो का ध्यान मुख्य रूप से केन्द्रित हुआ है। भारत मे जाति, धर्म, रहन-सहन, आचार व्यवहार आदि की अपार विविधताओ के कारण यहाँ समाजशास्त्रीय अध्ययन की अपार सम्भावनाएँ है।

अध्ययन की सुविधा के लिए हम समाजशास्त्रीय साहित्य का निम्नलिखित शाखाओ मे वर्गीकरण कर सकते है

समाज शास्त्र के सिद्धात (सामान्य), भारतीय समाज और संस्थाएँ, भारत मे सामाजिक कल्याण और सुरक्षा, सामाजिक विघटन, अपराध तथा दण्ड आदि, सामाजिक चिंतन का इतिहास, मानव शास्त्र।

समाज शास्त्र के सद्धातिक अध्ययन से सम्बन्धित मौलिक तथा अनूदित दोनो ही प्रकार के ग्रन्थ हिन्दी मे प्रकाशित हुए है—इनमे से कुछ मे तो विशुद्ध पाठ्य-ग्रन्थ लेखन की दृष्टि परिलक्षित होती है, पर कुछ मे स्वतन्त्र चिंतन का भी परिचय मिलता है। इस विषय पर जिन ग्रथो का उल्लेख किया जा सकता है, उनमे से कुछ के नाम इस प्रकार है

सत्यकेतु विद्यालकार—'समाज शास्त्र', शभुरत्न त्रिपाठी—'समाज और अपराध (१९५९), 'समाज शास्त्र के मूल आधार' (१९६१), 'समाजशास्त्रीय विश्वकोश' १९६०, रामबिहारीसिह तोमर—'सामाजिक अनुसधान (१९५९) 'समाज, सस्कृति तथा व्यक्तित्व' आदि।

इस विषय के अनूदित ग्रथो मे 'जिसबर्ग के 'समाज शास्त्र' का यग तथा मक के 'समाज शास्त्र के सिद्धान्त' का और 'एल, डब्ल्यू० ब्राइस तथा बजामिन खान के 'नागरिक समाज शास्त्र परिचय' का उल्लेख किया जा सकता है।

भारतीय समाज और सस्थाओ के विषय मे भी मौलिक और अनूदित दोनो ही प्रकार के ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं किन्तु इनमे से भी कुछ ही ग्रन्थ ऐसे है जो स्वतन्त्र अध्ययन चिन्तन के फलस्वरूप प्रामाणिक रूप मे लिखे गए हो, अधिकाश पाठ्य पुस्तको के रूप मे ही लिखे गए है और उनमे गहराई का अभाव है।

उल्लेखनीय रचनाओ मे रामबिहारीसिह तोमर की 'हिन्दू विवाह एव परिवार की समस्याए' तथा 'भारतीय सामाजिक सस्थाए' (१९५९), गौरीशकर भट्ट की 'भारतीय सस्कृति एक समाजशास्त्रीय समीक्षा' तथा 'भारत मे समाज-

शास्त्र' १६६५, 'प्रजाति सामाजिक व्यवस्था और सस्थाए', रवीन्द्रनाथ मुकर्जी की 'भारतीय सामाजिक सस्थाएँ (१६६४), और 'भारतीय जनता तथा सस्थाएँ (१६६०), शम्भुरत्न त्रिपाठी की 'भारतीय समाज और सस्कृति' (१६६३) तथा भारतीय समाजशास्त्र' (१६६०), सत्यव्रत सिद्धातालकार की 'भारत की जन जातियाँ तथा सस्थाएँ (१६६०), क्षितिमोहन सेन की 'भारतवष म जाति भेद' (१६५२), हरिदत्त वेदालकार की 'हिन्दू परिवार मीमासा (१६५४) तथा डा० रागेय राघव की सामाजिक सस्थाएँ और रीतिरिवाज' (१६६१) विशेष रूप स परिगणनीय है। अनूदित पुस्तका म के० एस० कापडिया की 'भारतवष म विवाह एव परिवार' तथा के एम पणिक्कर की हिन्दू समाज निर्माण के द्वार पर' (१६५६) विषय वस्तु की दष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

भारत मे सामाजिक कल्याण और सुरक्षा के विषय पर जो भी ग्रथ मिलत हैं, प्राय मूल रूप से हिन्दी म ही लिखे गए ह। इस विषय का हमारे कल्याणकारी राज्य के सन्दभ मे विशेष महत्त्व है और इस विषय पर देश के मूधन्य मनीषियो ने चिन्तन मनन भी किया है जिसका एतद्विषयक रचनाओ पर काफी प्रभाव पडा है। उल्लेख्य ग्रथो मे रवीन्द्रनाथ मुकर्जी के 'भारत मे सामाजिक कल्याण और सुरक्षा' (१६६०), डॉ० रघुराज गुप्त के 'भारत म सामाजिक कल्याण और सुरक्षा' (१६५७) तथा सत्यव्रत सिद्धातालकार के 'समाज कल्याण और सुरक्षा' (१६६०) के नाम गिनाये जा सकते है।

सामाजिक विघटन, अपराध तथा दड आदि पर परिपूर्णानन्द वर्मा की 'अपराध, अपराधी और अभियुक्त' तथा डॉ० रागेय राघव की 'अपराध शास्त्र' (१६६१) तथा 'सामाजिक समस्याएँ और विघटन' (१६६१) रचनाए उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक चिन्तन के इतिहास के क्षेत्र म भी शम्भुनाथ त्रिपाठी का 'सामाजिक विचारो का इतिहास' (१६६०), दिनेश खरे का 'सामाजिक विचारधाराए' (१६६१), रवीन्द्रनाथ मुकर्जी का 'सामाजिक विचारधारा काम्टे से गाधी तक' (१६६२) आदि ग्रथो का उल्लेख किया जा सकता है।

'मानव शास्त्र' पर हिन्दी मे साहित्य अत्यन्त नगण्य और अपर्याप्त है। इस विषय पर सत्यव्रत सिद्धातालकार के 'मानव शास्त्र (१६५८) का उल्लेख किया जा सकता ह।

शिक्षा शास्त्र

या तो शिक्षा का इतिहास उतना ही पुराना है जितना स्वय मानव जाति का

कि तु आधुनिक युग म शिक्षा ने व्यवस्थित रूप ग्रहण करके जैसा मह
कर लिया है, वह अप्रतिम है। अतीत मे 'स्कूल' एक महत्वहीन सामाजि
थी जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव जनता के एक अत्य त स्वल्प वग पर ही प
कि तु वतमान काल म ऊ वमुखी और पारिपाश्विक दोना तरह के वि
द्वारा वह आज प्रत्यक समाज की सबसे सशक्त सस्थाआ म परिगणित होने ल
शिक्षा की प्रक्रिया पर आज के विचारका ने बहुत सजग और गहन अध्ययन
है और अध्यापका के प्रशिक्षण के लिए प्रत्येक दश म बडे विशद कायक्रम
रित किय गए हैं।

शिक्षा सामाजिक नवनिर्माण की आधार शिला है और स्वत त्र भारत
उनके पुनगठन पर बहुत विचार हुआ है स्वत त्र स पूव भी गुरुकुल प्रणा
और बुनियादी शिक्षा के प्रवत्तन द्वारा शिक्षा को नई दिशाएँ देने क प्रयत्न हु
थे। इसके बा स अनक विशेषज्ञ समितिया और आयोगा द्वारा शिक्षा क
पुनगठन पर विचार हुआ है।

परिस्थितिया की आवश्यकता के अनुरूप हि दी म भी थोडा बहुत शिक्षा
शास्त्रीय साहित्य प्रकाशित हुआ है यद्यपि अ य नव विकसित शास्त्रा की भाति
इस क्षेत्र म भी उसकी मात्रा बहुत कम है। हि दी के शिक्षा साहित्य का वर्गीकरण
हम इस प्रकार कर सकते ह

शिक्षा सिद्धात और शिक्षण विधिया, शिक्षा मनोविज्ञान, भारतीय शिक्षा—
इतिहास और समस्याए देश विदेश की शिक्षा प्रणालिया, हि दी मे अनूदित
शिक्षा साहित्य।

शिक्षा के सम्ब ध मे महात्मा गाधी, डॉ० राजे द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू,
मौलाना आज़ाद आदि राष्ट्रीय नेताआ के विचार हि दी म उपलब्ध है और शिक्षा
के पुनगठन की दष्टि से उनका अपना महत्त्व है। हि दी मे शिक्षा शास्त्र के प्रमुख
लेखका म सीताराम चतुर्वेदी सरयूप्रसाद चौब, सीताराम जायसवाल पी० एल०
रावत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

शिक्षा सिद्धा त के विषय मे हि दी मे जो भी पुस्तकें उपलब्ध है उनका स्तर
अधिकतर पाठ्य पुस्तका का स्तर है। वस्तुत वे लिखी भी इसी दष्टिकोण से गई
हैं। इस प्रकार के ग्र थो म सरयूप्रसाद चौब के 'शिक्षा सिद्धा त' और 'नवीन शिक्षा
शास्त्र' (१९६४), सीताराम जायसवाल के 'शिक्षा शास्त्र, धर्मेंद्र ब्रह्मचारी के
'सामाजिक शिक्षा तथा समाज सेवा (१९५५) आदि का परिगणन किया जा

सकता है। विविध शास्त्रो की शिक्षण विधिया के सम्बन्ध मे अनेक छोटी मोटी पुस्तकें विद्यमान हैं, किन्तु उनमे कोई भी विशेष उल्लेखनीय नही है। सामान्य शिक्षण विधि के सम्बन्ध मे सीताराम चतुर्वेदी के 'अभिनव शिक्षण शास्त्र' (१९५७) शीर्षक ग्रन्थ का उल्लेख किया जा सकता है।

शिक्षा मनोविज्ञान पर बहुत ही थोडी पुस्तकें उपलब्ध हैं। वस्तुत मनोविज्ञान और उसकी शाखाओ पर हिन्दी मे श्रेण्य रचनाओ का अभाव खेदजनक है। इस क्षेत्र म सरयूप्रसाद चौबे के 'मनोविज्ञान और शिक्षा (१९६०) तथा सीताराम जायसवाल के 'शिक्षा मनोविज्ञान दीपिका' (१९६२) ग्रन्थो का उल्लेख किया जा सकता है।

भारतीय शिक्षा के इतिहास तथा समस्याओ के विषय मे कुछ परिगणनीय ग्रन्थ ये हैं

पी० एल० रावत—'भारतीय शिक्षा का इतिहास'—१९५५, एम० एन० मुकर्जी—'भारत म शिक्षा' और 'भारतीय शिक्षा का इतिहास (आधुनिक काल), सरयूप्रसाद चौबे—'भारतीय शिक्षा का इतिहास (१९५९)।

देश विदेश की शिक्षा प्रणालिया पर भी जो ग्रन्थ उपलब्ध है, व पाठ्य ग्रन्था के रूप मे ही लिखित है, जिनमे उल्लेखनीय ये है

सरयूप्रसाद चौबे—'इगलैंड मे शिक्षा', 'अमरीका मे शिक्षा', 'पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास —१९५९, 'विदेशा मे शिक्षा, सीताराम जायसवाल—'पश्चिमी शिक्षा का इतिहास' (१९४७)।

शिक्षा विषयक अनूदित साहित्य मे निम्नलिखित ग्रन्थ उल्लेख्य है

क्रो तथा क्रो	—माध्यमिक स्कूलो मे शिक्षा, १९६३
,,	—शिक्षा दशन, १९६५
बर्ट्रेंड रसेल	—शिक्षा की रूपरेखा, १९६३
ट्रवस	—शिक्षात्मक अनुसधान की प्रस्तावना १९६३
जान डयूई	—शिक्षा दशन की भूमिका, १९५७
रसक्	—महान् शिक्षा शास्त्री
जेम्स रौस	—शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा
लिविंगस्टन रिचड	—शिक्षा की कुछ समस्याएँ, १९५६
मारिया मौंटेसरी	—नवयुग की शिक्षा
फ्रैंक स्मिथ, एम० हैरिसन	—नया शिक्षण के सिद्धान्त

आर० पी०	—विश्व सदभावना के लिए शिक्षा, १६५८
हुमायुन कबिर	—स्वतंत्र भारत में शिक्षा
ए० जी० मैथ्यू	—शिक्षा की पुनरचना १६६०
नेमी मटो	—शिक्षा परिचय, १६६५

विधि

अनेक ऐतिहासिक विधिवेत्ताओं ने 'विधि' शब्द में समाज नियमण की सब नहीं तो अधिकांश प्रक्रियाओं का अन्तर्भाव कर लिया है, किन्तु इस शब्द का सामान्य अर्थ प्रायः सीमित होता है। सामान्यतः प्रचलित अर्थ 'राजनीतिक दृष्टि से सगठित समाज में शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा समाज के नियमण' तक सीमित है।

हमारे यहाँ मनु, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य आदि और पश्चिम में प्लेटो, अरस्तू आदि प्राचीन काल के यशस्वी विधिकार थे जिन्होंने समाज नियमण के लिए आवश्यक विधियों की प्रतिष्ठा की। उनका प्रभाव वर्तमान काल तक किसी न किसी रूप में छनकर हमारी विधियों और मर्यादाओं—परम्पराओं पर पड़ता रहा है।

आधुनिक काल में हमारे यहाँ शासन के साथ साथ पश्चिमी विधियाँ अगीकृत हुई। ब्रिटिश शासन काल में नीचे स्तर पर फ़ारसी और उच्चतर स्तर पर अंग्रेजी विधि विधान और न्याय की भाषाएँ रहीं। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद इस क्षेत्र में हिन्दी की प्रगति हुई। विधि साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से भी और भाषा शैली के वैशिष्ट्य की दृष्टि से भी भारतीय सविधान के हिन्दी अनुवाद का विशेष महत्त्व है। यह एक प्रकार से इस दिशा की उपलब्धियों का एक सीमा चिह्न है। अपनी विशिष्ट शब्दावली, अभिव्यंजना रूपों, वाक्य विन्यास आदि के कारण इसने हिन्दी में एक नई शैली का सूत्रपात किया। इस अनुवाद के एक प्रमुख स्तम्भ आचार्य रघुवीर थे। भाषा शैली और पारिभाषिक शब्दावली आदि के सम्बन्ध में उनकी कुछ विशिष्ट मान्यताएँ थीं जिनका वे बड़े अडिग भाव से पालन करते थे। सविधान का एक और अनुवाद प० सुन्दरलाल और स्वर्गीय डा० यदुवशी ने भी किया था। दोनों अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन अपने आपमें बड़ा रोचक विषय है।

इसमें सन्देह नहीं कि पारिभाषिक शब्दावली के सम्बन्ध में डा० रघुवीर के

सिद्धात मूलत मान्य और प्रामाणिक होने पर भी उनकी भाषा शैली और वाक्य-रचना हिन्दी की प्रकृति के प्रतिकूल ही पडती है। यह ठीक है कि विधि साहित्य मे अथगत परिशुद्धता तथा अवितथता का बडा मूल्य है किन्तु यह भी स्मरणीय है कि भाषा की प्रकृति की हत्या अनुवादक की सबसे बडी असफलता है। दूसरी ओर प० सुन्दरलाल और डा० यदुवशी के अनुवाद की कमी है उसकी पारिभाषिक शब्दावली म मूलभूत एकरूपता का अभाव और सरलता की वदी पर यथातथ्यता का उत्सग। वस्तुत आवश्यकता इस बात की है कि विधि साहित्य म हम अवितथता और यथातथ्यता की रक्षा करते हुए भाषा की प्रकृति को भी अक्षुण्ण बनाये रखें।

विधि-साहित्य का वर्गीकरण हम दो शीषकों के अ तगत करते है एक—शुद्ध विधि साहित्य, और दो—नियम पुस्तिकाएँ आदि।

शुद्ध विधि साहित्य के अ तगत राजभाषा (विधायी) आयोग और केन्द्रीय विधि मत्रालय का तथा हिन्दी भाषी राज्यों के विधि विभागों का अब तक का काय आ जाता है। इन केन्द्रों मे अग्रेजी-अधिनियमो आदि के जो अनुवाद हुए है, उनमे डॉ० रघुवीर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। विधि शब्दावली के सम्यक प्रयोग के लिए विशिष्ट स्तर के विधि ज्ञान की अपेक्षा होती है अ यथा अथ का अनथ हो जाने की सम्भावना सदा ही रहती है और इस क्षेत्र मे वह सचमुच बहुत महँगा पड सकता है। किन्तु यह कह दिया जाय कि यदि इन अधिनियमों के हिन्दी रूपान्तर मे हिन्दी की प्रकृति का उत्सग हो गया तो उससे हिन्दी का तो अहित होगा ही, अथ के अनथ की सम्भावना भी और अधिक हो सकती है। खेद के साथ कहना पडता है कि विधि मत्रालय के अधिकाश अनुवादों मे हिन्दी की प्रकृति का आधारभूत अज्ञान परिलक्षित होता है। शब्दावली की दृष्टि से एक और तथ्य भी चिन्ता का विषय है—शिक्षा मत्रालय की विधि शब्दावली और विधि मत्रालय तथा राजभाषा (विधायी) आयोग की शब्दावली परस्पर भिन्न है। केन्द्र मे ही जब इस प्रकार के द्विविध और विभिन्न प्रयत्न दीख पडते है तो राज्यों के विधि साहित्य म शब्दावलीगत अ तर कितना सुव्यक्त होगा—सहज ही अनुमान किया जा सकता है, और दुभाग्य से यह अनुमान सत्य है।

भारत सरकार के विधि मन्त्रालय ने अब तक प्राय १०० केन्द्रीय विधियों के हिन्दी अनुवाद किये है और उन्हें द्विभाषीय (हिन्दी अग्रेजी) सस्करणों म प्रकाशित किया है। कुछ महत्त्वपूण विधियों का उल्लेख कर देना अप्रासगिक न होगा।

भारत का सविधान, निर्वाचन विधि निर्देशिका, पुलिस अधिनियम, धम-परिवत्तक विवाह भग अधिनियम, मुद्रण यन्त्र तथा पुस्तक रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, सम्पत्ति हस्तान्तरण अधिनियम, भारतीय रेल अधिनियम, भारतीय राजकीय भेद अधिनियम, कमचारी राज्य बीमा अधिनियम, न्यूनतम मजूरी अधिनियम, चलचित्र अधिनियम, अस्पश्यता (अपराध) अधिनियम, नागरिकता अधिनियम, हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम आदि।

केन्द्रीय विधियो की अटपटी, जटिल और अतिशय कृत्रिम भाषा का एक नमूना देने के लोभ का मैं सवरण नही कर पा रहा

"उपयुक्त प्रकार का कोई व्यक्ति तब तक पदच्युत नही किया जायगा अथवा पद से नही हटाया जायगा अथवा पक्तिच्युत नही किया जायगा जब तक ऐसी जाच जिसमे उसे अपने खिलाफ दोषारोपो से अवगत करा दिया गया है और उन दोषारोपो के सम्बन्ध मे सुनवाई का युक्तियुक्त अवसर दिया गया है नही कर ली जाती और वहा ऐसी जाँच के पश्चात उस पर ऐसी शास्ति आरोपित करना प्रस्थापित है वहा जब तक उसे प्रस्तावित शास्ति की बाबत अभिवेदन, किन्तु ऐसी जाच के दौरान दिये गये साक्ष्य के ही आधार पर, करने का युक्तियुक्त अवसर नही दे दिया जाता।" —(भारत के सविधान का द्वितीय परिशिष्ट पृ० १० (१०)।

हिन्दी का यह स्वरूप उसके भावी अमगल की निश्चित सूचना है। कही-कही तो लगता है भाषा ऐसे लोगो के हाथ मे पड गई है जिन्हे न अपने ऊपर ही विश्वास है, न भाषा की क्षमता पर। हिन्दी राज्यो मे भी जहा विधेयक मूलत हिन्दी मे तयार किये जाने लगे है, स्थिति कोई खास अच्छी नही है। उनका मसौदा कहने को ही हिन्दी मे तयार होता है, वस्तुत उसके पीछे के सारे चिन्तन मनन का आधार अग्रेजी ही होती है। अग्रेजी के इस सवग्रासी प्रभाव का परिहार तभी हो सकेगा जब हिन्दी हमारे मानसिक अस्तित्व का अग बन जाय।

केन्द्र सरकार के शिक्षा विभाग ने कुछ नियम पुस्तिकाओ के भी अनुवाद किये हैं। इन मे 'मनुअल आफ ऑफिस प्रोसीजर' का अनुवाद सबसे महत्त्वपूण है। यहा भी यद्यपि अनुवाद की समस्याएँ न्यूनाधिक रूप मे वे ही है तथापि भाषा के स्वरूप मे वसी विकृति दष्टिगोचर नही होती और अनुवादको ने अथ की अभिव्यक्ति के साथ भाषा की प्रकृति की सवथा उपेक्षा नही की है।

जहा तक एल एल बी, एल एल एम विधि पाठ्यक्रमो का प्रश्न है, चूकि

इस बात की व्यवस्था की थी कि देश की समस्त भाषाओं में और सब प्रदेशों में एक ही प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग शिक्षा, शासन, न्याय, विधान आदि के क्षेत्रों में किया जाय ताकि हमारे देश की भाषिक अनेकरूपता में भी एक मौलिक एकरूपता की स्थापना हो सके—वैसे ही जैसे अनेकता में एकता इस देश के सांस्कृतिक वैभव का मूल मंत्र है। किन्तु दुर्भाग्यवश व्यवहार में अभी तक यह एकरूपता सम्भव नहीं हो सकी। हिन्दी में अभी तक विज्ञान अथवा समाज विज्ञान विषयक जो ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं उनमें पारिभाषिक शब्दावली के धरातल पर बड़ी अराजकता और अनेकरूपता दृष्टिगोचर होती है। एक ही विषय के ग्रंथों में एकाधिक प्रकार की शब्दावली और एक ही ग्रंथ में एक ही पारिभाषिक शब्द के लिए स्थान पर एक और दूसरे स्थान पर दूसरा पर्याय मिल जाना कोई कठिन बात नहीं है। शिक्षा मंत्रालय (केंद्रीय हिन्दी निदेशालय) ने जो 'पारिभाषिक शब्द संग्रह' प्रकाशित किया है, उसकी शब्दावली को सभी अनुवादक नहीं अपनाते, अनेक स्थानों पर अनुवादक की व्यक्तिगत रुचि विरुचि के कारण जो पर्याय अच्छा नहीं लगता, उसे वह यदृच्छया बदल डालता है। इस अनेकरूपता का उत्तरदायित्व कुछ सीमा तक स्वयं शिक्षा मंत्रालय पर भी है—एक तो उक्त संग्रह अपने आपमें अपूर्ण है अर्थात् स्नातक स्तर तक सभी विषय उसमें सन्निहित नहीं। जो विषय अन्तर्भुक्त हैं उनकी शब्दावली के भी ऐसे शब्द छोड़ दिए गए हैं जिनका पर्याय निर्धारण कठिन पड़ा हो अथवा जिनके सम्बन्ध में विद्वान् शब्द निर्माता यह निर्णय न कर पाए हों कि उन्हें यथावत् अंग्रेजी से ग्रहण कर लेना चाहिए या उनका अनुवाद किया जाना चाहिए। दूसरी प्रवृत्ति जो इस संग्रह में दृष्टिगोचर होती है वह है दो अथवा दो से भी अधिक पर्याय देने की। जहां एक अंग्रेजी शब्द का प्रयोग एक से अधिक अर्थों में होता हो, वहां तो उसकी अनेकार्थकता के संदर्भ में एक से अधिक पर्याय देना समीचीन हो सकता है किंतु जहां एक शब्द का एक ही अर्थ हो वहां एक से अधिक पर्याय निर्धारित करना अव्यवस्था की सम्भावना को जन्म देना है। पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में इस प्रकार की अव्यवस्था का अवकाश रहे तो इससे शास्त्रीय भाषा की प्रकृति पर आघात होता है। मैं तो यहां तक कहूंगा कि यह मूलभूत सिद्धांत भी अवैज्ञानिक है कि मूल अंग्रेजी शब्द भी पर्याय के रूप में ग्रहण कर लिया जाय और साथ ही उसका एक हिन्दी पर्याय भी निर्धारण किया जाये। इससे अनुवादक को यह छूट मिल जायगी कि वह मूल शब्द का प्रयोग करे या हिन्दी पर्याय का और यह अनुवादक की व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर होगा—फलतः

ज्ञान विज्ञान के साहित्य में पारिभाषिक शब्दावलीगत अनेकरूपता आयगी और अव्यवस्था फैलेगी। इस समय पारिभाषिक शब्दावली के क्षेत्र में ऐसी ही अव्यवस्था है। एक ही विषय के दो ग्रंथ उठाकर देखें तो किसी में एक शब्द के लिए एक पर्याय का और दूसरे में दूसरे पर्याय का प्रयोग मिलेगा। यहां एक कठिनाई और भी यह है कि यदि किसी मानक ग्रंथ के अनुवाद में एक बार एक विशिष्ट शब्दावली का प्रयोग हो गया तो उसका निरसन प्रायः असम्भव हो जाता है। जिन ग्रंथों का अनुवाद अधिकार किसी गैर सरकारी संस्था को मिल चुका हो, उनका अनुवाद न तो फिर किसी सरकारी अथवा अर्धसरकारी संस्था को मिल सकता है और न बहुत समय तक उसमें प्रयुक्त शब्दावली के संशोधन का अवसर आ सकता है। अगर कभी सौभाग्य से उसका पुनर्मुद्रण हो तो भी यह प्रकाशक की इच्छा पर है कि वह शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का प्रयोग करे या न करे। इस प्रकार पारिभाषिक शब्दावली के वैविध्य की प्रवृत्ति ज्ञान विज्ञान के साहित्य में बड़े पैमाने पर परिलक्षित होती है और यह इस प्रकार के साहित्य के लिए विशेष रूप से बहुत घातक प्रवृत्ति है। एक ही पाठक यदि एक विषय के चार ग्रंथ पढ़ने चले तो उसे पहले चार प्रकार के विभिन्न शब्दों से परिचय प्राप्त करना होगा।

दूसरी प्रवृत्ति का सम्बन्ध शास्त्रीय वाङ्मय की भाषा शैली से है। भाषा शैली सदैव विषय, लेखक और पाठक सापेक्ष होती है। विषय की दुरूहता एवं सुबोधता के अनुरूप भाषा शैली का स्तर भी उठता घटता रहता है। स्पष्ट है वैज्ञानिक वाङ्मय का पाठक विज्ञान का अध्येता ही होगा, अतः उसके विषय से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग तो उसमें अनिवार्यतः होगा ही उसमें उसे कोई मौलिक कठिनाई नहीं होगी। पर इतना कह चुकने के बाद निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार के साहित्य में भाषा शैली ज्ञान के संप्रसार की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाली जानी चाहिए—उसे साहित्यिक भाषा शैली के लालित्य, सौष्ठव और अर्थ व्यंजकता से अनुप्राणित करने का प्रयत्न करना न केवल अनपेक्षित अनावश्यक है वरन् शक्ति का अपव्यय भी है और मूल वक्तव्य कम से विमुखता भी। किन्तु हिन्दी में जो वैज्ञानिक वाङ्मय प्रकाशित हो रहा है, उसकी यह एक बड़ी मुखर प्रवृत्ति है कि उसमें भाषा शैली प्रायः दुरूह और संस्कृतारूढ़ होती है। वस्तुतः इसमें अनुवादक का हीनता बोध प्रायः परिलक्षित होता है। भाषा के सम्यक् ज्ञान के अपने अभाव को छिपा लेने की भावना उसमें इतनी प्रबल होती है कि वह हिन्दी भाषा की प्रकृति को संस्कृत के बोझ से दबा देने में दत्तचित्त

जाता है। उसके द्वारा प्रयुक्त साधारण शब्द, शब्द समुच्चय और अभिव्यजनाएँ जिस साँचे मे ढलती हैं वह निश्चय ही हिन्दी का साचा नही होता। इस प्रकार के वाड्मय का उद्देश्य पाठक को भाषा की शक्तियो सूक्ष्मताओ से अवगत करना नही होना बल्कि तथ्यो, शोध परिणामो आदि का परिचय कराना होता है और यदि मूल उद्देश्य जाने-अनजाने गौण उद्देश्य की वेदी पर बलि हो जाय तो लेखक अनुवादक की इससे बडी असफलता और कोई नही हो सकती।

इसीके अन्तर्गत तीसरी भाषागत प्रवृत्ति का सम्बन्ध वाक्य रचना से है। अनुवाद मे प्राय यह देखा जाता है कि मूल ग्रन्थ की भाषा मे जिस प्रकार की वाक्य रचना होती है, उसी रूप मे अनुवादक अपने अनुवाद की भाषा को ढालने का प्रयत्न करता है और ऐसे अवसरो पर वह अपनी भाषा की प्रकृति को भी भूल बैठता है। अत आज का जितना वैज्ञानिक वाड्मय हमारे सामने है उसमे से अधिकाश की भाषा मे वाक्य रचना प्राय सदोष ही मिलती है। अनुवाद बडा दुष्कर कार्य है। उसके लिए विषय का सम्यक ज्ञान जितना आवश्यक है उतनी ही आवश्यकता मूल और अनुवाद की भाषाओ के गहन ज्ञान की होती है। इसके अभाव मे अनेक स्थलो पर तो ऐसा भी होता है कि असमर्थ अभिव्यक्ति अर्थ को विकृत कर देती है—यहा तक कि मूल से सर्वथा भिन्न अर्थ अनुवाद मे प्रकट होता है। अनुवादक के विषय-ज्ञान तथा मूल की भाषा की समझ की पाठक के निकट एक ही कसौटी होती है—अवितथ सन्तुलित अभिव्यक्ति उसके अभाव मे दोनो की सार्थकता नही रह जाती। और इस मार्ग की सबसे बडी बाधा अनुवादक के लिए यही होती है कि वह वाक्य रचना के धरातल पर भटक जाता है। उसकी समझ मे नही आता कि अपनी अभिव्यक्ति मे वाक्य को कैसे आरम्भ करे, गर्भित वाक्य-खण्डो को बीच मे कहा और कैसे खपाये और वाक्य का अन्त कैसे करे। फलत हिन्दी मे जितना वैज्ञानिक वाड्मय है, उसकी भाषा सदोष वाक्य रचना के कारण बडी अजीब और अटपटी लगती है। अनेक वाक्यो का अर्थ स्पष्ट नही होता और वे न तो विषय के विद्वान् की समझ मे आते है न भाषा के पण्डित की। आज हमारे यहा अनुवाद जिस गति से हो रहे हैं उन्हे देखते हुए इस बात का बडा भय है कि कही धीरे धीरे अनधिकारियो के हाथ मे पडकर भाषा का स्वरूप इतना विकृत न हो जाय कि वह भाषाविज्ञो को ही अपरिचित सी लगने लगे। इस दृष्टि से, मैं समझता हूँ कि ज्ञान के साहित्य की समृद्धि मे अनुवादक की जो विशिष्ट भूमिका है उसका यदि उसने सम्यक निर्वाह न किया तो वह विज्ञान का

भी अहित करेगा और [illegible] तो करेगा ही। और मूल के अथ का सम्यक बोध करके उसे [illegible] भाषा के साँचे म ढालने के लिए साधारण अभ्यास और सिद्धि के अपेक्षा नही हाती—बडी सधी हुई कलम की आवश्यकता होती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर मेरा पहला निष्कष यह है कि हिन्दी मे ज्ञानात्मक साहित्य का अभाव तो अवश्य है किंतु इस अभाव का कारण किसी भी तरह भाषा की असमथता अथवा अक्षमता नहीं है। सत्य तो यह है कि विगत सत्रह अठारह वष म हि दी मे ज्ञानात्मक साहित्य का निमाण जिस गुणोत्तर श्रेणी म बढा है, उससे यह आशा बँधती हे कि शीघ्र ही हमारी भाषा इस दष्टि से अ य समद्ध भाषाआ के समकक्ष आ जायगी—आवश्यकता अगर है तो इस बात की कि इस दिशा मे जो प्रयत्न हो रहे है, वे सगठित समन्वित हा ताकि हर कदम जो उठे हम आगे ही ले जाय, पीछे नही।

वस्तुत ज्ञानात्मक साहित्य के अभाव के अनक ऐतिहासिक राजनीतिक कारण रह हैं। किसी भी देश मे वज्ञानिक साहित्य के परिवतन का सीधा सम्ब ध शिक्षा के माध्यम से होता है। जिस देश का वज्ञानिक अपनी भाषा मे शिक्षा ग्रहण नही करता, अपनी भाषा मे बोलता सोचता नही—वह विज्ञान की भी बहुत समद्धि नही कर सकता, अपनी भाषा के वाङ् मय की तो बिलकुल भी नही कर सकता। आधुनिक जगत की प्रमुख विशेषता है शुद्ध और अनुप्रयुक्त विज्ञानो का पोषण परिवधन और देश के द्रुत विकास के लिए वज्ञानिक विचारा की गतिमत्ता आवश्यक है। और इसी शृखला मे आग सोचें तो वज्ञानिक विचारा को गतिमान बनाने के लिए भाषा की महत्ता अतक्य है। अत ज्ञान विज्ञान की शिक्षा के रूप मे भाषा की भूमिका अत्यत महत्वपूण होती है और रही है। और हमारे यहा राजनीतिक कुचक्रो के कारण शिक्षा की व्यवस्था मे अधिकाशत अंग्रेजी ही माध्यम बनी रही और चूकि शिक्षा के माध्यम के रूप म हि दी का प्रयोग नहीं हुआ, अत विचार और विज्ञान म, प्रशासन के उच्चतर क्षेत्रा म, न्यायालया म, विधान मडला म और अखिल भारतीय सावजनिक जीवन म भी नही हुआ। फलत हमार यहा हि दी के—और उसीकी भाति अ य भारतीय भाषाआ के—शास्त्रीय स्वरूप का विकास नहीं हुआ, उसम वे अभिव्यजनाएँ नही आइं, पारिभाषिक शब्दावली का विकास नही हुआ और जीवन के उन पक्षा से सम्बं धित साहित्य

भी नहीं आया।

आधुनिक जगत् का रूप उत्तरोत्तर ऐसे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभावों से बदल रहा है जो व्यक्ति एवं वस्तुओं पर विज्ञान ने डाला है और डाल जा रहा है। विज्ञान बड़ा सशक्त एकान्वयकारी और सांस्कृतिक प्रभाव डालता है—इसका कारण यह है कि वह जिन सिद्धान्तों-सत्यों का अन्वेषण एवं उद्घाटन करने का प्रयत्न करता है, वे सार्वभौम होते हैं। विज्ञान के उन्नयन में साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय एवं विचारपरक सीमाएँ टूटती हैं। किंतु चिंतन—वैज्ञानिक चिंतन—एवं सम्प्रेषण तथा भाषा का सम्बन्ध भी अविच्छेद्य है। यह वस्तुतः एक विषम चक्र है जिसमें हमारी भाषाएँ जकड़ी रही हैं—वैज्ञानिक जीवन के धरातल पर हमारे पिछड़ेपन के कारण हमारी भाषाओं के शास्त्रीय रूप की समृद्धि नहीं हुई और, कोई मान या न माने भाषाओं की उपेक्षा के कारण हमारे यहाँ विज्ञान की न तो अभीष्ट समृद्धि हुई, न प्रसार।

मेरा दूसरा निष्कर्ष यह है कि ज्ञानात्मक साहित्य का अभाव सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में उतना नहीं, जितना प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में है। सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में तो फिर भी स्नातक स्तर तक की बहुत पुस्तकें मिल जाती हैं, कुछ स्नातकोत्तर स्तर की भी मिल जाती हैं और कुछ ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं जिनमें वरिष्ठ विद्वानों का मौलिक चिंतन परिलक्षित होता है। किंतु प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में स्थिति ऐसी नहीं। इस क्षेत्र के कम ही विद्वान ऐसे हैं जिन्होंने अपनी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य की आवश्यकता की ओर ध्यान दिया हो। एक बात और भी है। हमारे यहाँ वैज्ञानिकों में एक दो ही ऐसे होंगे जिन्हें विश्व विभूति के रूप में स्वीकार किया गया हो और प्रथम श्रेणी के इन एक-दो तथा द्वितीय श्रेणी के बीसियों भारतीय वैज्ञानिकों के बीच बहुत ही चौड़ी खाई है। कम ही विद्वान् हमारे यहाँ के ऐसे हैं जिनके कृतित्व को सार्वभौम धरातल पर स्वीकृति मिली हो। हमारे यहाँ के वैज्ञानिक अपनी भाषा में क्या, अंग्रेजी में भी नहीं लिखते—लेखन की वैसी परम्परा ही हमारे यहाँ स्थापित नहीं हुई। इसका कारण यह है कि पाठ्य ग्रंथों के लेखन को छोड़ दें तो अन्य गम्भीर कृतियों का मूल्यांकन इस क्षेत्र में विश्व कृतित्व के स्तर पर किया जाता है—इसलिए 'रुस्तमे-जमाओं' के इस अखाड़े में उतरने की आसानी से किसी की हिम्मत नहीं पड़ती। सामाजिक विज्ञानों में भी इस दृष्टि से हम पायेंगे कि भारतीय इतिहास, भारतीय राजनीति, भारतीय दर्शन आदि के क्षेत्र में जो ग्रंथ हैं वे ही एक विशेष स्तर का

स्पर्श करते हैं, अन्यों को हम साधारण कृतित्व के अंतर्गत ही रखेंगे। स्पष्टतः शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में हम भारतीय भौतिकी, भारतीय प्राणिविज्ञान आदि जैसे विभाजन नहीं कर सकते। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में गम्भीर एवं उच्चतर कृतित्व का मूल्यांकन अनिवार्यतः एक अधिक व्यापक कसौटी पर होना है, क्योंकि उसका क्षेत्र अधिक व्यापक होता है और उसके निष्कर्ष अधिक सार्वभौम होते हैं। निम्नतर स्तर पर प्राकृतिक विज्ञानों में साहित्य के अपेक्षाकृत अधिक अभाव का कारण है प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञानों में शिक्षा परीक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी की सापेक्षिक स्थिति।

मेरा तीसरा निष्कर्ष यह है कि चाहे प्राकृतिक विज्ञान हो, चाहे सामाजिक विज्ञान दोनों ही क्षेत्रों में प्रायः पाठ्य पुस्तकों का प्रणयन ही विशेष रूप से हुआ है—पाठ्य पुस्तकीय स्तर से उच्चतर स्तर के न तो प्रायः अनुवाद हुए हैं, न मौलिक लेखन। इस प्रसंग में एक सम्पूर्ण स्थिति का विश्लेषण अपेक्षित है।

वस्तुतः जहां एक ओर पारिभाषिक शब्दावली तथा शास्त्रीय भाषा की अपरिपक्वता एवं अभाव ज्ञानात्मक साहित्य के अभाव का मूलवर्ती कारण रहा है, वहीं दूसरी ओर उसके कुछ बहिरंग कारण भी रहे हैं। साहित्य के भवन की तीन आधार शिलाएँ होती हैं—लेखक, पाठक एवं प्रकाशक। इनमें अंतिम दो आवश्यात्मक चिन्तना में प्रथम की तुलना में भले ही कम महत्त्वपूर्ण हों किन्तु युगीन यथार्थ के संदर्भ में उनका महत्त्व किसी भी तरह कम नहीं। लेखक आत्मपरक भावना में लीन होकर अपने-आपको चाहे कितना भी महत्त्वपूर्ण समझे किन्तु आज के व्यावसायिक युग में वस्तु स्थिति की एक ही चपेट में उसके दम्भ का प्रसाद पल भर में धूलिसात् हो जाता है। ज्ञान के साहित्य की सर्जना में शुद्ध साहित्य वाले आत्मपरिताप और सुख की अनुभूति का तो प्रश्न उस रूप में उपस्थित होता नहीं—या एक भिन्न प्रकार के सुख की उपलब्धि होती अवश्य है। किन्तु ज्ञानात्मक साहित्य के लेखक में आत्मसुख-सिद्धि की प्रेरणा वैसी नहीं होती जैसी जनहित की, वह एक प्रकार से पाठक को अपने परिवेश के प्रति सचेत करता है और चाहता है कि वैज्ञानिक शोध के परिणाम अधिकाधिक लोगों को उपलब्ध हों ताकि वे अपने जीवन में उनका अधिकाधिक लाभ उठा सकें, जीवन जगत की वास्तविकताओं को समझें सराहें। किन्तु हमारे यहाँ (ज्ञानात्मक) साहित्यकार में वैसी उदात्त प्रवृत्ति प्रायः परिलक्षित नहीं होती। वह परहितकामी उतना नहीं, यशकामी भी शायद उतना नहीं जितना अर्थकामी हो गया है। यह बहुत अप्रिय और

बट्टु सत्य है। इसका कारण यह है कि जो सचमुच हृदय से विज्ञान की साधना कर रहे हैं—और इस देश म ऐसे मनीषी अपवाद ही है—उनम कुछ तो अपने पालन पोषण की परिस्थितियो के वश और कुछ,ज्ञान की महत्ता के सम्मुख भाषा की हेयता की बद्धमूल धारणा के कारण अपनी मातभाषा के प्रति उदासीन हैं। अत वे अग्रेजी मे ही लिखना अपने लिए अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। उनकी इस प्रवत्ति का कारण यश-कामना भी हो सकता है। वे जानते है कि यदि उनके पास सचमुच कुछ देने को है तो व उस अग्रेजी के माध्यम से अधिक प्रसारित प्रचारित कर सकत ह, कि अग्रेजी का माध्यम अपनान पर उनके पाठका की सख्या कही अधिक होगी और उनका यश राष्ट्र की सीमाओ मे बँधकर नही रह जायगा वरन उन्ह अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता मिल जायगी। दुर्भाग्य की बात है कि उनकी यह धारणा बहुत अशो मे सत्य भी है। मैं समझता हू कि अपने देश के वरिष्ठ वज्ञानिका के सम्मुख यह तक प्रस्तुत किया जा सकता है कि वे आत्मशक्ति म विश्वास करते हुए अपनी ही भाषा में ऐसी वज्ञानिक गवेषणाएँ प्रस्तुत क्यो नही करते जिनका अनुवाद करना देश बिदेश के वज्ञानिका को एक अनिवायता प्रतीत हो, जिनके बिना वैज्ञानिक चिन्तन की धारा विच्छिन्न प्रतीत हो। इस राह पर चलकर, आज नही तो कल, वे विज्ञान की सेवा के साथ साथ अपनी भाषा की समृद्धि के श्रेय के भी भागी बनेंगे। वरिष्ठ वज्ञानिका के बाद जो द्वितीय श्रेणी के वज्ञानिक बच रहते हैं—और इनकी ही सख्या अधिक है—वे मूलत अथकामी होते हैं और वही उनका प्रेरणा हतु होता है। उनकी दृष्टि प्रमुखत रायल्टी पर रहती है और वे उसी प्रकार के ग्रन्थ लिखना श्रेयस्कर समझते है जिनकी पाठक का 'आवश्यकता' हो और जिनकी 'माग' हो। हिन्दी में स्वातन्त्र्योत्तर युग मे इस प्रकार के साहित्य की माग ने इस लेखकवग को आकर्षित किया है।

इस क्रम का दूसरा बिन्दु है, पाठक। पाठक की प्रवत्ति भी अपनी परिस्थितिया के कारण और विगत डेढ शताब्दी की शक्षिक परम्परा के कारण एक विशेष साचे मे ढल चुकी है। ज्ञान के साहित्य का पाठक प्रमुखत या तो उस विषय का अध्यापक होता है, या अध्येता। इन दोनो से इतर पाठका की सख्या प्राय अत्यत नगण्य होती है। इन दोना मे ही दुर्भाग्यवश 'राजपथ' ग्रहण करने की प्रेरणा बडी प्रबल होती है। लक्ष्योन्मुख अजुन की सी तत्परता से उन्ह केवल चिडिया की आख—परीक्षा फल-ही एक मात्र सत्य प्रतीत होता है। अध्यापक की स्थिति भी अपन विद्यार्थी से भिन्न नही होती—उसकी कायनिष्ठा भी इसी आधार पर परखी

और पाठक दोनो के लिए अधिक स्वीकाय होते हैं। प्रकाशक के लिए उसमे व्याव सायिक सुरक्षा का आश्वासन रहता है, पाठक के लिए परीक्षा मे सफलता का। किन्तु अनुवादो के बल पर किसी भी भाषा का ज्ञानात्मक साहित्य प्रथम श्रेणी मे परिगणित नही हो सकता। किसी भाषा म केवल अनूदित साहित्य का होना या तो उस भाषा भाषिया मे चिन्तनपरक मौलिकता के अभाव का द्योतक होता है या अभिव्यजना की अशक्तता का। अनुवादो का उद्देश्य जहा एक ओर एक भाषा म निहित ज्ञान को दूसरी भाषा म सप्रेषित करना है, वही दूसरी ओर मौलिक लेखन को परोक्षत प्रेरणा दना भी है। वस्तुत ज्ञाना मक साहित्य के प्रश्न को जब तक राष्ट्रीयता एव राष्ट्रीय भाषाओ के प्रश्न के साथ सम्बद्ध करके नही दखा जायगा, तब तक उसकी अभीप्ट अभिवद्धि नही हो सकेगी।

प्रस्तुत सर्वेक्षण अपनी तरह का सवप्रथम सर्वेक्षण है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारा ने अपना विवेचन शुद्ध साहित्य रूपा तक सीमित रखा है और ज्ञानात्मक साहित्य को सदा उसकी परिधि से बहिष्कृत किया है। ऐसी स्थिति मे यह सम्भव है कि कुछ वरेण्य ग्रथो का उल्लेख होने से रह गया हो। या सभी ग्रथा का उल्लेख करने का प्रयत्न भी मैंने नही किया है, प्रयत्न केवल यह है कि प्रत्येक विषय मे जो काय अब तक हुआ है, उसका सामान्य आकलन हो सके और कुछ ज्वलन्त अभाव हमारे सामने आयें जिससे कि विषयविज्ञ जन दिशाओ मे सक्रिय होने का प्रयत्न करें।

उपयुक्त विवेचन से यह स्थापना तो पुप्ट होती ही है कि हिन्दी म ज्ञानात्मक साहित्य के निर्माण की दिशा म जो काय अब तक हुआ है वह सवथा अपर्याप्त और अत्यन्त अव्यवस्थित है। ज्ञानात्मक साहित्य के निर्माण का प्रश्न किसी भी देश के राजनीतिक सामाजिक और बौद्धिक उत्कप अपकप के साथ जुडा हुआ होता है। उत्कप की अभिव्यक्ति चिन्तन के क्षेत्र म होती ह और चिन्तन सहज वाणी का आश्रय लेकर प्रकट होता है। इतिहास साक्षी है कि ससार के विभिन्न देशा में ज्ञानात्मक साहित्य की रचना गति उनके राजनीतिक सामाजिक उत्कप से सम्बद्ध रही है। यही कारण है कि हमारे यहा स्वतन्त्रता से पूव के युग मे इस प्रकार के साहित्य की रचना प्राय नही हुई। स्वतत्रता के बाद जहा देश न हर दिशा से कदम बढाये वहा वैज्ञानिक उन्नति और देशीय भाषाओ की प्रगति का प्रश्न भी महत्त्वपूणहो उठा है।

